श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प ८६

—* सर्वज्ञवीतरागाय नमः *—

श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

श्री

समयसार

मूल गाथा, संस्कृत छाया, हिन्दी पद्यानुवाद,
श्री अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित संस्कृत टीका और उसके
गुजराती अनुवादके हिन्दी अनुवाद सहित

*

गुजराती टीकाकार:—
श्री हिमतलाल जेठालाल शाह, बी. एस सी.
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

*

हिन्दी अनुवादक:—
श्री पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ
ललितपुर (झांसी)

*

प्रकाशक:—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति श्री पाटनी दि० जैन ग्रन्थ   मा, १०.
द्वितीयावृत्ति श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल, बम्बई द्वारा
तृतीयावृत्ति श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

इस ग्रन्थ में साइज ३०×४०=७० पौंड आफसेट कागज के ६२
फार्म ८१   पृष्ठ ६५०

* आभार *

इस शास्त्र की लागत मात्र कीमत लगभग ८.७५ न० पै० होती है. विशेष संख्या में धर्म जिज्ञासु समाज इस शास्त्र का लाभ ले सकें इस हेतु से शास्त्र का मूल्य कम करने के लिये निम्न प्रकार रकम ज्ञान प्रचार में आई है.

४००१) श्री दीपचन्दजी सेठिया तथा उनके पिताजी नारायणजी के परिवार
(सरदार शहर-राजस्थान)
२००१) स्व० श्री नानालाल कालीदास जसाणी के परिवार की ओर
(राजकोट-सौराष्ट्र)
१००१) श्री प्रेमकुँवर जेठाभाई ट्रस्ट, पोरबंदर (सौराष्ट्र)
(ह० श्री रामजी भाई वकील)
३००) पं० इन्द्रचन्द्रजी लोल्हा (रामगढ़-राजस्थान)
१०१) श्री दीपचन्दजी वनाजी (सायला-राजस्थान)
७४०४)

उपरोक्त उदार सहायता के लिये आभार

तृतीयावृत्ति २२०० } फरवरी १९६४ वी० नि० सं० २४९० } मूल्य

मुद्रक—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

जिन्होंने इस पामर पर अपार उपकार किया है, जिनकी
प्रेरणा से समयसार का यह अनुवाद तैयार हुआ है,
जो द्रव्य और भावसे समयसार की महा
प्रभावना कर रहे हैं, समयसार में प्ररूपित
निश्चय–व्यवहार की संधिपूर्वक जिनका
जीवन है, उन परम पूज्य परम
उपकारी सद्गुरुदेव (श्री कानजी
स्वामी) को यह अनुवाद-पुष्प
अत्यन्त भक्ति भाव से
अर्पण करता
हूँ ।

—हिम्मतलाल जे० शाह

जिनजीकी वाणी

सीमंधर मुखसे फुलवा खिरें।
जीकी कुन्दकुन्द गूंथे माल रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।

वाणी प्रभू मन लागे भली,
जिसमें सार-समय शिरताज रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।......सीमंधर०

गूंथा पाहुड़ अरु गूंथा पंचास्ति,
गूंथा जो प्रवचनसार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।

गूंथा नियमसार, गूंथा रयणसार,
गूंथा समयका सार रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।......सीमंधर०

स्याद्वादरूपी सुगंधी भरा जो,
जिनजी का ओंकारनाद रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।

वंदूं जिनेश्वर, वंदूं मैं कुन्दकुन्द,
वंदूं यह ओंकारनाद रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।......सीमंधर०

हृदय रहो मेरे भावों रहो,
मेरे ध्यान रहो जिनवाण रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।

जिनेश्वरदेवकी वाणीकी गूंज,
मेरे गुंजती रहो दिन रात रे,
जिनजीकी वाणी भली रे।......सीमंधर०

प्रथमावृत्ति के प्रकाशकीय निवेदन में से

✱

× × × × ×

हम सब मुमुक्षुओं का महा भाग्य है जो ऐसा महान ग्रन्थराज आज प्राप्त हो रहा है अतः उन महान् महान् उपकारी श्री कुन्दकुन्दाचार्य का हमारे बड़ा भारी उपकार है, श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य का भी परम उपकार है जो उन्होंने में भरे हुवे मूल भावों का दोहन करके उनके भावों को टीकारूप स्पष्ट प्रकाशित दिया है और उनपर कलश काव्यरूप रचना भी की है, वर्तमान में तो उनसे भी उपकार हमारे ऊपर तो पू० कानजी स्वामी का है कि जिनने अगर पूज्य अमृतचन्द्राचार्य की टीका को इतना विस्तृत और स्पष्ट करके नहीं समझाया होता तो इस ग्रन्थाधिराज के मर्म को समझ सकने का भी महा सौभाग्य हम सबको कैसे प्राप्त होता ? अभी से २००० वर्ष पूर्व भगवान श्री कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रचित उन सूत्ररूप पर गाथाओं के गुप्त भावोंको प्रकाशमें ला देनेवाली आत्मख्याति नामकी टीका की रचना हुई और आज उस रचनाके १००० वर्ष उपरान्त ही पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा उस टीका पर विस्तृत विशद व्याख्या हो रही है यह सब परम्परा इस द्योतक है कि जैसे २ जीवों की बुद्धि न्यून होती जा रही है वैसे ही वैसे अत्यन्त को यथार्थ तत्त्व समझने योग्य स्पष्टता होती चली जा रही है। यह वर्तमान प्राप्त हो रहा है प्रवचन आगामी १००० वर्ष तक, पात्र जीवोंकी परम्परा जिज्ञासु पात्र जीवोंके म द्वारा यथार्थता, आत्मकल्याण करनेका निश्चय पूर्वक कारण होंगे।

इस ग्रंथराज की रचना के सम्बन्ध में, ग्रन्थ के भाषामें अनुवाद करने का कारण एवं अनुवाद में कौन लिया गया आदि अनेक विषयों को श्री हिंमतलाल रीतिसे स्पष्ट किया है वह पाठकों को जरूर पढ़ने

इस समयसार के गुजराती भाषामें अनु छन्द की रचना करनेवाले तथा हिन्दी ह गये हैं उनका संपूर्णतया संशोधन करनेवाले उनकी प्रशंसा जितनी भी की जावे कम है, माणेकचन्द जी दोशी प्रमुख श्री दि० जैन स्व प्रशंसा की है:—

ने संपूर्ण सहयोग दिया है तथा मदनगंज-किशनगढ़) ने उत्तम र मानते हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है ास कर त्रैकालिक पूर्ण र्णय और प्रयत्न करें।

खीमचन्द जेठालाल शेठ
जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट अन्तर्गत प्रकाशक
श्री साहित्य प्रचार विभाग कमेटी
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

"भाई श्री हिंमतलाल भाई, अध्यात्म रसिक, शांत, विवेकी, गम्भीर वैराग्यशाली सज्जन हैं इसके अलावा उच्च शिक्षा प्राप्त और संस्कृत में प्रवीण हैं। धिराज श्री समयसार जी, प्रवचनसार, नियमसार तथा पंचास्तिकायका गुजराती वाद भी उन्होंने ही किया है इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्द भगवान के सर्वोत्कृष्ट शास्त्रों के अनुवाद करने का परम सौभाग्य उन्हीं को मिला है इसलिए वे यथार्थ धन्यवाद के पात्र हैं।

समयसार गुजराती टीका परसे हिन्दी अनुवाद करनेका कार्य भी कठिन साध्य था उसको पूरा करनेवाले श्री पं. परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवाद के पात्र हैं

इस अनुवादके तैयार हो जाने पर इसको अक्षरशः मिलान करके जांचने का और भी कठिन था, उसमें अपना अमूल्य समय देनेवाले श्रीयुत माननीय भाई श्री रामजी भाई माणेकचन्द दोशी, श्रीयुत भाई श्री खेमचन्द भाई, श्री ब्र. चन्दू भाई, ब्र. अमृतलाल भाई, श्री ब्र. गुलाबचन्द भाई को बहुत २ धन्यवाद है।

इसकी गाथाओं पर हिन्दी छन्द रचना करनेका मुझे अवसर मिला, यह मेरा सौभाग्य है। इस रचना के समय गाथा के भाव; पूर्ण रीत्या छन्द में आजावे इसी ही का मुख्य उद्देश्य रक्खा गया है। छन्द रचनाकी दृष्टि गौण रक्खी गई अतः इस ी कमीके लिये पाठक क्षमा करें।

अन्तमें परम उपकारी अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामी के प्रति कृतज्ञता है कि जिनकी यथार्थ तत्त्व प्ररूपणासे अनन्त काल नहीं प्राप्त किया समझने का अवसर प्राप्त हुआ है तथा इस ओरकी रुचि जागी यह भावना है कि आपका उपदेशित हित मार्ग मेरे अन्तरमें हित मार्गसे चलने का बल मेरे में प्राप्त हो।

—नेमीचन्द पाटनी

जिन

वंदूं जिन

वंदूं वर

हृदय रहो मेरे

मेरे ध्यान रहो

जि

जिनेश्वरदेवकी वाणी

मेरे हृदयमें रहो जि

जिन

तीसरी आवृत्तिका प्रकाशकीय निवेदन

आत्मकल्याणका स्पष्ट मार्ग बतानेवाला परमागम श्री समयसारजी अद्वितीय जगतचक्षु है जिसकी महिमा अपार है। वर्तमान धर्मक्रान्ति युगमें इस श्रवण मनन और निदिध्यासन द्वारा सत्य समझनेका उत्साह प्रतिदिन बढता जा रहा है।

गत वर्ष वीर निर्वाण सं २४८६ के कातिक मासमें इस शास्त्रकी १५०० छपकर आई थी और बेचनेमें कंट्रोल रखनेपर भी दो मासमें सर्व प्रतियाँ बिक धर्म जिज्ञासुओंमें तत्त्वज्ञानका प्रचार कितना वृद्धिगत हो रहा है यह बात इससे होती है।

समयसारजी दैवीशास्त्र-भागवत शास्त्र है इसलिये उसका पारायण (पाठन) करना तत्त्व जिज्ञासुओंके लिये नित्य कर्तव्य है। श्री अमृतचंद्राचार्य कृत सर्वोत्तम अध्यात्म टीका है। उसमें श्री कुंदकुंदाचार्यका हार्द विशदरूपसे खोला है। अनादि मोहरूप अज्ञानके कारण जो जीव अत्यन्त अप्रतिबुद्ध हो वह भी अभिप्राय समझनेमें अत्यन्त सावधान हो जावे ऐसी अनुपम शैली है। पवित्र शान्तिदायक अपूर्व जीवन कैसे प्राप्त हो यह बात समयसार द्वारा समझनेका करनेवालोंकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जारही है यह इसका सूचक है और यही धर्म प्रभावना है।

परमोपकारी पूज्य सत्पुरुष श्रीकानजी स्वामीके इस शास्त्रके ऊपर अत्यन्त और सुबोध प्रवचन द्वारा धर्म जिज्ञासुओंको अपूर्व यथार्थ समाधान प्राप्त हो रहा है जो चीज पूर्वमें अनंत कालमें दुर्लभ थी वही चीज स्वामीजीने जिज्ञासु पात्र जीवोंके सुगम-सुलभ कर दी है। जो मध्यस्थ होकर प्रत्यक्ष समागम द्वारा यथार्थता, और वीतरागता ग्रहण करनेका प्रयत्न करेगा उसके लिये आत्मकल्याण करनेका उत्तम अवसर है।

इस ग्रंथप्रकाशनमें ब्र० श्री गुलाबचंद भाईने संपूर्ण सहयोग दिया है तथा नेमिचंदजी बाकलीवाल (मालिक—कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज-किशनगढ़) ने उत्तम छाप दिया है, उसके लिये हम आप सबका आभार मानते हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है इस शास्त्रका नयविभाग द्वारा सुचारुरूपसे अभ्यास कर, त्रैकालिक पूर्ण निजात्माके आश्रयसे ही शुद्धताकी प्राप्तिका निर्णय और प्रयत्न करें।

श्री वीर निर्वाण
सं० २४९०

खीमचन्द जेठालाल शेठ
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट अन्तर्गत प्रकाशक
श्री साहित्य प्रचार विभाग कमेटी
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

* ॐ *

—:: श्री वीतरागगुरुवे नमः ::—

उपोद्घात

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य्य देव प्रणीत यह "समयप्राभृत" अथवा 'समयसार' नामका शास्त्र 'द्वितीय श्रुतस्कंध' में का सर्वोत्कृष्ट आगम है।

द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति किस प्रकार हुई यह पहले अपन पट्टावलियोंके आधारसे संक्षेपमे देख लेवें।

आज से २४६६ वर्ष पहले इस भरत क्षेत्रकी पुण्य-भूमिमें मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान् श्री महावीर स्वामी अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुवे। वहाँ तक तो द्वादशाङ्ग शास्त्रके प्ररूपणसे व्यवहार निश्चयात्मकमोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा। तत्पश्चात् काल दोषसे क्रमक्रमसे अंगोंके ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई। इस प्रकार अपार ज्ञान-सिंधुका बहु भाग विच्छेद हो जाने के पश्चात् श्री दूसरे भद्रबाहु स्वामी आचार्य्य की परिपाटीमें दो महा समर्थ मुनि हुए, एक का नाम श्री धरसेन आचार्य्य तथा दूसरों का नाम श्री गुणधर आचार्य्य था। उनसे मिले हुए ज्ञान के द्वारा उनकी परम्परामें होने वाले आचार्यो ने शास्त्रों की रचनाएं कीं और श्री वीर भगवान के उपदेशका प्रवाह प्रवाहित रखा।

श्री धरसेन आचार्य्य को अग्रायणी पूर्वका पांचवां वस्तु अधिकार उसके महा कर्म प्रकृति नाम चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञानामृतमें से अनुक्रमसे उनके पीछेके आचार्य्यों द्वारा षट् खंडागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, आदि शास्त्रों की रचना हुई। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कधकी उत्पत्ति है। उसमे जीव और कर्मके संयोगसे हुए आत्माकी संसार-पर्यायका—गुणस्थान, मार्गणा आदि का—संक्षिप्त वर्णन है, पर्यायार्थिकनय को प्रधान करके कथन है। इस नयको अशुद्ध

द्रव्यार्थिक भी कहते हैं और अध्यात्म भाषा से अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहार कहते हैं।

श्री गुणधर आचार्यको ज्ञानप्रवाह पूर्वकी दसवीं वस्तुके तृतीय प्राभृतका ज्ञान था। उस ज्ञानमें से उनके पोछेके आचार्यो ने अनुक्रमसे सिद्धान्त रचे। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान् महावीर से प्रवाहित होता हुवा ज्ञान, आचार्यों को परम्परासे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देवको प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र रचे, इसप्रकार द्वितीय श्रुतस्कंधकी उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे कथन है। आत्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव विक्रम संवत्के प्रारम्भमें होगये हैं। दिगम्बर जैन परम्परामें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं॥

प्रत्येक दिगम्बर जैन, इस श्लोक को, शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण रूप बोलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञ भगवान् श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान् श्री गौतम स्वामी के अनन्तर.......ही भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्यका स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधुगण स्वयंको कुन्दकुन्दाचार्य्यकी परम्पराका कहलाने में गौरव मानते हैं, भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधर देवके वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके अनन्तर हुवे ग्रंथकार आचार्य्य स्वयंके किसी कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्य्य देवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं जिससे यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है, उनके पोछेके रचे हुवे ग्रन्थोंमें उनके शास्त्रोंमें से अनेकानेक अवतरण लिये हुवे हैं। यथार्थतः भगवान कुन्दकुन्दाचार्य्यने स्वयंके परमागमों में तीर्थंकर देवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको (झालवी) साध रखा है और मोक्ष-मार्गको टिका रखा है। वि० सं० ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्य्यवर अपने दर्शनसार नामके ग्रन्थमें कहते हैं कि—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥ (दर्शनसार)

"विदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुवे दिव्य ज्ञानके द्वारा श्री पद्मनंदिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्य्य देव ने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्गको कैसे जानते ?" दूसरा एक उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्य देवको कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है, "पद्मनंदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐला-

चार्य, गृध्रपिच्छाचार्य, इन पाँचों नामोंसे विराजित, चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी जिनको ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर श्री सीमंधर भगवानका वंदन किया था और जिनके पाससे मिले हुवे श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोधित किया है ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके पदके आभरणरूप कलिकाल-सर्वज्ञ (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव) उनके द्वारा रचित इस षट् प्राभृत ग्रन्थमें...... सूरीश्वर श्री श्रुतसागर द्वारा रचित मोक्ष प्राभृतकी टीका समाप्त हुई।" इस प्रकार षट् प्राभृतकी श्री श्रुतसागर सूरिकृत टीकाके अन्तमें लिखा हुआ है। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य-देवकी महत्ता बतानेवाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं। *शिलालेख भी अनेक हैं। इसप्रकार यह निर्णीत है कि सनातन जैन (दिगम्बर) संप्रदायमें कलि-काल सर्वज्ञ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान अजोड़ है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यके रचे हुवे अनेक शास्त्र हैं; उसमें से थोड़े अभी विद्यमान हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामें से जो अमृत-भाजन भर लिये गये वे वर्तमानमें भी अनेक आत्मार्थिओंको आत्म-जीवन अर्पण करते हैं, उनके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, और समयसार नामके तीन उत्तमोत्तम शास्त्र 'नाटकत्रय'

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः। कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः॥
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥

(चन्द्रगिरि पर्वतका शिलालेख)

अर्थः—कुन्दपुष्पकी प्रभाको धारण करनेवाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशाएँ विभू-षित हुई हैं, जो चारणों के-चारणऋद्धिधारी महामुनियोंके-सुन्दर हस्तकमलोंके भ्रमर थे और जिस पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं?

........................कौण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त र्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥

(विन्ध्यगिरि-शिलालेख)

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको—भूमितलको-छोड़ कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें चलते थे, उससे मैं यह समझता हूँ कि, वे अन्तरंग तथा बहिरंग रजसे (अपना) अत्यन्त अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे (-वे अन्तरङ्गमें रागादि मलसे और बाहरमें धूलसे अस्पृष्ट थे)।

अथवा 'प्राभृतत्रय' कहलाते हैं, इन तीन परमागमों में हजारों शास्त्रोंका सार आ जाता है। इन तीन परमागमोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् लिखे हुये अनेक ग्रन्थोंके बीज निहित हैं ऐसा सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करने पर मालुम होता है। पंचास्तिकाय में छह द्रव्योंका और नौ तत्त्वोंका स्वरूप संक्षेपमें कहा है। प्रवचनसारको ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इसप्रकार तीन अधिकारोंमें विभाजित किया है। समयसार में नवतत्त्वोंका शुद्ध-नयकी दृष्टिसे कथन है।

श्री समयसार अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवान्ने इस जगतके जीवों पर परम करुणा करके इस शास्त्रकी रचना की है, उसमें मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा कहा गया है, अनंतकालसे परिभ्रमण करते हुवे जीवको जो कुछ समझना बाकी रह गया है वो इस परमागममें समझाया गया है, परम कृपालु आचार्य भगवान् इस शास्त्रको प्रारम्भ करते ही स्वयं ही कहते हैं:—काम भोग बंधनकी कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है लेकिन पर से भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है, उस एकत्वको–परसे भिन्न आत्माकी—बात मैं इस शास्त्र में समस्त निज वैभवसे (आगम, युक्ति, परंपरा और अनुभवसे) कहूंगा, इस प्रतिज्ञाके अनुसार आचार्यदेव इस शास्त्रमें आत्माका एकत्व—पर द्रव्यसे और पर भावोंसे भिन्नता—समझाते हैं, वे कहते हैं कि 'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त देखते हैं वे समग्र जिन शासनको देखते हैं', और भी वे कहते हैं कि 'ऐसा नहीं देखनेवाले अज्ञानीके सर्व भाव अज्ञानमय हैं', इसप्रकार जहाँतक जीवको स्वयंकी शुद्धताका अनुभव नहीं होता वहाँतक वो मोक्षमार्गी नहीं है; भले ही वो व्रत, समिति, गुप्ति, आदि व्यवहारचारित्र पालता हो और सर्व आगम भी पढ़ चुका हो, जिसको शुद्ध आत्माका अनुभव वर्तता है वह ही सम्यग्दृष्टि है, रागादिके उदय में सम्यक्त्वी जीव कभी एकाकार रूप परिणमता नहीं है परन्तु ऐसा अनुभवता है कि 'यह पुद्गलकर्मरूप रागका विपाकरूप उदय है; ये मेरे भाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ,' यहाँ प्रश्न होगा कि रागादिभाव होते रहने पर भी आत्मा शुद्ध कैसे हो सकता है ? उत्तर में स्फटिकमणिका दृष्टान्त दिया गया है, जैसे स्फटिकमणि लाल कपड़ेके संयोगसे लाल दिखाई देती है–होती है तो भी स्फटिक मणिके स्वभावकी दृष्टिसे देखने पर स्फटिक मणिने निर्मलपना छोड़ा नहीं है, उसीप्रकार आत्मा रागादि कर्मोदयके संयोगसे रागी दिखाई देता है—होता है तो भी शुद्धनयकी दृष्टिसे उसने शुद्धता छोड़ी नहीं है। पर्याय दृष्टि से अशुद्धता वर्तते हुवे भी द्रव्य दृष्टि से शुद्धताका अनुभव हो सकता है, वह अनुभव चतुर्थ गुणस्थान में होता है, इससे वाचकके समझमें आवेगा कि सम्यग्दर्शन कितना दुष्कर है, सम्यग्दृष्टिका परिणमन ही पलट गया होता है, वह चाहे जो कार्य करते हुवे भी शुद्ध आत्माको ही अनुभवता है, जैसे लोलुपी मनुष्य नमक और शाकके स्वादका भेद नहीं कर सकता; उसी

प्रकार अज्ञानी ज्ञानका और रागका भेद नहीं कर सकता; जैसे अलुब्ध मनुष्य शाक से नमकका भिन्न स्वाद ले सकता है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि राग से ज्ञानको भिन्न ही अनुभवता है, अब यह प्रश्न होता है कि ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् राग और आत्माकी भिन्नता किस प्रकार अनुभवपूर्वक समझ में आवे ? आचार्य भगवान् उत्तर देते हैं कि—प्रज्ञारूपी छैनी से छेदते वे दोनों भिन्न हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञान से ही वस्तुके यथार्थ स्वरूप की पहचान से ही—, अनादिकाल से राग द्वेषके साथ एकाकार रूप परिणमता आत्मा भिन्नपने परिणमने लगता है; इससे अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये प्रत्येक जीवका वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहिचान करनेका प्रयत्न सदा कर्तव्य है।

इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यथार्थ आत्मस्वरूपकी पहिचान कराना है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इस शास्त्रमें आचार्य भगवानने अनेक विषयोंका निरूपण किया है। जीव और पुद्गलके निमित्त नैमित्तिकपना होनेपर भी दोनोंका अत्यन्त स्वतंत्र परिणमन, ज्ञानीके राग-द्वेषका अकर्ता अभोक्तापना, अज्ञानी को रागद्वेषका कर्ताभोक्तापना, सांख्यदर्शनकी एकान्तिकता, गुणस्थान आरोहणमें भावका और द्रव्यका निमित्त नैमित्तिकपना, विकाररूप परिणमन करनेमें अज्ञानीका स्वयंका ही दोष, मिथ्यात्वादिका जड़पना उसी प्रकार चेतनपना, पुण्य और पाप दोनोंका बंधस्वरूपपना, मोक्षमार्गमें चरणानुयोगका स्थान इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्र मे प्ररूपण किये हैं। भव्यजीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाने का इस ग्रंथका उद्देश्य है। इस शास्त्रकी महत्ता देखकर अन्तर उल्लास आजाने से श्रीमद् जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवंत वर्तें वे पद्मनंदि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्द आचार्य कि जिन्होंने महातत्त्वसे भरे हुये प्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धिरूपी सिर पर उठाकर भव्यजीवोंको समर्पित किया है'। यथार्थतया इस समयमें यह शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुःषमकालमें भी ऐसा अद्भुत अनन्य—शरणभूत शास्त्र-तीर्थंकरदेवके मुखमेंसे निकला हुआ अमृत-विद्यमान है यह अपना सबका महा सद्भाग्य है। निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी संकलनाबद्ध प्ररूपणा दूसरे कोई भी ग्रन्थमें नहीं है। परमपूज्य श्रीकानजी स्वामीके शब्दोंमें कहा जावे तो-'यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है, लाखों शास्त्रोंका सार इसमें है; जैनशासनका यह स्तंभ है; साधककी यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। चौदहपूर्वका रहस्य इसमें समाया हुआ है। इसकी हरएक गाथा छट्ठे सातवें गुणस्थानमें झूलते हुये महामुनिके आत्म अनुभवमेंसे निकली हुई है। इस शास्त्रके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्रमें सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवानके समवसरणमें गये थे और वहाँ वे आठ दिन रहे थे यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाणसिद्ध है, इसमें लेशमात्र भी शंकाके लिये स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस

समयसार में तीर्थंकरदेवकी निरक्षरी ॐकारध्वनिमेंसे निकला हुवा ही उपदेश है'।

इस शास्त्रमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओंपर आत्मख्याति नामको संस्कृत टीका लिखनेवाले (विक्रमकी दसवीं शताब्दीके लगभग होनेवाले) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार इस शास्त्र के मूलकर्ता अलौकिक पुरुष हैं उसीप्रकार उसके टीकाकार भी महासमर्थ आचार्य हैं। आत्मख्याति जैसी टीका अभीतक भी दूसरे कोई जैन ग्रंथकी नहीं लिखी गई है। इन्होंने पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार की भी टीका लिखी है और तत्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की है। उनकी एक इस आत्मख्याति टीका ही पढ़नेवालेको उनकी अध्यात्म रसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्ति और उत्तम काव्यशक्तिका पूरा ज्ञान हो जावेगा। अति संक्षेपमें गंभीर रहस्यों को भरदेनेकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित करती है। उनकी यह देवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जिसप्रकार मूलशास्त्रकर्ताने समस्त निजवैभवसे इस शास्त्रकी रचना की है उसीप्रकार टीकाकार ने भी अत्यंत होशपूर्वक सर्व निज-वैभवसे यह टीका रची है ऐसा इस टीकाके पढ़नेवालोंको स्वभावतः ही निश्चय हुये बिना नहीं रह सकता, शासनमान्य भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें जगद्गुरु तीर्थंकरदेवके जैसा काम किया है और श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवने, मानों कि वे कुंदकुंद भगवान्के हृदयमें बैठ गये हों उसप्रकारसे उनके गम्भीर आशयोंको यथार्थतया व्यक्त करके, उनके गणधरके समान कार्य किया है। इस टीकामें आनेवाले काव्य (कलश) अध्यात्मरससे और आत्मानुभवकी मस्तीसे भरपूर हैं। श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव जैसे समर्थ आचार्योंपर भी उन कलशोंने गहरी छाप डाली है और आज भी वे तत्वज्ञानसे और अध्यात्मरससे भरे हुये मधुर कलश, अध्यात्मरसिकोंके हृदयके तारको झनझना देते हैं। अध्यात्म कविरूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका जैन साहित्यमें अद्वितीय स्थान है।

समयसारमें भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेवने प्राकृत में ४१५ गाथाओंकी रचना की है। उसपर श्रीअमृतचंद्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामकी और श्री जयसेनाचार्यदेवने तात्पर्य वृत्ति नामकी संस्कृत टीका लिखी है। श्री पंडित जयचंद्रजीने मूल गाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दी में भाषांतर किया और उसमें स्वयंने थोड़ा भावार्थ भी लिखा है। वह पुस्तक 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम स० १९६४ में प्रकाशित हुई, उसके बाद उस पुस्तकको पंडित मनोहरलालजीने प्रचलित हिंदीमें परिवर्तित किया और श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथमाला द्वारा 'समयसार' के नामसे वि० सं० १९७५ में प्रकाशित हुवा, उस हिंदी ग्रन्थके आधारसे, उसीप्रकार संस्कृत टीकाके शब्दों तथा आशयसे चिपटे रहकर यह गुजराती अनुवाद तैयार किया गया है।

यह अनुवाद करनेका महाभाग्य मुझे प्राप्त हुवा यह मुझे अत्यन्त हर्षका कारण है। परमपूज्य श्री कानजी स्वामीकी छत्रछायामें इस गहन शास्त्रका अनुवाद हुवा है।

अनुवाद करने की समस्त शक्ति मुझे पूज्यपाद श्रीगुरुदेवके पाससे ही मिली है। मेरी मार्फत अनुवाद हुवा इससे 'यह अनुवाद मैंने किया है' ऐसा व्यवहारसे भले ही कहा जावे, परंतु मुझे मेरी अल्पज्ञताका पूरा ज्ञान होनेसे और अनुवादकी सर्व शक्तिका मूल पूज्य श्रीगुरुदेव ही होने से मैं तो बराबर समझता हूँ कि श्रीगुरुदेवकी अमृतवाणीका तीव्र वेग ही–उनके द्वारा मिला हुवा अनमोल उपदेश ही यथाकाल इस अनुवादरूपमें परिणमा है। जिनके बलपर ही इस अतिगहन शास्त्रके अनुवाद करनेका मैंने साहस किया था और जिनकी कृपासे ही यह निर्विघ्न पूरा हुवा है उन परम उपकारी गुरुदेव के चरणारविंदमें अति भक्तिभावसे वंदन करता हूँ।

इस अनुवादमें अनेक भाइयोंकी मदद है। भाई श्री अमृतलाल झाटकिया की इसमें सबसे ज्यादा मदद है। उन्होंने सम्पूर्ण अनुवादका अति परिश्रम करके बहुत ही सूक्ष्मतासे और उत्साहसे संशोधन किया है, बहुत सी अति–उपयोगी सूचनाएं उन्होंने बताई, संस्कृत टीकाकी हस्त लिखित प्रतियोंका मिलान कर पाठान्तरोंको ढूंढ कर दिया, शंका–स्थलोंका समाधान पण्डित जनोंसे मंगाकर दिया–आदि अनेक प्रकारसे उन्होंने जो सर्वतोमुखी सहायता की है उसके लिये मैं उनका अत्यंत आभारी हूँ। अपने विशाल शास्त्रज्ञानसे, इस अनुवादमें पड़नेवाली छोटी मोटी दिक्कतोंको दूर कर देने वाले माननीय श्री वकील रामजीभाई माणकचंद दोशीका मैं हृदय पूर्वक आभार मानता हूँ। भाषांतर करते समय जब २ कोई अर्थ बराबर नहीं बैठा तब २ मैंने पं० गणेशप्रसादजी वर्णी और पं० रामप्रसादजी शास्त्री को पत्र द्वारा (भा० अमृतलालजी द्वारा) अर्थ पुछवाने पर उन्होंने मेरेको हर समय बिना संकोचके प्रश्नोंके उत्तर दिये इसके लिये मैं उनका अंतःकरण पूर्वक आभार मानता हूँ। इसके अनंतर भी जिन २ भाइयोंकी इस अनुवादमें सहायता है उन सबका भी मैं आभारी हूँ।

यह अनुवाद भव्य जीवों को जिनदेव द्वारा प्ररूपित आत्म शांतिका यथार्थ मार्ग बतावे, यह मेरी अंतरकी भावना है, श्री अमृतचंद्राचार्यदेवके शब्दों में 'यह शास्त्र आनंदमय विज्ञानघन आत्माको प्रत्यक्ष दिखाने वाला अद्वितीय जगतचक्षु है। जो कोई उसके परम गम्भीर और सूक्ष्मभावोंको हृदयङ्गत करेगा उसको यह, जगत्चक्षु–आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन करायेगा, जबतक वे भाव यथार्थ प्रकार से हृदयङ्गत नहीं होवें तबतक रात दिन यह ही मंथन, यह ही पुरुषार्थ कर्तव्य है, श्री जयसेनाचार्य देवके शब्दोंमें समयसारके अभ्यास आदिका फल कहकर यह उपोद्घात पूर्ण करता हूँ:— 'स्वरूप रसिक पुरुषों द्वारा वर्णित इस प्राभृतका जो कोई आदरसे अभ्यास करेगा, श्रवण करेगा, पठन करेगा, प्रसिद्धि करेगा, वह पुरुष अविनाशी स्वरूपमय, अनेक प्रकारकी विचित्रतावाले, केवल एक ज्ञानात्मकभावको प्राप्त करके अग्रपदको मुक्ति ललना में लीन होगा।'

दीपोत्सव वि० सं० १९९६

—हिम्मतलाल जेठालाल शाह

अनुवादक की ओर से !

मैं इसे अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे इस युग के महान आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य का सुयोग प्राप्त हुआ, और उनके प्रवचनों को सुनने एवं उन्हें राष्ट्रभाषा-हिन्दीमें अनूदित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन अनूदित ग्रंथोंमें से 'समयसार प्रवचनादि' पहले प्रकाशित हो चुके हैं। पूज्य कानजी स्वामीके सान्निध्यमें रहकर अनेक विद्वानोंने कई आध्यात्मिक ग्रंथोंकी रचना की है, अनुवाद किये हैं और सम्पादन किया है। उन विद्वानोंमें श्री हिम्मतलाल शाह तथा श्री रामजीभाई दोशी आदि प्रमुख हैं।

उपरोक्त विद्वानों के द्वारा गुजराती भाषामें अनूदित, सम्पादित एवं लिखित अनेक ग्रंथोंका हिन्दी भाषानुवाद करनेका मुझे सुयोग मिला है, जिनमें प्रवचनसार, मोक्षशास्त्र और यह समयसार ग्रंथ भी है। अध्यात्मप्रेमी भाई श्री कुं० नेमीचन्दजी पाटनी की प्रेरणा इस सुकार्यमें विशेष साधक सिद्ध हुई है। प्रत्येक गाथा का गुजराती से हिन्दी पद्यानुवाद उन्हींने किया है। मैंने गुजराती अन्वयार्थ, टीका और भावार्थ का भाषानुवाद किया है। यद्यपि अनुवादमें सम्पूर्ण सावधानी रखी गई है, तथापि यदि कोई दोष रह गये हों तो विशेषज्ञ मुझे क्षमा करें।

जैनेन्द्र प्रेस
ललितपुर

—परमेष्ठीदास जैन
सम्पादक "वीर"

श्री समयसार की विषयानुक्रमणिका

१. जीवाजीवाधिकार

२. कर्ताकर्माधिकार

३. पुण्य-पाप अधिकार

७. बन्ध अधिकार

८. मोक्ष अधिकार

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व

लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पुस्तक	मूल्य
समयसार	५)
पञ्चास्तिकाय	४॥)
नियमसार	५॥)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	॥)
श्री मुक्तिमार्ग	॥≈)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	॥।)
समयसार प्रवचन भाग १	४॥।)
समयसार प्रवचन भाग २	४॥।)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।)
समयसार प्रवचन भाग ४	४)
प्रवचनसार	५)
अष्टपाहुड़	३)
मोक्षमार्ग प्रकाशककी किरण प्र०	१)
द्वितीय भाग	२)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग	।)
द्वितीय भाग	।।–)
तृतीय भाग	।।≈)
जैन बालपोथी	।)
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२॥)
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
छहढाला (नई टीका)	॥।–)
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१।≡)
अपूर्व अवसर	८५ न. पै.
भेदविज्ञानसार	२)
अध्यात्म पाठ संग्रह	५)
समाधितन्त्र	२।≈)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	≈)॥
स्तोत्रत्रयी	॥)
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	≡)
आत्मधर्म-मासिक लवाजम-	३)
आत्मधर्म फाइल वर्ष १ से १८ प्रत्येक का	३॥)
शासन प्रभाव	≈)

[डाक व्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शास्त्र का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उसके भावोंको एवं कारण कार्यादिको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, अतः इसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उसीको यथावत् निरूपण करता है, तथा किसीको किसी में नहीं मिलाता, इसलिये ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, अतः उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो, जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तर—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ इसी प्रकार है" ऐसा समझना चाहिये, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लेकर कथन किया गया है, उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है" ऐसा जानना चाहि और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोंके व्याख्यान (कथन-विवेचन) को समान सत्यार्थ जानकर "इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है" इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा नहीं है।

प्रश्न—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक मात्र निश्चयनयका ही निरूपण करना चाहिये था।

उत्तर—ऐसा ही तर्क इस श्री समयसारमें भी करते हुए यह उत्तर दिया है कि—जैसे किसी अनार्यम्लेच्छको म्लेच्छ भाषाके बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और फिर इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—इस प्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहारके द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

–श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

समयसार

*

ભગવાન શ્રી કુંદકુંદાચાર્યદેવ વનમાં તાડપત્ર ઉપર શાસ્ત્ર લખે છે.

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बन्ध में

उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थः—कुन्द पुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणोंके—चारणऋद्धिधारी महामुनियोंके—सुन्दर हस्त-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

...कौण्डकुंदो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान को-भूमितल को—छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करते थे उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि-वे अन्तर में तथा बाह्य में रजसे (अपनी) अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (—अन्तर में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे)।

✺

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण ।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

—[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकरदेव) श्री सीमंधर स्वामी के प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

✺

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

श्री समयसारजी की स्तुति

* हरिगीत *

संसारी जीवनां भावमरणो टालवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी ।
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुन्द संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी ।।

* अनुष्टुप् *

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, सांथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडनां भर्या ।

* शिखरिणी *

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नितरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी ।
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरुप भणी दोड़े परिणती ।

* शार्दूलविक्रीड़ित *

तूं छे निश्चयग्रन्थ, भङ्ग सघला व्यवहारना भेदवा,
तूं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा ।
साथी साधकनो, तूं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतनां हृदयनो, तूं पंथ मुक्ति तणो ।।

* वसंततिलका *

सूण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय ।
तूं रुचतां जगतनी रुचि आलसे सौ,
तूं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे ।।

* अनुष्टुप् *

बनावूं पत्र कुन्दननां, रत्नोनां अक्षरो लखी,
तथापि कुन्दसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी ।।

—* श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः *—

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीसमयसारनामधेयं, अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥

— नमः समयसाराय —

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित

श्री

समयसार

जीव-अजीव अधिकार

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

❀ मङ्गलाचरणम् ❀

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥ १ ॥

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत मूल गाथाओं और श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि कृत आत्मख्याति नामक टीकाकी

हिन्दी भाषा वचनिका

मङ्गलाचरण

श्री परमातमको प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय ।
समयसार शासन करूं देश वचनमय, भाय ॥ १ ॥

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ।

शब्दब्रह्मपरब्रह्मकै वाचकवाच्यनियोग ।
मंगलरूप प्रसिद्ध ह्वै, नमों धर्म धन भोग ॥ २ ॥

नय नय लहइ सार शुभवार, पय पय दहइ मार दुखकार ।
लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविकार ॥ ३ ।

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समय त्रय आगम गाये
मतसिद्धांतरकालभेदत्रय नाम बताये ।
इनहिं आदि शुभ अर्थसमयवचके सुनिये बहु
अर्थसमयमें जीव नाम है सार सुनहु सहु ।
तातैं जु सार बिन कर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै ।
इस ग्रन्थ माँहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ॥ ४ ॥

नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामैं मंगलसार ।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ॥ ५ ॥

समयसार जिनराज है, स्याद्वाद जिन वैन ।
मुद्रा जिन निरग्रंथता, नमूं करै सब चैन ॥६॥ (पं० जयचंदजी छावड़ा)

प्रथम, संस्कृत टीकाकार श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलके लिये इष्टदेवको नमस्कार करते हैं:—

अर्थः—'नमः समयसाराय'—'समय' अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा—उसे मेरा नमस्कार हो। वह कैसा है? 'भावाय' अर्थात् शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है। इस विशेषणपदसे सर्वथा अभाववादी नास्तिकोंका मत खंडित हो गया। और वह कैसा है? 'चित्स्वभावाय'—जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है। इस विशेषणसे गुण—गुणीका सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकोंका निषेध हो गया। और वह कैसा है? 'स्वानुभूत्या चकासते'—अपनी ही अनुभवनरूप क्रियासे प्रकाश करता है, अर्थात् अपनेको अपनेसे ही जानता है-प्रगट करता है। इस विशेषणसे, आत्माको तथा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकरके भेदवाले मीमांसकोंके मतका खण्डन हो गया। तथा ज्ञान अन्य ज्ञानसे जाना जा सकता है—स्वयं अपनेको नहीं जानता, ऐसा माननेवाले नैयायिकोंका भी प्रतिषेध हो गया। और वह कैसा है? 'सर्वभावान्तरच्छिदे'—स्व से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थोंको सर्व क्षेत्र काल सम्बन्धी सर्व विशेषोंके साथ एक ही समयमें जाननेवाला है। इस विशेषणसे, सर्वज्ञका अभाव माननेवाले

॥ मालिनी ॥

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।

मीमांसक आदिका निराकरण हो गया। इसप्रकारके विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्माको ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है।

भावार्थः—यहाँ मंगलके लिये शुद्ध आत्माको नमस्कार किया है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि किसी इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? तो उसका समाधान इस प्रकार है:—वास्तवमें इष्टदेवका सामान्य स्वरूप सर्व कर्म रहित, सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये इस अध्यात्म ग्रन्थमें 'समयसार' कहनेसे इसमें इष्टदेवका समावेश हो गया। तथा एक ही नाम लेनेमें अन्य मतवादी मत पक्षका विवाद करते हैं, उन सबका निराकरण समयसारके विशेषणोंसे किया है। और अन्यवादीजन अपने इष्टदेवका नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्दका अर्थ घटित नहीं होता, उसमें अनेक बाधाएँ आती हैं। और स्याद्वादी जैनोंको तो सर्वज्ञ वीतरागी शुद्ध आत्मा ही इष्ट है; फिर चाहे भले ही इष्टदेवको परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, परब्रह्म, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानंद, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान, समयसार–इत्यादि हजारों नामोंसे कहो; ये सब नाम कथंचित् सत्यार्थ हैं। सर्वथा एकान्तवादियोंको भिन्न नामोंमें विरोध है, स्याद्वादीको कोई विरोध नहीं है। इसलिये अर्थको यथार्थ समझना चाहिये।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप।
सब ज्ञाता लखिकें नमौं समयसार सब भूप ॥ (पं० जयचन्दजी छाबड़ा)

अब सरस्वतीको नमस्कार करते हैं:—

अर्थः—जिसमें अनेक अंत (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशरूप हो। जो अनन्त धर्मोंवाला है और परद्रव्योंसे तथा परद्रव्योंके गुण-पर्यायोंसे भिन्न एवं परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार है, ऐसे आत्माके तत्त्वको अर्थात् असाधारण-सजातीय विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण-निजस्वरूपको वह मूर्ति अवलोकन करती है।

भावार्थः—यहाँ सरस्वतीकी मूर्तिको आशीर्वचनरूपसे नमस्कार किया है। लौकिकमें जो सरस्वतीकी मूर्ति प्रसिद्ध है वह यथार्थ नहीं है, इसलिये यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है। सम्यक्ज्ञान ही सरस्वतीकी सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है,

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। वह अनन्त धर्म सहित आत्मतत्त्वको प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये वह सरस्वतीकी मूर्ति है, और उसीके अनुसार जो श्रुतज्ञान है वह आत्मतत्त्वको परोक्ष देखता है इसलिये वह भी सरस्वतीकी मूर्ति है। और द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनोंके द्वारा अनेक धर्मवाले आत्माको बतलाती है। इसप्रकार समस्त पदार्थोंके तत्त्वको बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वतीकी मूर्ति है; इसीलिये सरस्वतीके वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुतसे नाम कहे जाते हैं। यह सरस्वतीकी मूर्ति अनन्तधर्मोंको 'स्यात्‌पद' से एक धर्मीमें अविरोधरूपसे साधती है, इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादीजन सरस्वतीकी मूर्तिको अन्यथा (प्रकारान्तरसे) स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थको सत्यार्थ कहनेवाली नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्माको अनन्तधर्मवाला कहा है, सो उसमें वे अनन्त धर्म कौन कौनसे हैं? उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—वस्तुमें अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, इत्यादि (धर्म) तो गुण हैं; और उन गुणोंका तीनों कालमें समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं। और वस्तुमें एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। ये सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं, किंतु अन्य विशेषरूप अनन्त धर्म भी हैं जो कि वचनके विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, इसलिये उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं।

आत्माके अनन्त धर्मोंमें चेतनत्व असाधारण धर्म है वह अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है। सजातीय जीव द्रव्य अनन्त हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूपसे भिन्न भिन्न कहा है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशभेद होनेसे वह किसीका किसीमें नहीं मिलता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मोंमें व्यापक है, इसलिये उसे आत्माका तत्त्व कहा है, उसे यह सरस्वतीकी मूर्ति देखती है, और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियोंका कल्याण होता है, इसलिये 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा है।

अब टीकाकार इस ग्रन्थका व्याख्यान करनेका फल चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं:—

अर्थः—श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि—इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या (टीका) से ही मेरी अनुभूतिकी अर्थात् अनुभवनरूप परिणतिकी

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥ १ ॥

अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादिभावांतरपर-

---

परमविशुद्धि (समस्त रागादि विभावपरिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) हो । यह मेरी परिणति, परपरिणतिका कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है। और मैं द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ।

भावार्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ, किन्तु मेरी परिणति मोहकर्मके उदयका निमित्त पा करके मैली है—रागादि स्वरूप हो रही है । इसलिये शुद्ध आत्माकी कथनीरूप इस समयसार ग्रन्थकी टीका करनेका फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति हो। मैं दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता, इसप्रकार आचार्यने टीका करनेकी प्रतिज्ञागर्भित उसके फलकी प्रार्थना की है ।

अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थके प्रारम्भमें मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं:—

गाथा १

अन्वयार्थः—[**ध्रुवां**] ध्रुव, [**अचलां**] अचल और [**अनौपम्यां**] अनुपम—इन तीन विशेषणोंसे युक्त [**गतिं**] गतिको [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए [**सर्वसिद्धान्**] सर्व सिद्धोंको [**वंदित्वा**] नमस्कार करके [**अहो**] अहो ! [**श्रुतकेवलिभणितं**] श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित [**इदं**] यह [**समयप्राभृतं**] समयसार नामक प्राभृत [**वक्ष्यामि**] कहूँगा ।

टीकाः—यहाँ (संस्कृत टीकामें) 'अथ' शब्द मंगलके अर्थको सूचित करता है।

यह पद्यानुवाद हरिगीतिका छन्दमें है—

ध्रुव अचल अरु अनुपमगति, पाये हुए सब सिद्धको,
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृतको अहो ॥ १ ॥

परिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्या-

---

ग्रन्थके प्रारम्भमें सर्व सिद्धोंको भाव-द्रव्य स्तुतिसे अपने आत्मामें तथा परके आत्मामें स्थापित करके इस समय नामक प्राभृतका भाववचन और द्रव्यवचनसे परिभाषण (व्याख्यान) प्रारम्भ करते हैं-इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। वे सिद्ध भगवान् सिद्धत्वसे साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्दके स्थान पर हैं,—जिनके स्वरूपका संसारी भव्यजीव चिंतवन करके, उनके समान अपने स्वरूपको ध्याकर उन्हींके समान हो जाते हैं और चारों गतियोंसे विलक्षण पंचमगति—मोक्षको प्राप्त करते हैं। वह पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है, इसलिये ध्रुवत्वका अवलम्बन करती है। चारों गतियाँ परनिमित्तसे होती हैं, इसलिये ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं। 'ध्रुव' विशेषणसे पंचमगतिमें इस विनाशीकताका व्यवच्छेद हो गया। और वह गति अनादिकालसे परभावोंके निमित्तसे होनेवाले परमें भ्रमण, उसकी विश्रांति (अभाव) के वश अचलताको प्राप्त है। इस विशेषणसे, चारों गतियोंमें पर निमित्तसे जो भ्रमण होता है, उसका (पंचमगतिमें) व्यवच्छेद हो गया। और वह जगत्में जो समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं उनसे विलक्षण—अद्भुत महिमावाली है, इसलिये उसे किसीकी उपमा नहीं मिल सकती। इस विशेषणसे चारों गतियोंमें जो परस्पर कथंचित् समानता पाई जाती है, उसका (पंचमगतिमें) निराकरण हो गया। और उस गतिका नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं, मोक्षगति इस वर्गमें नहीं है, इसलिये उसे अपवर्ग कही है। ऐसी पंचमगतिको सिद्ध भगवान प्राप्त हुए हैं। उन्हें अपने तथा परके आत्मामें स्थापित करके, समयका (सर्व पदार्थोंका अथवा जीव पदार्थका) प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत्प्रवचनका अवयव है उसका, अनादिकालसे उत्पन्न हुए अपने और परके मोहका नाश करनेके लिये परिभाषण करता हूँ। वह अर्हत्प्रवचनका अवयव अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्मसे प्रकाशित होनेसे, सर्व पदार्थोंके समूहको साक्षात् करनेवाले केवली भगवान्-सर्वज्ञदेव द्वारा प्रणीत होनेसे, और केवलियोंके निकटवर्ती साक्षात् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली-गणधर देवोंके द्वारा कथित होनेसे प्रमाणताको प्राप्त है। यह अन्यवादियोंके आगमकी भाँति छद्मस्थ (अल्प ज्ञानियों) की कल्पनामात्र नहीं है कि जिससे अप्रमाण हो।

भावार्थः—गाथासूत्रमें आचार्यदेवने 'वक्ष्यामि' कहा है, उसका अर्थ टीकाकारने

र्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषण-मुपक्रम्यते ॥ १ ॥

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते—

'वच् परिभाषणे' धातुसे परिभाषण किया है। उसका आशय इसप्रकार सूचित होता है कि—चौदह पूर्वोंमेंसे ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्वमें बारह 'वस्तु' अधिकार हैं; उनमें भी एक एकके बीस बीस 'प्राभृत' अधिकार हैं। उनमेंसे दसवें वस्तुमें समय नामक जो प्राभृत है उसके मूलसूत्रोंके शब्दोंका ज्ञान पहले बड़े आचार्योंको था और उसके अर्थका ज्ञान आचार्योंकी परिपाटीके अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवको भी था। उन्होंने समयप्राभृतका परिभाषण किया—परिभाषासूत्र बनाया। सूत्रकी दस जातियाँ कही गई हैं, उनमेंसे एक 'परिभाषा' जाति भी है। जो अधिकारको अर्थके द्वारा यथास्थान सूचित करे वह 'परिभाषा' कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयप्राभृतका परिभाषण करते हैं,—अर्थात् वे समयप्राभृतके अर्थको ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषासूत्र रचते हैं।

आचार्यने मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार किया है। संसारीके लिये शुद्ध आत्मा साध्य है और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा है, इसलिये उन्हें नमस्कार करना उचित है। यहाँ किसी इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया? इसकी चर्चा टीकाकारके मंगलाचरण पर की गई है, उसे यहाँ भी समझ लेना चाहिये। सिद्धोंको 'सर्व' विशेषण देकर यह अभिप्राय बताया है कि सिद्ध अनन्त हैं। इससे यह माननेवाले अन्यमतियोंका खण्डन हो गया कि 'शुद्ध आत्मा एक ही है'। 'श्रुतकेवली' शब्दके अर्थमें श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्दसे सर्वज्ञ तथा परमागमके ज्ञाता—श्रुतकेवली कहे गये हैं। उनसे समयप्राभृतकी उत्पत्ति बताई गई है। इसप्रकार ग्रन्थकी प्रमाणता बताई है, और अपनी बुद्धिसे कल्पित कहनेका निषेध किया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अपनी बुद्धिसे पदार्थका स्वरूप चाहे जैसा कहकर विवाद करते हैं, उनका असत्यार्थपन बताया है।

इस ग्रन्थके अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रकट ही हैं। शुद्ध आत्माका स्वरूप अभिधेय (कहने योग्य) है। उसके वाचक इस ग्रन्थमें जो शब्द हैं उनका और शुद्ध आत्माका वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध है सो सम्बन्ध है। और शुद्धात्माके स्वरूपकी प्राप्तिका होना प्रयोजन है ॥ १ ॥

प्रथम गाथामें समयका प्राभृत कहनेकी प्रतिज्ञा की है। इसलिये यह आकांक्षा होती है कि समय क्या है? इसलिये पहले उस समयको ही कहते हैं:—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योति-

---

गाथा २

अन्वयार्थः—हे भव्य ! जो [जीवः] जीव [चारित्रदर्शनज्ञानस्थितः] दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो रहा है [तं] उसे [हि] निश्चयसे (वास्तवमें) [स्वसमयं] स्वसमय [जानीहि] जानो [च] और जो जीव [पुद्गलकर्मप्रदेश-स्थितं] पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित है [तं] उसे [परसमयं] परसमय [जानीहि] जानो ।

टीकाः—'समय' शब्दका अर्थ इसप्रकार है:—'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ 'एक साथ' है, और 'अय् गतौ' धातु है, जिसका अर्थ गमन और ज्ञान भी है; इसलिये एक साथ ही जानना और परिणमन करना,-यह दोनों क्रियायें जिसमें हो वह समय है। यह जीव नामक पदार्थ एक ही समयमें परिणमन भी करता है और जानता भी है इसलिये वह समय है। यह जीवपदार्थ सदा ही परिणमनस्वरूप स्वभावमें रहता हुआ होनेसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्ता सहित है। (इस विशेषणसे जीवकी सत्ताको न माननेवाले नास्तिकवादियोंका मत खण्डन हो गया, तथा पुरुषको (जीवको) अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादियोंका मत परिणमनस्वभाव कहनेसे खण्डित हो गया। नैयायिक और वैशेषिक सत्ताको नित्य ही मानते हैं, और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं; उनका निराकरण, सत्ताको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहनेसे हो गया।)

और जीव चैतन्यस्वरूपतासे नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानज्योतिस्वरूप है, (क्योंकि चैतन्यका परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है) । (इस विशेषणसे चैतन्यको ज्ञानाकारस्वरूप न माननेवाले सांख्यमतवालोंका निराकरण हो गया।) और वह जीव, अनन्त धर्मोंमें रहनेवाला जो एकधर्मीपना है उसके कारण जिसे द्रव्यत्व प्रगट है, ऐसा है। (क्योंकि

जीव चरितदर्शनज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना,
स्थित कर्मपुद्गलके प्रदेशों, परसमय जीव जानना ॥ २ ॥

नंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकगतत्वेन

अनन्त धर्मोंकी एकता द्रव्यत्व है)। (इस विशेषणसे, वस्तुको धर्मोंसे रहित माननेवाले बौद्धमतियोंका निषेध हो गया।) और वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव होनेसे जिसने गुणपर्यायोंको अंगीकार किया है,—ऐसा है। (पर्याय क्रमवर्ती होती है और गुण सहवर्ती होता है; सहवर्तीको अक्रमवर्ती भी कहते हैं।) (इस विशेषणसे, पुरुषको निर्गुण माननेवाले सांख्यमतवालोंका निरसन हो गया।) और वह, अपने और परद्रव्योंके आकारोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य होनेसे जिसने समस्तरूपको झलकानेवाली एकरूपता प्राप्त की है,—ऐसा है, (अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओंके आकार प्रतिबिम्बित होते हैं, ऐसे एक ज्ञानके आकाररूप है)। (इस विशेषणसे, ज्ञान अपनेको ही जानता है परको नहीं,—इसप्रकार एकाकारको ही माननेवालेका, तथा अपनेको नहीं जानता किन्तु परको जानता है, इसप्रकार अनेकाकारको ही माननेवालेका व्यवच्छेद हो गया।)

और वह, अन्य द्रव्योंके जो विशिष्ट गुण—अवगाहन-गति-स्थिति-वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व हैं, उनके अभावके कारण और असाधारण चैतन्यरूपतास्वभावके सद्भावके कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्योंसे भिन्न है। (इस विशेषणसे एक ब्रह्मवस्तुको ही माननेवालेका खण्डन हो गया।) और वह, अनन्त अन्य द्रव्योंके साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी, अपने स्वरूपसे न छूटनेसे टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। (इस विशेषणसे वस्तु-स्वभावका नियम बताया है।)

ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब यह (जीव), सर्व पदार्थोंके स्वभावको प्रकाशित करनेमें समर्थ-केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेद-ज्ञानज्योतिका उदय होनेसे, सर्व परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन-ज्ञान स्वभावमें निश्चितप्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वके साथ एकत्वरूपमें लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित होनेसे अपने स्वरूपको एकत्वरूपसे

वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ॥ २ ॥

अथैतद्बाध्यते—

एयत्तणिच्छयगञ्रो समञ्रो सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके ।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

एक ही समयमें जानता तथा परिणमता हुआ वह 'स्वसमय' है, इसप्रकार प्रतीत किया जाता है; किन्तु जब वह, अनादि अविद्यारूपी केलके मूलकी गाँठकी भाँति (पुष्ट हुआ) मोह उसके उदयानुसार प्रवृत्तिकी आधीनतासे, दर्शन, ज्ञान, स्वभावमें निश्चितप्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे छूटकर परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न मोह, राग, द्वेषादि भावोंमें एकतारूपसे लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गलकर्मके (कार्माणस्कन्धरूप) प्रदेशोंमें स्थित होनेसे परद्रव्यको अपने साथ एकरूपसे एक कालमें जानता और रागादिरूप परिणमित होता हुआ 'परसमय' है, इसप्रकार प्रतीति की जाती है। इसप्रकार जीव नामक पदार्थकी स्वसमय और परसमयरूप द्विविधता प्रगट होती है।

भावार्थः—जीव नामक वस्तुको पदार्थ कहा है। 'जीव' इसप्रकार अक्षरोंका समूह 'पद' है और उस पदसे जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकांतस्वरूपता निश्चित की जाये वह पदार्थ है। यह जीवपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शनज्ञानमयी चेतनस्वरूप है, अनंतधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होनेसे वस्तु है, गुणपर्यायवान है, उसका स्वपरप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, और वह (जीवपदार्थ) आकाशादिसे भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है, तथा अन्य द्रव्योंके साथ एक क्षेत्रमें रहने पर भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है। जब वह अपने स्वभावमें स्थित हो तब स्वसमय है, और परस्वभाव-रागद्वेषमोहरूप होकर रहे तब परसमय है। इसप्रकार जीवके द्विविधता आती है ॥ २ ॥

अब, समयकी द्विविधतामें आचार्य बाधा बतलाते हैं:—

गाथा ३

अन्वयार्थः—[एकत्वनिश्चयगतः] एकत्वनिश्चयको प्राप्त जो [समयः]

एकत्व-निश्चय-गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोकमें ।
उससे बने बंधनकथा, सु विरोधिनी एकत्वमें ॥ ३ ॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुण-पर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुंबिनोपि परस्परमचुंबंतोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनाद-विनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते, प्रकारांतरेण सर्व-संकरादिदोषापत्तेः । एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः । कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वो-

---

समय है वह [लोके] लोकमें [सर्वत्र] सब जगह [सुन्दरः] सुन्दर है [तेन] इसलिये [एकत्वे] एकत्वमें [बन्धकथा] दूसरेके साथ बंधकी कथा [विसंवादिनी] विसंवाद—विरोध करनेवाली [भवति] है ।

टीका:—यहाँ 'समय' शब्दसे सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं; क्योंकि व्युत्पत्तिके अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुण-पर्यायोंको प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो समय है। इसलिये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीवद्रव्यस्वरूप लोकमें सर्वत्र जो कुछ जितने जितने पदार्थ हैं वे सब निश्चयसे (वास्तवमें) एकत्वनिश्चयको प्राप्त होनेसे ही सुन्दरताको पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकारसे उसमें संकर, व्यतिकर आदि सभी दोष आजायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्यमें अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मोंके चक्रको (समूहको) चुम्बन करते हैं—स्पर्श करते हैं तथापि वे परस्पर एक दूसरेको स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूपसे तिष्ठ रहे हैं तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते, पररूप परिणमन न करनेसे * अपनी अनन्त व्यक्ति (प्रगटता) नष्ट नहीं होती, इसलिये जो टंकोत्कीर्णकी भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनोंकी हेतुतासे (निमित्तभावसे) वे सदा विश्वका उपकार करते हैं–टिकाये रखते हैं । इसप्रकार सर्व पदार्थोंका भिन्न २ एकत्व सिद्ध होनेसे जीव नामक समयको बंधकी कथासे विसंवादकी आपत्ति आती है, क्योंकि बंधकथाका मूल पुद्गलकर्मके प्रदेशोंमें स्थित होना जिसका मूल है ऐसी परसमयतासे उत्पन्न होनेवाली परसमय-स्वसमयरूप द्विविधता जीवके आती है, इसलिये समयके एकत्वका होना ही सिद्ध होता है; (और प्रशंसनीय है) ।

---

* प्रत्येक पदार्थके अनन्त धर्मोंमेंसे एक भी धर्म पररूप परिणमित नहीं होता इसलिये पदार्थकी अनन्त प्रगटता नष्ट नहीं होती । ऐसा आशय प्रतीत होता है ।

त्यादितमेतस्य द्वैविध्यम् । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥ ३ ॥

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते—

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंत-द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण

भावार्थः—निश्चयसे सर्व पदार्थ अपने २ स्वभावमें स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं। परन्तु जीव नामक पदार्थकी अनादि कालसे पुद्गलकर्मके साथ निमित्तरूप बंध–अवस्था है; उससे इस जीवमें विसंवाद खड़ा होता है, इसलिये वह शोभाको प्राप्त नहीं होता। इसलिये वास्तवमें विचार किया जाये तो एकत्व ही सुन्दर है; उससे यह जीव शोभाको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब, उस एकत्वकी असुलभता बताते हैं:—

गाथा ४

अन्वयार्थः—[सर्वस्य अपि] सर्व लोकको [कामभोगबन्धकथा] काम, भोग संबंधी बन्धकी कथा तो [श्रुतपरिचितानुभूता] सुननेमें आगई है, परिचयमें आगई है, और अनुभवमें भी आ गई है, इसलिये सुलभ है; किन्तु [विभक्तस्य] भिन्न आत्माका [एकत्वस्य उपलंभः] एकत्व होना कभी न तो सुना है, न परिचयमें आया है, और न अनुभवमें आया है, इसलिये [केवलं] एकमात्र वही [न सुलभः] सुलभ नहीं है।

टीकाः—इस समस्त जीवलोकको, कामभोगसम्बन्धी कथा एकत्वसे विरुद्ध होनेसे अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है (आत्माका अत्यन्त अनिष्ट करनेवाली है) तथापि, पहले अनन्त बार सुननेमें आई है, अनन्त बार परिचयमें आई है, और अनन्त बार अनुभवमें भी आई है। यह जीवलोक, संसाररूपी चक्रके मध्यमें स्थित है, निरन्तर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव

है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, भोगबंधनकी कथा ।
परसे जुदा एकत्वकी, उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥ ४ ॥

गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुंधानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम् । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥ ४ ॥

अत एवैतस्य उपदर्श्यते—

और भावरूप अनन्त परावर्तनके कारण भ्रमणको प्राप्त हुआ है, समस्त विश्वको एकछत्र राज्यसे वश करनेवाला महा मोहरूपी भूत जिसके पास बैलकी भाँति भार वहन कराता है, बलात् प्रगट हुए तृष्णारूपी रोगके दाहसे अन्तरंगमें पीड़ा प्रगट हुई है, आकुलित हो होकर मृगजलकी भाँति विषयग्रामको (इन्द्रियविषयोंके समूहको) जिसने घेरा डाल रखा है, और वह परस्पर आचार्यत्व भी करता है (अर्थात् दूसरोंसे कहकर उसीप्रकार अंगीकार करवाता है)। इसलिये कामभोगकी कथा तो सबके लिये सुलभ है। किन्तु निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाशसे स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला यह मात्र भिन्न आत्माका एकत्व ही है,—जो कि सदा प्रगटरूपसे अन्तरङ्गमें प्रकाशमान है, तथापि कषायोंके साथ एकरूप जैसा किया जाता है, इसलिए अत्यन्त तिरोभावको प्राप्त हुआ है (-ढक रहा है) वह—अपनेमें अनात्मज्ञता होनेसे (-स्वयं आत्माको न जाननेसे) और अन्य आत्माको जाननेवालोंकी संगति-सेवा न करनेसे, न तो पहले कभी सुना है, न परिचयमें आया है, और न कभी अनुभवमें आया है, इसलिये भिन्न आत्माका एकत्व सुलभ नहीं है।

भावार्थः—इस लोकमें समस्त जीव संसाररूपी चक्रपर चढ़कर पंच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मोदयरूपी पिशाचके द्वारा जोता जाता है, इसलिये वे विषयोंकी तृष्णारूपी दाहसे पीड़ित होते हैं, और उस दाहका इलाज (उपाय) इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंको जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं; तथा परस्पर भी विषयोंका ही उपदेश करते हैं। इसप्रकार काम तथा भोगकी कथा तो अनन्तबार सुनी, परिचयमें प्राप्त की और उसीका अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है। किन्तु सर्व परद्रव्योंसे भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्माकी कथाका ज्ञान अपनेको अपनेसे कभी नहीं हुआ, और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की; इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है ॥ ४ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि जीवोंको उस भिन्न आत्माका एकत्व बतलाते हैं:—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोद-क्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययमेकत्वविभक्तमात्मानं

गाथा ५

अन्वयार्थः—[तं] उस [एकत्वविभक्तं] एकत्वविभक्त आत्माको [अहं] मैं [आत्मनः] आत्माके [स्वविभवेन] निज वैभवसे [दर्शये] दिखाता हूँ; [यदि] यदि मैं [दर्शयेयं] दिखाऊँ तो [प्रमाणं] प्रमाण (स्वीकार) करना, [स्खलेयं] और यदि कहीं चूक जाऊँ तो [छलं] छल [न] नहीं [गृहीतव्यं] ग्रहण करना ।

टीकाः—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्माका निजवैभव है, उस सबसे मैं इस एकत्व-विभक्त आत्माको दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। मेरे आत्माका वह निज वैभव इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंका प्रकाशक है, और 'स्यात्' पदकी मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म—अर्हन्तका परमागम है, उसकी उपासनासे उसका जन्म हुआ है। ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकारसे-किसी अपेक्षासे कहना। परमागमको शब्दब्रह्म कहनेका कारण यह है कि—अर्हन्तके परमागममें सामान्य धर्मोंके—वचनगोचर समस्त धर्मोंके नाम आते हैं और वचनसे अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है; इस प्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिये उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष-अन्यवादियोंके द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष-के निराकरणमें समर्थ अतिनिस्तुष निर्बाध युक्तिके अवलम्बनसे उस निज वैभवका जन्म हुआ है। और निर्मल विज्ञानघन-आत्मामें अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु—सर्वज्ञदेव और अपरगुरु—गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यन्त,—उनके

दर्शाउँ एक विभक्तको, आत्मातने निज विभवसे ।
दर्शाउँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने ॥ ५ ॥

दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि । किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम् । यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम् ॥५॥

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

प्रसादरूपसे दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्वका अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्योंके अनुसार जो उपदेश है उससे निज वैभवका जन्म हुआ है। निरन्तर झरता हुआ—स्वादमें आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रासे युक्त प्रचुरसंवेदनस्वरूप स्वसंवेदनसे निज वैभवका जन्म हुआ है। यों जिस जिस प्रकारसे मेरे ज्ञानका वैभव है उस समस्त वैभवसे दिखाता हूँ। मैं जो यह दिखाऊँ उसे स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्षसे परीक्षा करके प्रमाण करना; और यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणोंमें चूक जाऊँ तो छल (दोष) ग्रहण करनेमें सावधान मत होना। शास्त्रसमुद्रके बहुतसे प्रकरण हैं, इसलिये यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है; इसलिये अर्थकी परीक्षा करनी चाहिये।

भावार्थः—आचार्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, पर और अपर गुरुका उपदेश और स्वसंवेद—यों चार प्रकारसे उत्पन्न हुए अपने ज्ञानके वैभवसे एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्माका स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ! उसे अपने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरणमें भूल जाऊँ तो उतने दोषको ग्रहण मत करना। कहनेका आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है; उससे शुद्ध स्वरूपका निश्चय करो ॥ ५ ॥

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है जिसका स्वरूप जानना चाहिये? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ६

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त भी [न भवति] नहीं और [न प्रमत्तः] प्रमत्त भी नहीं है; [एवं] इसप्रकार [शुद्धं] इसे शुद्ध [भणंति] कहते हैं; [च

नहिं अप्रमत्त प्रमत्त नहिं, जो एक ज्ञायक भाव है ।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥ ६ ॥

यो हि नाम स्वतःसिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति। एष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभि-

---

यः] और जो [ज्ञातः] ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ [सः तु] वह तो [स एव] वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका:—जो स्वयं अपनेसे ही सिद्ध होनेसे (किसीसे उत्पन्न हुआ न होनेसे), अनादि सत्तारूप है, कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है, नित्यउद्योतरूप होनेसे क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसारकी अवस्थामें अनादि बन्धपर्यायकी निरूपणासे (अपेक्षासे) क्षीरनीरकी भाँति कर्मपुद्गलोंके साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो जिसका मिटना कठिन है, ऐसे कषायचक्रके उदयकी विचित्रताके वशसे प्रवर्तमान पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभावसे जड़भावरूप नहीं होता) इसलिये वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्यद्रव्योंके भावोंसे भिन्नरूपसे उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है। जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ)के आकार होनेसे अग्निको दहन कहते हैं तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञेयाकार होनेसे उस 'भाव'के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्थामें जो ज्ञायकरूपसे ज्ञात हुआ वह स्वरूपप्रकाशनकी (स्वरूपको जाननेकी) अवस्थामें भी दीपककी भाँति, कर्ता-कर्मका अनन्यत्व (एकता) होनेसे ज्ञायक ही है—स्वयं जाननेवाला है इसलिये स्वयं कर्ता और अपनेको जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है। जैसे दीपक घटपटादिको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक है, और अपनेको—अपनी ज्योतिरूप शिखाको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है (-अन्य कुछ नहीं), उसीप्रकार ज्ञायकको समझना चाहिये।

भावार्थ:—अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे आती है। उसमें मूल द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्यके निमित्तसे अवस्था मलिन हो जाती है। द्रव्य-दृष्टिसे तो द्रव्य जो है वही है, और पर्याय (अवस्था)-दृष्टिसे देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र है, और उसकी अवस्था पुद्गलकर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता

लप्यते। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥ ६ ॥

है और द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञायकत्व, ज्ञायकत्व ही है, यह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टिको प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त – अप्रमत्तके भेद हैं वे परद्रव्यकी संयोगजनित पर्याय हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेयको जाननेसे दिया जाता है, क्योंकि ज्ञेयका प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञानमें वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है, क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञानमें प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायकके ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है।

'यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं'—ऐसा अपनेको अपना अभेदरूप अनुभव हुआ तब इस जाननेरूप क्रियाका कर्ता स्वयं ही है, और जिसने जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्वमात्र स्वयं शुद्ध है। – यह शुद्धनयका विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं वे सब भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है ऐसा आशय समझना चाहिये।

यहाँ यह भी जानना चाहिये कि जिनमतका कथन स्याद्वादरूप है, इसलिये अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ न माना जाये; क्योंकि स्याद्वादप्रमाणसे शुद्धता और अशुद्धता-दोनों वस्तुके धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तुका सत्त्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्यके संयोगसे होती है। अशुद्धनयको यहाँ हेय कहा है क्योंकि—अशुद्धनयका विषय संसार है और संसारमें आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्यसे भिन्न होता है तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटानेके लिये शुद्धनयका उपदेश प्रधान है। अशुद्धनयको असत्यार्थ कहनेसे यह न समझना चाहिये कि आकाशके फूलकी भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व होता है; इसलिये स्याद्वादकी शरण लेकर शुद्धनयका आलम्बन लेना चाहिये। स्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद शुद्धनयका भी आलंबन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है वह है—यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है ऐसा कहा है। वह गुणस्थानोंकी परिपाटीमें छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवेंसे लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनयकी कथनीमें है; शुद्धनयसे तो आत्मा ज्ञायक ही है ॥ ६ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

आस्तां तावद्बंधप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यंते । यतो ह्यनंतधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो

अब, प्रश्न यह होता है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्रको आत्माका धर्म कहा गया है किन्तु यह तो तीन भेद हुए; और इन भेदरूप भावोंसे आत्माको अशुद्धता आती है ? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ७

अन्वयार्थः—[ज्ञानिनः] ज्ञानीके [चरित्रं दर्शनं ज्ञानं] चारित्र, दर्शन, ज्ञान–यह तीन भाव [व्यवहारेण] व्यवहारसे [उपदिश्यते] कहे जाते हैं; निश्चयसे [ज्ञानं अपि न] ज्ञान भी नहीं है, [चरित्रं न] चारित्र भी नहीं है, और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक [ज्ञायकः शुद्धः] शुद्ध ज्ञायक ही है ।

टीका:—इस ज्ञायक आत्माको बंधपर्यायके निमित्तसे अशुद्धता तो दूर रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मीमें जो निष्णात नहीं हैं ऐसे निकटवर्ती शिष्योंको, धर्मीको बतलानेवाले कितने ही धर्मोंके द्वारा उपदेश करते हुए आचार्योंका—यद्यपि धर्म और धर्मीका स्वभावसे अभेद है तथापि नामसे भे करके—व्यवहारमात्रसे ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्य पी जाता है इसलिये एकरूप, किंचित् एकमेक मिले हुए आस्वादरूप, अभेद, एकस्वभाव वस्तुका अनुभव करनेवाले पण्डित पुरुषको न तो दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र ही है; किन्तु यह तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायक ही है।

चारित्र, दर्शन, ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानिके ।
चारित्र नहिं, दर्शन नहीं, नहिं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है ॥ ७ ॥

भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानंतपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥ ७ ॥

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

भावार्थः—इस शुद्ध आत्माके कर्मबंधके निमित्तसे अशुद्धता होती है, यह बात तो दूर ही रहो, किन्तु उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु अनंतधर्मरूप एक धर्मी है। परन्तु व्यवहारीजन धर्मोंको ही समझते हैं, धर्मीको नहीं जानते; इसलिये वस्तुके किन्हीं असाधारण धर्मोंको उपदेशमें लेकर अभेदरूप वस्तुमें भी धर्मोंके नामरूप भेदको उत्पन्न करके ऐसा उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। इसप्रकार अभेदमें भेद किया जाता है, इसलिये वह व्यवहार है। यदि परमार्थसे विचार किया जाये तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायोंको अभेदरूपसे पीकर बैठा है, इसलिये उसमें भेद नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्याय भी द्रव्यके ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? उसका समाधान यह है:—यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिसे अभेदको प्रधान करके उपदेश दिया है। अभेददृष्टिमें भेदको गौण कहनेसे ही अभेद भलीभाँति मालूम हो सकता है। इसलिये भेदको गौण करके उसे व्यवहार कहा है। यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टिमें भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागीके विकल्प होते रहते हैं; इसलिये जहाँतक रागादिक दूर नहीं हो जाते वहाँतक भेदको गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होनेके बाद भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नयका आलंबन ही नहीं रहता ॥ ७ ॥

अब यहाँ पुनः यह प्रश्न उठा है कि—यदि ऐसा है तो एक परमार्थका ही उपदेश देना चाहिये; व्यवहार किसलिये कहा जाता है? इसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ८

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [अनार्यः] अनार्य (म्लेच्छ) जनको

भाषा अनार्य बिना न समझाना ज्यों शक्य अनार्यको।
व्यवहार बिन परमार्थका, उपदेश होय अशक्य यों ॥८॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुजलझलज्झल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव। तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोध-

---

[अनार्यभाषां विना तु] अनार्यभाषाके विना [ग्राहयितुम्] किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करनेके लिये [न अपि शक्यः] कोई समर्थ नहीं है [तथा] उसीप्रकार [व्यवहारेण विना] व्यवहारके बिना [परमार्थोपदेशनम्] परमार्थका उपदेश देना [अशक्यम्] अशक्य है।

टीका:—जैसे किसी म्लेच्छसे यदि कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' ऐसा शब्द कहे तो वह म्लेच्छ उस शब्दके वाच्यवाचक सम्बन्धको न जाननेसे कुछ भी न समझकर उस ब्राह्मणकी ओर मेंढ़ेकी भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, किन्तु जब ब्राह्मणकी और म्लेच्छकी भाषाका—दोनोंका अर्थ जाननेवाला कोई दूसरा पुरुष या वही ब्राह्मण म्लेच्छभाषा बोलकर उसे समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ यह है कि "तेरा अविनाशी कल्याण हो", तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दमय अश्रुओंसे जिसके नेत्र भर जाते हैं ऐसा वह म्लेच्छ इस 'स्वस्ति' शब्दके अर्थको समझ जाता है; इसीप्रकार व्यवहारीजन भी 'आत्मा' शब्दके कहने पर 'आत्मा' शब्दके अर्थका ज्ञान न होनेसे कुछ भी न समझकर मेंढ़ेकी भाँति आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखते रहते हैं, किन्तु जब व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथको चलानेवाले सारथीकी भाँति अन्य कोई आचार्य अथवा 'आत्मा' शब्दको कहनेवाला स्वयं ही व्यवहारमार्गमें रहता हुआ आत्मा शब्दका यह अर्थ बतलाता है कि—"दर्शन, ज्ञान, चारित्रको जो सदा प्राप्त हो वह आत्मा है", तब तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दसे जिसके हृदयमें सुन्दर और मनोहर-बोधतरंगें (ज्ञानतरंगें) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारीजन उस "आत्मा" शब्दके अर्थको अच्छी तरह समझ लेता है। इस प्रकार जगत तो म्लेच्छके स्थान पर होनेसे, और व्यवहारनय भी म्लेच्छभाषाके स्थान पर होनेसे परमार्थका प्रतिपादक (कहनेवाला) है इसलिये, व्यवहारनय स्थापित करने योग्य है; किन्तु ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिये—इस वचनसे वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है।

महारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मे-त्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदांतःसुन्दरबंधुरबोधतरंगस्त-त्प्रतिपद्यत एव । एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीय-त्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचना-द्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः ॥ ८ ॥

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत्—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा ॥ १० ॥ जुम्मं ॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥ युग्मम् ॥

भावार्थः—लोग शुद्धनयको नहीं जानते, क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद एकरूप वस्तु है; किन्तु वे अशुद्धनयको ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेकप्रकार है; इसलिये वे व्यवहारके द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं। अतः व्यवहारनयको परमार्थका कहनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि यहाँ व्यवहारका आलम्बन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहारका आलम्बन छुड़ाकर परमार्थमें पहुँचाते हैं,—यह समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अब, प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थका प्रतिपादक कैसे है ? इसके उत्तर-स्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ९–१०

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [हि] निश्चयसे (वास्तवमें) [श्रुतेन तु] श्रुतज्ञानके द्वारा [इमं] इस अनुभवगोचर [केवलं शुद्धम्] केवल एक शुद्ध

इस आत्मको श्रुतसे नियत, जो शुद्ध केवल जानते ।
ऋषिगण प्रकाशक लोकके, श्रुतकेवली उसको कहें ॥९॥
श्रुतज्ञान सब जानें जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहे ।
सब ज्ञान सो आत्मा हि है, श्रुतकेवली उससे बने ॥१०॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः। ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति। अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात्। एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्। अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं

[आत्मानं] आत्माको [अभिगच्छति] सम्मुख होकर जानता है, [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकको प्रगट जाननेवाले [ऋषयः] ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणंति] कहते हैं; [यः] जो जीव [सर्वं] सर्व [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञानको [जानाति] जानता है [तं] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [आहुः] कहते हैं, [यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानं सर्वं] ज्ञान सब [आत्मा] आत्मा ही है [तस्मात्] इसलिये [श्रुतकेवली] वह श्रुतकेवली है।

टीका:—प्रथम, "जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" यह तो परमार्थ है; और "जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" यह व्यवहार है। यहाँ दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं:—उपरोक्त सर्व ज्ञान आत्मा है या अनात्मा? यदि अनात्माका पक्ष लिया जाये तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो समस्त जड़रूप अनात्मा आकाशादिक पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य बनता ही नहीं (क्योंकि उनमें ज्ञान सिद्ध नहीं है)। इसलिये अन्य पक्षका अभाव होनेसे 'ज्ञान आत्मा ही है' यह पक्ष सिद्ध हुआ। इसलिये श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा होनेसे 'जो आत्माको जानता है, वह श्रुतकेवली है' ऐसा ही घटित होता है; और वह तो परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानीके भेदसे कहनेवाला जो व्यवहार है उससे भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे भिन्न कुछ नहीं कहा जाता। और "जो श्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं," इस प्रकार परमार्थका प्रतिपादन करना अशक्य होनेसे, "जो सर्व श्रुतज्ञानको जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं" ऐसा व्यवहार परमार्थके प्रतिपादकत्वसे अपनेको दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

भावार्थ:—जो शास्त्रज्ञानसे अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माको जानता है वह

जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति।९।१०।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत्—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथा हि—यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छ-

---

श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय कथन) है। और जो सर्व शास्त्रज्ञानको जानता है उसने भी ज्ञानको जाननेसे आत्माको ही जाना है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहनेवाला जो व्यवहार उसने भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। और परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है, इसलिये व्यवहारनय ही आत्माको प्रगटरूपसे कहता है, ऐसा जानना चाहिये। ९-१०।

अब, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि-पहले यह कहा था कि व्यवहारको अंगीकार नहीं करना चाहिये, किन्तु यदि वह परमार्थको कहनेवाला है तो ऐसे व्यवहारको क्यों अंगीकार न किया जाये ? इसके उत्तररूपमें गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ११

अन्वयार्थः—[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [शुद्धनयः] शुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है, ऐसा [दर्शितः] ऋषीश्वरोंने बताया है; [जीवः] जो जीव [भूतार्थं] भूतार्थका [आश्रितः] आश्रय लेता है वह जीव [खलु] निश्चयसे (वास्तवमें) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है।

टीकाः—व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत, अर्थको प्रगट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होनेसे विद्यमान, सत्य, भूत अर्थको प्रगट करता है। यह बात दृष्टान्तसे बतलाते हैं:—जैसे प्रबल कीचड़के

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सद्दृष्टि निश्चय होय है ॥ ११ ॥

भावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वंतो बहवोनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव

मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) होगया है, ऐसे जलका अनुभव करनेवाले पुरुष—जल और कीचड़का विवेक न करनेवाले (दोनोंके भेदको न समझनेवाले)-बहुतसे तो उस जलको मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथसे डाले हुये कतकफल[1] के पड़ने मात्रसे उत्पन्न जल-कादवके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपनेसे उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसी प्रकार प्रबल कर्मोंके मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले पुरुष-आत्मा और कर्मका विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्माको) जिसमें भावोंकी विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं, किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनयको देखनेवाले) अपनी बुद्धिसे डाले हुवे शुद्धनयके अनुसार बोध होनेमात्रसे उत्पन्न आत्म-कर्मके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभावत्वके कारण उसे (आत्माको) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफलके स्थानपर है, इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनयका सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थः—यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ, और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेका आशय यह है कि शुद्ध नयका विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता, इसलिये उसकी दृष्टिमें भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना चाहिये कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जाये तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक

---

१ कतकफल=निर्मली; (एक औषधि जिससे कीचड़ नीचे बैठ जाता है)।

सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य । अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः ॥ ११ ॥

अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् । यतः—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥ १२ ॥

एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्मको वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो और उससे सर्वथा एकान्त शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आये, इसलिये यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, वह प्रयोजनवश नयको मुख्य-गौण करके कहती है । प्राणियोंको भेदरूप व्यवहारका पक्ष तो अनादि कालसे ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं । और जिनवाणीमें व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है । शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है—वह कहीं कहीं पाया जाता है । इसलिये उपकारी श्रीगुरुने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानतासे दिया है कि—"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेनेसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक जीव व्यवहारमें मग्न है तबतक आत्माका ज्ञान—श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता ।" ऐसा आशय समझना चाहिये ॥ ११ ॥

अब, "यह व्यवहारनय भी किसी किसीको किसी काल प्रयोजनवान है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है; इसलिये उसका उपदेश है" यह कहते हैं:—

गाथा १२

अन्वयार्थः—[परमभावदर्शिभिः] जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये उन्हें तो [शुद्धादेशः] शुद्ध (आत्मा) का उपदेश (आज्ञा) करनेवाला [शुद्धः] शुद्धनय [ज्ञातव्यः] जाननेयोग्य है; [पुनः] और [ये तु] जो जीव [अपरमे भावे] अपरमभावमें—अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-

---

देखे परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है ।
ठहरा जु अपरमभावमें, व्यवहारसे उपदिष्ट है ॥ १२ ॥

भावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वंतो बहवोनच्छमेव तदनुभवंति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वंतो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव

मिलनेसे जिसका सहज एक निर्मलभाव तिरोभूत (आच्छादित) होगया है, ऐसे जलका अनुभव करनेवाले पुरुष—जल और कीचड़का विवेक न करनेवाले (दोनोंके भेदको न समझनेवाले)—बहुतसे तो उस जलको मलिन ही अनुभवते हैं, किन्तु कितने ही अपने हाथसे डाले हुये कतकफल[1] के पड़ने मात्रसे उत्पन्न जल-कादवके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक निर्मलभावपनेसे उस जलको निर्मल ही अनुभव करते हैं; इसी प्रकार प्रबल कर्मोंके मिलनेसे जिसका सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसे आत्माका अनुभव करनेवाले पुरुष-आत्मा और कर्मका विवेक (भेद) न करनेवाले, व्यवहारसे विमोहित हृदयवाले तो, उसे (आत्माको) जिसमें भावोंकी विश्वरूपता (अनेकरूपता) प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं; किन्तु भूतार्थदर्शी (शुद्धनयको देखनेवाले) अपनी बुद्धिसे डाले हुये शुद्धनयके अनुसार बोध होनेमात्रसे उत्पन्न आत्म-कर्मके विवेकतासे, अपने पुरुषार्थ द्वारा आविर्भूत किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभावत्वके कारण उसे (आत्माको) जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करते हैं। यहाँ, शुद्धनय कतकफलके स्थानपर है, इसलिये जो शुद्धनयका आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, दूसरे (जो अशुद्धनयका सर्वथा आश्रय लेते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मोंसे भिन्न आत्माके देखनेवालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

भावार्थः—यहाँ व्यवहारनयको अभूतार्थ, और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनयको अभूतार्थ कहनेका आशय यह है कि शुद्ध नयका विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है, उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता, इसलिये उसकी दृष्टिमें भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना चाहिये कि भेदरूप कोई वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जाये तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक

---

१ कतकफल—निर्मली; (एक औषधि जिससे कीचड़ नीचे बैठ जाता है)।

ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥"

भावार्थः—लोकमें सोनेके सोलह वान (ताव) प्रसिद्ध हैं । पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोगकी कालिमा रहती है, इसलिये तबतक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिम तावसे उतरता है तब वह सोलहवान या सोटंची शुद्ध सोना कहलाता है । जिन्हें सोलहवानवाले सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रह-वान तकका सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलह-वानवाले शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तब तक पन्द्रह-वान तकका सोना भी प्रयोजनवान है । इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्‌गलके संयोगसे अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है । उसका, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्रका-ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति—यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्‌गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलबका) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है । जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यक्‌दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिनवचनोंको कहनेवाले श्री जिन - गुरुकी भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन, तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है । *व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा । इसलिये शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है ।

---

* व्यवहारनयके उपदेशसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा परद्रव्यकी क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावोंको आत्मा व्यवहारसे कर सकता है । और उस उपदेशसे ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि शुभ भाव करनेसे आत्मा शुद्धताको प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशामें भूमिका अनुसार शुभ भाव आये बिना नहीं रहते ।

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति ते प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च—"जइ जिणमयं पवज्ज

चारित्रके पूर्ण भावको नही पहुँच सके हैं, साधक अवस्थामें ही–[स्थिताः] स्थित हैं [व्यवहारदेशिताः] व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

टीका:—जो पुरुष अन्तिम पाकसे उतरे हुये शुद्ध स्वर्णके समान (वस्तुके) उत्कृष्ट भावका अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकोंकी परम्परासे पच्यमान (पकाये जाते हुये) अशुद्ध स्वर्णके समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव हैं उनका अनुभव नहीं होता, इसलिये, शुद्धद्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने अचलित अखण्ड एकस्वभावरूप एक भाव प्रगट किया है ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपरकी एक प्रतिवर्णिका (स्वर्ण-वर्ण) समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ प्रयोजनवान है। परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों)की परम्परासे पच्यमान अशुद्ध स्वर्णके समान जो (वस्तुका) अनुत्कृष्ट मध्यमभावका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुये शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका अनुभव नहीं होता; इसलिये, अशुद्ध द्रव्यको कहनेवाला होनेसे जिसने भिन्न भिन्न एक एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जाननेमें आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है। क्योंकि तीर्थ और तीर्थके फलकी ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तिरा जाये वह तीर्थ है; ऐसा व्यवहार धर्म है। और पार होना व्यवहारधर्मका फल है, अथवा अपने स्वरूपको प्राप्त करना तीर्थफल है।) अन्यत्र भी कहा है कि—

अर्थ:—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि तुम जिनमतका प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय—दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ—व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा और निश्चयनयके बिना तत्त्व (वस्तु)का नाश हो जायेगा।

ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥"

भावार्थः—लोकमें सोनेके सोलह वान (ताव) प्रसिद्ध हैं। पन्द्रहवें वान तक उसमें चूरी आदि परसंयोगकी कालिमा रहती है, इसलिये तबतक वह अशुद्ध कहलाता है; और ताव देते देते जब अन्तिम तावसे उतरता है तब वह सोलहवान या सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन्हें सोलहवानवाले सोनेका ज्ञान, श्रद्धान तथा प्राप्ति हुई है उन्हें पन्द्रह-वान तकका सोना कोई प्रयोजनवान नहीं होता, और जिन्हें सोलह-वानवाले शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें तब तक पन्द्रह-वान तकका सोना भी प्रयोजनवान है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ है, जो कि पुद्गलके संयोगसे अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है। उसका, समस्त परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्वमात्रका-ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति—यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गलसंयोगजनित अनेकरूपताको कहनेवाला अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान (किसी मतलबका) नहीं है; किन्तु जहाँ तक शुद्धभावकी प्राप्ति नहीं हुई वहाँ तक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान है। जहाँ तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यक्‌दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई हो वहाँ तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनोंको सुनना, धारण करना तथा जिनवचनोंको कहनेवाले श्री जिन – गुरुकी भक्ति, जिनबिम्बके दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्गमें प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्त नहीं हुई उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्यका आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रतका ग्रहण, समिति, गुप्ति, और पंच परमेष्ठीका ध्यानरूप प्रवर्तन, तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालोंकी संगति एवं विशेष जाननेके लिये शास्त्रोंका अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्गमें स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरोंको प्रवर्तन कराना—ऐसे व्यवहारनयका उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है। *व्यवहारनयको कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहारको ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति तो नहीं हुई है, इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परासे निगोदको प्राप्त होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। इसलिये शुद्धनयका विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है—ऐसा स्याद्वाद मतमें श्री गुरुओंका उपदेश है।

* व्यवहारनयके उपदेशसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा परद्रव्यकी क्रिया कर सकता है, लेकिन ऐसा समझना कि व्यवहारोपदिष्ट शुभभावोंको आत्मा व्यवहारसे कर सकता है। और उस उपदेशसे ऐसा भी नहीं समझना चाहिये कि शुभ भाव करनेसे आत्मा शुद्धताको प्राप्त करता है, परन्तु ऐसा समझना कि साधक दशामें भूमिका अनुसार शुभ भाव आये बिना नहीं रहते।

* मालिनी *

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

इसी अर्थका कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं:—

अर्थः—निश्चय और व्यवहार—इन दो नयोंके विषयके भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला 'स्यात्'-पदसे चिह्नित जो जिन भगवानका वचन (वाणी) है उसमें जो पुरुष रमते हैं (-प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) वे अपने आप ही (अन्य कारणके बिना) मिथ्यात्वकर्मके उदयका वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्माको तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध-आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु पहले कर्मोंसे आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और वह सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

भावार्थः—जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप हैं। जहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे कि—जो सत्रूप होता है वह असत्रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयोंके विषयोंमें विरोध है— वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असत्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता। जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों नयोंमें, प्रयोजनवश शुद्धद्रव्यार्थिक नयको मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनयको गौण करके व्यवहार कहते हैं।—ऐसे जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्माको यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं, अन्य सर्वथा-एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्त पक्षका विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्मको ग्रहण करके वस्तुकी असत्य कल्पना करते हैं—जो असत्यार्थ है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है। ४।

इसप्रकार इन बारह गाथाओंमें पीठिका (भूमिका) है।

अब आचार्य शुद्धनयको प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। अशुद्धनयकी (व्यवहारनयकी) प्रधानतामें जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है, जब कि यहाँ उन जीवादि तत्त्वोंको शुद्धनयके द्वारा जाननेसे सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं।

* मालिनी *

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

* शार्दूलविक्रीड़ित *

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ।

टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं; उनमेंसे प्रथम श्लोकमें यह कहते हैं कि व्यवहारनयको कथंचित् प्रयोजनवान कहा तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है:—

अर्थः—जो व्यवहारनय है वह यद्यपि इस पहली पदवीमें (जबतक शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको अरे रे ! हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावोंसे रहित (शुद्धनयके विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्गमें अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते हैं उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।

भावार्थः—शुद्ध स्वरूपका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होनेके बाद अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनकारी नहीं है ॥ ५ ॥

अब निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

अर्थः—इस आत्माको अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना (श्रद्धान करना)-ही नियमसे सम्यक्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है, और शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है। एवं जितना सम्यक्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिये आचार्य प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो।"

भावार्थः—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेदोंमें व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है—शुद्धनयसे ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्योंके भावोंसे अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियमसे सम्यक्दर्शन है। व्यवहारनय आत्माको अनेक भेदरूप कहकर सम्यक्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है,

* मालिनी *

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

इसी अर्थका कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं:—

अर्थः—निश्चय और व्यवहार—इन दो नयोंके विषयके भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला 'स्यात्'-पदसे चिह्नित जो जिन भगवानका वचन (वाणी) है उसमें जो पुरुष रमते हैं (-प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) वे अपने आप ही (अन्य कारणके विना) मिथ्यात्वकर्मके उदयका वमन करके इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्माको तत्काल ही देखते हैं। वह समयसाररूप शुद्ध-आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु पहले कर्मोंसे आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और वह सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निर्बाध है।

भावार्थः—जिनवचन (जिनवाणी) स्याद्वादरूप हैं। जहाँ दो नयोंके विषयका विरोध है, जैसे कि—जो सत्‌रूप होता है वह असत्‌रूप नहीं होता, जो एक होता है वह अनेक नहीं होता, जो नित्य होता है वह अनित्य नहीं होता, जो भेदरूप होता है वह अभेदरूप नहीं होता, जो शुद्ध होता है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयोंके विषयोंमें विरोध है—वहाँ जिनवचन कथंचित् विवक्षासे सत्-असत्‌रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप, शुद्ध-अशुद्धरूप जिसप्रकार विद्यमान वस्तु है उसीप्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, असत् कल्पना नहीं करता। जिनवचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनों नयोंमें, प्रयोजनवश शुद्धद्रव्यार्थिक नयको मुख्य करके उसे निश्चय कहते हैं और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिकनयको गौण करके व्यवहार कहते हैं।—ऐसे जिनवचनमें जो पुरुष रमण करते हैं वे इस शुद्ध आत्माको यथार्थ प्राप्त कर लेते हैं; अन्य सर्वथा-एकान्तवादी सांख्यादिक उसे प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्त पक्षका विषय नहीं है तथापि वे एक ही धर्मको ग्रहण करके वस्तुकी असत्य कल्पना करते हैं—जो असत्यार्थ है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है। ४।

इसप्रकार इन बारह गाथाओंमें पीठिका (भूमिका) है।

अब आचार्य शुद्धनयको प्रधान करके निश्चय सम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। अशुद्ध-नयकी (व्यवहारनयकी) प्रधानतामें जीवादि तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है, जब कि यहाँ उन जीवादि तत्त्वोंको शुद्धनयके द्वारा जाननेसे सम्यक्त्व होता है, यह कहते हैं।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं

भावार्थः—नवतत्त्वोंमें प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिको नहीं छोड़ता । ७ ।

इसप्रकार ही शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा १३

अन्वयार्थः—[**भूतार्थेन अभिगताः**] भूतार्थ नयसे ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और [**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवरनिर्जराः**] आस्रव, संवर, निर्जरा [**बंधः**] बन्ध [**च**] और [**मोक्षः**] मोक्ष [**सम्यक्त्वम्**]—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं ।

टीकाः—यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ नयसे जाने हुवे सम्यग्दर्शन ही है (-यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थकी (व्यवहार धर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नयसे कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व—जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं—उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—वह प्राप्त होती है (शुद्धनयसे नवतत्त्वोंको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है, इस हेतुसे यह नियम कहा है ।) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला—दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने

भूतार्थसे जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा ।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥ १३ ॥

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

* अनुष्टुभ् *

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

नियम नहीं रहता। शुद्धनयकी सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है—सर्व लोकालोकको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्माका श्रद्धानरूप सम्यक्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है,—आत्माका ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जो नय है सो श्रुतप्रमाणका अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाणका ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तुको सर्वज्ञके आगमके वचनसे जाना है, इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्योंसे भिन्न, आत्माकी सर्व पर्यायोंमें व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्व लोकालोकको जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगमको प्रमाण करके शुद्धनयसे दिखाये गये पूर्ण आत्माका श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यक्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वोंका ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चय सम्यक्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वोंकी संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्थाकी प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभवमें आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं ? उसका समाधान यह है:—नास्तिकोंको छोड़कर सभी मतवाले आत्माको चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धाको सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिये सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा सम्पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है वैसा श्रद्धान होनेसे ही निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

अब, टीकाकार-आचार्य निम्नलिखित श्लोकमें यह कहते हैं कि-'तत्पश्चात् शुद्धनयके आधीन, सर्व द्रव्योंसे भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है':—

अर्थः—तत्पश्चात् शुद्धनयके आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है वह प्रगट होती है कि जो नवतत्त्वोंमें प्राप्त होने पर भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ती।

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं

भावार्थः—नवतत्त्वोंमें प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है; यदि उसका भिन्न स्वरूप विचार किया जाये तो वह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योतिको नहीं छोड़ता । ७ ।

इसप्रकार ही शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्त्व है, यह सूत्रकार इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा १३

अन्वयार्थः—[**भूतार्थेन अभिगताः**] भूतार्थ नयसे ज्ञात [**जीवाजीवौ**] जीव, अजीव [**च**] और [**पुण्यपापं**] पुण्य, पाप [**च**] तथा [**आस्रवसंवरनिर्जराः**] आस्रव, संवर, निर्जरा [**बंधः**] बन्ध [**च**] और [**मोक्षः**] मोक्ष [**सम्यक्त्वम्**]—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं ।

टीकाः—यह जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ नयसे जाने हुये सम्यग्दर्शन ही है (-यह नियम कहा); क्योंकि तीर्थकी (व्यवहार धर्मकी) प्रवृत्तिके लिये अभूतार्थ (व्यवहार) नयसे कहा जाता है ऐसे नवतत्त्व—जिनके लक्षण जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष हैं—उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनयसे एकत्व प्राप्त करके, शुद्धनयरूपसे स्थापित आत्माकी अनुभूति—जिसका लक्षण आत्मख्याति है—वह प्राप्त होती है (शुद्धनयसे नवतत्त्वोंको जाननेसे आत्माकी अनुभूति होती है, इस हेतुसे यह नियम कहा है ।) वहाँ, विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला—दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं, आस्रव होने

भूतार्थसे जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा ।
आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना ॥ १३ ॥

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥ ६ ॥

* अनुष्टुभ् *

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

नियम नहीं रहता। शुद्धनयकी सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता इसलिये नियमरूप है, शुद्धनयका विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है—सर्व लोकालोकको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्माका श्रद्धानरूप सम्यक्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है, —आत्माका ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। अतः जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जो नय है सो श्रुतप्रमाणका अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाणका ही अंश हुवा। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वस्तुको सर्वज्ञके आगमके वचनसे जाना है; इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्योंसे भिन्न, आत्माकी सर्व पर्यायोंमें व्याप्त, पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्व लोकालोकको जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगमको प्रमाण करके शुद्धनयसे दिखाये गये पूर्ण आत्माका श्रद्धान करे सो वह श्रद्धान निश्चय सम्यक्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनयके विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वोंका ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चय सम्यक्दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वोंकी संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्थाकी प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि—आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभवमें आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं? उसका समाधान यह है:—नास्तिकोंको छोड़कर सभी मतवाले आत्माको चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धाको सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिये सर्वज्ञकी वाणीमें जैसा सम्पूर्ण आत्माका स्वरूप कहा है ऐसा श्रद्धान होनेसे ही निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

अब, टीकाकार-आचार्य निम्नलिखित श्लोकमें यह कहते हैं कि-'तत्पश्चात् शुद्धनयके आधीन, सर्व द्रव्योंसे भिन्न, आत्मज्योति प्रगट हो जाती है':—

अर्थः—तत्पश्चात् शुद्धनयके आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है वह प्रगट होती है कि जो नवतत्त्वोंमें प्राप्त होने पर भी अपने एकत्वको नहीं छोड़ती।

मभूतार्थानि। ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव। इति समस्तमेव निरवद्यम्।

* मालिनी *

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

मात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जबतक इसप्रकार जीव तत्त्वकी जानकारी जीवको नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न भिन्न नवतत्त्वोंको मानता है। जीव-पुद्गलकी बंधपर्यायरूप दृष्टिसे यह पदार्थ भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनयसे जीव-पुद्गलका निज स्वरूप भिन्न भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त नैमित्तिक भावसे हुए थे इसलिये जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न भिन्न होनेसे अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्यका निजभाव द्रव्यके साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भावका अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनयसे जीवको जाननेसे ही सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है। जबतक भिन्न भिन्न नव पदार्थोंको जाने, और शुद्धनयसे आत्माको न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है।

यहाँ, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस प्रकार नव तत्त्वोंमें बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट की गई है, जैसे वर्णोंके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्णको बाहर निकालते हैं। इसलिये अब हे भव्य जीवो! इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, एकरूप देखो। यह (ज्योति), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

भावार्थः—यह आत्मा सर्व अवस्थाओंमें विविध रूपसे दिखाई देता था, उसे शुद्ध नयने एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिये अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धिका एकान्त मत रखो—ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है ॥ ८ ॥

संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानताया-

---

योग्य और आस्रव करनेवाला—दोनों आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक)—दोनों संवर हैं, निर्जरा होनेके योग्य और निर्जरा करनेवाला—दोनों निर्जरा हैं, बन्धनेके योग्य और बन्धन करनेवाला—दोनों बन्ध हैं, और मोक्ष होने योग्य तथा मोक्ष करनेवाला—दोनों मोक्ष हैं; क्योंकि एकके ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। वे दोनों जीव और अजीव हैं (अर्थात् उन दोनोंमेंसे एक जीव है और दूसरा अजीव)।

बाह्य (स्थूल) दृष्टिसे देखा जाये तो:—जीव-पुद्गलकी अनादि बन्धपर्यायके समीप जाकर एकरूपसे अनुभव करने पर यह नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; (वे जीवके एकाकार स्वरूपमें नहीं हैं,) इसलिये इन नव तत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसीप्रकार अन्तर्दृष्टिसे देखा जाये तो—ज्ञायक भाव जीव है और जीवके विकारका हेतु अजीव है; और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं ऐसे केवल जीवके विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष—ये विकारहेतु केवल अजीव हैं। ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्यके स्वभावको छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं ऐसे एक द्रव्यकी पर्यायोंके रूपमें अनुभव करनेपर भूतार्थ हैं और सर्व कालमें अस्खलित एक शुद्धद्रव्यके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इसलिये इन नवतत्त्वोंमें भूतार्थ नयसे एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह, एकत्वरूपमें प्रकाशित होता हुआ शुद्धनयरूपसे अनुभव किया जाता है। और जो यह अनुभूति है सो आत्मख्याति (आत्माकी पहिचान) ही है, और जो आत्मख्याति है सो सम्यग्दर्शन ही है। इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है—बाधा रहित है।

भावार्थ:—इन नव तत्त्वोंमें, शुद्धनयसे देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कार

मभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव । इति समस्तमेव निरवद्यम् ।

* मालिनी *

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

मात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते । जबतक इसप्रकार जीव तत्त्वकी जानकारी जीवको नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न भिन्न नवतत्त्वोंको मानता है । जीव-पुद्गलकी बंधपर्यायरूप दृष्टिसे यह पदार्थ भिन्न भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनयसे जीव-पुद्गलका निज स्वरूप भिन्न भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य, पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त नैमित्तिक भावसे हुए थे इसलिये जब वह निमित्त-नैमित्तिकभाव मिट गया तब जीव, पुद्गल भिन्न भिन्न होनेसे अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती । वस्तु तो द्रव्य है, और द्रव्यका निजभाव द्रव्यके साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भावका अभाव ही होता है, इसलिये शुद्धनयसे जीवको जाननेसे ही सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति हो सकती है । जबतक भिन्न भिन्न नव पदार्थोंको जाने, और शुद्धनयसे आत्माको न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है ।

यहाँ, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—इस प्रकार नव तत्त्वोंमें बहुत समयसे छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट की गई है, जैसे वर्णोंके समूहमें छिपे हुए एकाकार स्वर्णको बाहर निकालते हैं । इसलिये अब हे भव्य जीवो ! इसे सदा अन्य द्रव्योंसे तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावोंसे भिन्न, एकरूप देखो । यह (ज्योति), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है ।

भावार्थ:—यह आत्मा सर्व अवस्थाओंमें विविध रूपसे दिखाई देता था, उसे शुद्ध नयने एक चैतन्य-चमत्कारमात्र दिखाया है; इसलिये अब उसे सदा एकाकार ही अनुभव करो, पर्यायबुद्धिका एकान्त मत रखो— ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है ॥ ८ ॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं च । तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र

टीका:—अब, जैसे नवतत्त्वोंमें एक जीवको ही जानना भूतार्थ कहा है उसी प्रकार, एकरूपसे प्रकाशमान आत्माके अधिगमके उपाय जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे भी निश्चयसे अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा एक ही भूतार्थ है (क्योंकि ज्ञेय और वचनके भेदोंसे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं)। उनमेंसे पहले, प्रमाण दो प्रकारके हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष। [1]उपात्त और [2]अनुपात्त पर (पदार्थों) द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष है और केवल आत्मासे ही प्रतिनिश्चितरूपसे प्रवृत्ति करे सो प्रत्यक्ष है। (प्रमाण ज्ञान है। वह ज्ञान पाँच प्रकारका है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उनमेंसे मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं, अवधि और मनःपर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है। इसलिये यह दो प्रकारके प्रमाण हैं।) ये दोनों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके भेदका अनुभव करनेपर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, और जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीवके स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

नय दो प्रकारके हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहाँ द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तुमें द्रव्यका मुख्यतासे अनुभव कराये सो द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायका मुख्यतासे अनुभव कराये सो पर्यायार्थिक नय है। यह दोनों नय द्रव्य और पर्यायका पर्यायसे (भेदसे, क्रमसे) अनुभव करने पर तो भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, और द्रव्य तथा पर्याय दोनोंसे अनालिंगित (आलिंगन नहीं किया हुआ) शुद्धवस्तुमात्र जीवके (चैतन्यमात्र) स्वभावका अनुभव करनेपर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

निक्षेपके चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तुमें जो गुण न हो उस गुणके नामसे (व्यवहारके लिये) वस्तुकी संज्ञा करना सो नाम निक्षेप है। 'यह वह है' इसप्रकार अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुका प्रतिनिधित्व स्थापित करना (-प्रतिमारूप स्थापन करना) सो स्थापना निक्षेप है। वर्तमानसे अन्य अर्थात् अतीत अथवा अनागत पर्यायसे वस्तुको

---

1. उपात्त = प्राप्त। (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त पर पदार्थ हैं।)

2. अनुपात्त = अप्राप्त। (प्रकाश, उपदेश इत्यादि अनुपात्त पर पदार्थ हैं।)

द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्। वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते।

* मालिनी *

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।

वर्तमानमें कहना सो द्रव्य निक्षेप है। वर्तमान पर्यायसे वस्तुको वर्तमानमें कहना सो भाव निक्षेप है। इन चारों निक्षेपोंका अपने अपने लक्षणभेदसे (विलक्षणरूपसे—भिन्न भिन्न रूपसे) अनुभव किये जानेपर वे भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षणसे रहित एक अपने चैतन्य-लक्षणरूप जीवस्वभावका अनुभव करनेपर वे चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसप्रकार इन प्रमाण-नय-निक्षेपोंमें भूतार्थरूपसे एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थः—इन प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विस्तारसे कथन तद्विषयक ग्रन्थोंसे जानना चाहिये; उनसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तुकी सिद्धि होती है। वे साधक अवस्थामें तो सत्यार्थ ही हैं क्योंकि वे ज्ञानके ही विशेष हैं। उनके बिना वस्तुको चाहे जैसे साधा जाये तो विपर्यय हो जाता है। अवस्थानुसार व्यवहारके अभाव की तीन रीतियाँ हैं: प्रथम अवस्थामें प्रमाणादिसे यथार्थ वस्तुको जानकर ज्ञान-श्रद्धानकी सिद्धि करना; ज्ञान-श्रद्धानके सिद्ध होनेपर श्रद्धानके लिये प्रमाणादिकी कोई आवश्यक्ता नहीं है। किन्तु अब यह दूसरी अवस्थामें प्रमाणादिके आलम्बनसे विशेष ज्ञान होता है और राग-द्वेष-मोहकर्मका सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है; उससे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। केवलज्ञान होनेके पश्चात् प्रमाणादिका आलम्बन नहीं रहता। तत्पश्चात् तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है, वहाँ भी कोई आलम्बन नहीं है। इसप्रकार सिद्ध अवस्थामें प्रमाण-नय-निक्षेपका अभाव ही है।

इस अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं—

अर्थः—आचार्य शुद्धनयका अनुभव करके कहते हैं कि—इन समस्त भेदोंको गौण करनेवाला जो शुद्धनयका विषयभूत चैतन्य-चमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

* उपजाति *

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।

होनेपर नयोंकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपोंका समूह कहाँ चला जाता है सो हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थः—भेदको अत्यन्त गौण करके कहा है कि—प्रमाण, नयादि भेदकी तो बात ही क्या? शुद्ध अनुभवके होनेपर द्वैत ही भासित नहीं होता, एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि—अन्तमें परमार्थरूप तो अद्वैतका ही अनुभव हुआ। यही हमारा मत है; इसमें आपने विशेष क्या कहा? इसका उत्तरः—तुम्हारे मतमें सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्य वस्तुका अभाव ही हो जाये, और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मतमें नयविवक्षा है जो कि बाह्यवस्तुका लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभवसे विकल्प मिट जाता है तब आत्मा परमानन्दको प्राप्त होता है इसलिये अनुभव करानेके लिये यह कहा है कि—"शुद्ध अनुभवमें द्वैत भासित नहीं होता।" यदि बाह्य वस्तुका लोप किया जाये तो आत्माका भी लोप हो जायेगा और शून्यवादका प्रसंग आयेगा। इसलिये जैसा तुम कहते हो उसप्रकारसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धाके विना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है वह भी मिथ्यारूप है; शून्यका प्रसंग होनेसे तुम्हारा अनुभव भी आकाश-कुसुमके अनुभवके समान है। ९।

आगे शुद्धनयका उदय होता है उसकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—शुद्धनय आत्मस्वभावको प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मस्वभावको परद्रव्य, परद्रव्यके भाव तथा परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने विभाव-ऐसे परभावोंसे भिन्न प्रगट करता है। और वह, आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूपसे पूर्ण है—समस्त लोकालोकका ज्ञाता है—ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञानमें भेद कर्म संयोगसे हैं, शुद्धनयमें कर्म गौण हैं।) और वह, आत्मस्वभावको आदि अन्तसे रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदिसे लेकर जो किसीसे उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसीसे जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भावको प्रगट करता है।) और वह,

विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥ १० ॥

जो पस्सदि अप्पाणं, अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम् ।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्। तथा हि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिल-

---

आत्मस्वभावको एक—सर्व भेदभावोंसे (द्वैतभावोंसे) रहित एकाकार—प्रगट करता है, और जिसमें समस्त संकल्प-विकल्पके समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है। (द्रव्य-कर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्योंमें अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें भेद ज्ञात होना सो विकल्प है।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है। १०।

उस शुद्धनयको गाथासूत्रसे कहते हैं:—

गाथा १४

अन्वयार्थः—[**यः**] जो नय [**आत्मानं**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टम्**] बन्ध रहित और परके स्पर्शसे रहित, [**अनन्यकं**] अन्यत्व रहित, [**नियतम्**] चलाचलता रहित, [**अविशेषम्**] विशेष रहित, [**असंयुक्तं**] अन्यके संयोगसे रहित—ऐसे पाँच भावरूपसे [**पश्यति**] देखता है [**तं**] उसे, हे शिष्य! तू [**शुद्धनयं**] शुद्धनय [**विजानीहि**] जान।

टीकाः—निश्चयसे अबद्ध-अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे आत्माकी अनुभूति शुद्धनय है, और वह अनुभूति आत्मा ही है; इसप्रकार आत्मा एक ही प्रकाशमान है। (शुद्धनय, आत्माकी अनुभूति या आत्मा सब एक ही हैं, अलग नहीं।) यहाँ शिष्य पूछता है कि जैसा ऊपर कहा है वैसे आत्माकी अनुभूति कैसे हो सकती है?

अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्मको।
अविशेष अनसंयुक्त उसको शुद्धनय तू जानजो ॥१४॥

निमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनोनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानताया-

---

उसका समाधान यह है:—बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव अभूतार्थ हैं इसलिये यह अनुभूति हो सकती है। इस बातको दृष्टान्तसे प्रगट करते हैं—जैसे कमलिनी-पत्र जलमें डूबा हुआ हो तो उसका जलसे स्पर्शित होनेरूप अवस्थासे अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जलसे किंचित् मात्र भी न स्पर्शित होने योग्य कमलिनी-पत्रके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर जलसे स्पर्शित होना अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार अनादि कालसे बँधे हुये आत्माका, पुद्गलकर्मोंसे बँधने-स्पर्शितहोनेरूप अवस्थासे अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि पुद्गलसे किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। तथा जैसे मिट्टीका, ढक्कन, घड़ा, झारी इत्यादि पर्यायोंसे अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (-सर्व पर्यायभेदोंसे किंचिन्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले ऐसे) एक मिट्टीके स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, नारक आदि पर्यायोंसे अनुभव करनेपर (पर्यायोंके अन्य-अन्यरूपसे) अन्यत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्व पर्यायभेदोंसे किंचित् मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे समुद्रका, वृद्धिहानिरूप अवस्थामें अनुभव करने पर अनियतता (अनिश्चितता) भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर समुद्रस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है, इसीप्रकार आत्माका, वृद्धिहानिरूप पर्यायभेदोंसे अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि नित्य-स्थिर (निश्चल) आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे सोनेका, चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदोंमें अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय होगये हैं ऐसे सुवर्ण-स्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार

मभूतार्थम् । यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूय-

---

आत्माका, ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदोंसे अनुभव करनेपर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं ऐसे आत्मस्वभावके समीप जाकर अनुभव करनेपर विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

जैसे जलका, अग्नि जिसका निमित्त है ऐसी उष्णताके साथ संयुक्ततारूप-तप्ततारूप—अवस्थासे अनुभव करनेपर (जलका) उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि एकांत शीतलतारूप जलस्वभावके समीप जाकर अनुभव करने पर (उष्णताके साथ) संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है; इसीप्रकार आत्माका, कर्म जिसका निमित्त है ऐसे मोहके साथ संयुक्ततारूप अवस्थासे अनुभव करनेपर संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है, तथापि जो स्वयं एकांत बोधबीजरूप स्वभाव है उसके (चैतन्यभावके) समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

भावार्थः—आत्मा पाँच प्रकारसे अनेकरूप दिखाई देता है:—(१) अनादि कालसे कर्मपुद्गलके सम्बन्धसे बँधा हुआ कर्मपुद्गलके स्पर्शवाला दिखाई देता है, (२) कर्मके निमित्तसे होनेवाली नर, नारक आदि पर्यायोंमें भिन्न २ स्वरूपमें दिखाई देता है,—(३) शक्तिके अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, और बढ़ते भी हैं—यह वस्तु स्वभाव है इसलिये वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता, (४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणोंसे विशेषरूप दिखाई देता है और (५) कर्मके निमित्तसे होनेवाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामोंकर सहित वह सुखदुःखरूप दिखाई देता है। यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनयका विषय है। इस दृष्टि (अपेक्षा) से देखा जाये तो यह सब सत्यार्थ है। परन्तु आत्माका एक स्वभाव इस नयसे ग्रहण नहीं होता, और एक स्वभावको जाने बिना यथार्थ आत्माको कैसे जाना जा सकता है? इसलिये दूसरे नयको—उसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिकनयको—ग्रहण करके, एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्माका भाव लेकर, उसे शुद्धनयकी दृष्टिसे सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, सर्व पर्यायोंमें एकाकार, हानिवृद्धिसे रहित, विशेषोंसे रहित और नैमित्तिक भावोंसे रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावोंसे जो अनेकप्रकारता है वह अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

मानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमा-

---

यहाँ यह समझना चाहिये कि वस्तुका स्वरूप अनंत धर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्तधर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गलके संयोगसे होते हैं। जो कर्मके संयोगसे होते हैं, उनसे आत्माकी सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्संबन्धी जो सुखदुःखादि होते हैं उन्हें भोगता है। यह, इस आत्माकी अनादिकालीन अज्ञानसे पर्यायबुद्धि है; उसे अनादि-अनन्त एक आत्माका ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञका आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे यह बताया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिधन है। उसे जाननेसे पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्तसे होनेवाले अपने विभावोंसे अपने आत्माको भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये कर्म बन्ध नहीं होता और संसारसे निवृत्ति हो जाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनयको सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनयको सत्यार्थ कहा है इसलिये अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेमे वेदान्तमतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आजायेगा और उससे मिथ्यात्व आजायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियोंकी भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिये सर्वनयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे सम्यक्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये, मुख्य-गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिये। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनयकी दृष्टिमे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि यह नय है वह श्रुतज्ञान-प्रमाणका अंश है; श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो

हितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

* मालिनी *

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

आत्मामें परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्मसंयोगसे मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है। जबतक जीव इस नयको नहीं जानता तबतक आत्माके पूर्णरूपका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। इसलिये श्रीगुरुने इस शुद्धनयको प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्माको जानकर श्रद्धान करना चाहिये, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिये।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है:—देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमतमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमेंसे आगमप्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनयकी दृष्टिसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना चाहिये, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्षका ही एकान्त नहीं करना चाहिये।

यहाँ, इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जगतके प्राणियो! इस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि जहाँ यह बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं, तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभावका, मोह रहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

भावार्थः—यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो ।११।

मानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमा-

---

यहाँ यह समझना चाहिये कि वस्तुका स्वरूप अनंत धर्मात्मक है, वह स्याद्वादसे यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनन्तधर्मवाला है। उसके कुछ धर्म तो स्वाभाविक हैं और कुछ पुद्गलके संयोगसे होते हैं। जो कर्मके संयोगसे होते हैं, उनसे आत्माकी सांसारिक प्रवृत्ति होती है और तत्संबन्धी जो सुखदुःखादि होते हैं उन्हें भोगता है। यह, इस आत्माकी अनादिकालीन अज्ञानसे पर्यायबुद्धि है; उसे अनादि-अनन्त एक आत्माका ज्ञान नहीं है। इसे बतानेवाला सर्वज्ञका आगम है। उसमें शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे यह बताया है कि आत्माका एक असाधारण चैतन्यभाव है जो कि अखण्ड, नित्य और अनादिनिधन है। उसे जाननेसे पर्यायबुद्धिका पक्षपात मिट जाता है। परद्रव्योंसे, उनके भावोंसे और उनके निमित्तसे होनेवाले अपने विभावोंसे अपने आत्माको भिन्न जानकर जीव उसका अनुभव करता है तब परद्रव्यके भावोंस्वरूप परिणमित नहीं होता; इसलिये कर्म बन्ध नहीं होता और संसारसे निवृत्ति हो जाती है। इसलिये पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कहा है और शुद्ध निश्चयनयको सत्यार्थ कहकर उसका आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुद्धनयको सत्यार्थ कहा है इसलिये अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा माननेसे वेदान्तमतवाले जो कि संसारको सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्त पक्ष आजायेगा और उससे मिथ्यात्व आजायेगा, इसप्रकार यह शुद्धनयका आलम्बन भी वेदान्तियोंकी भाँति मिथ्यादृष्टिपना लायेगा। इसलिये सर्वनयोंकी कथंचित् सत्यार्थताका श्रद्धान करनेसे सम्यक्‌दृष्टि हुआ जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादको समझकर जिनमतका सेवन करना चाहिये, मुख्य-गौण कथनको सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष नहीं पकड़ना चाहिये। इस गाथासूत्रका विवेचन करते हुए टीकाकार आचार्यने भी कहा है कि आत्मा व्यवहारनयकी दृष्टिमें जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दिखाई देता है वह इस दृष्टिसे तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनयकी दृष्टिसे बद्धस्पृष्टादिता असत्यार्थ है। इस कथनमें टीकाकार आचार्यने स्याद्वाद बताया है ऐसा जानना।

यहाँ यह समझना चाहिए कि यह नय है वह श्रुतज्ञान-प्रमाणका अंश है; श्रुतज्ञान वस्तुको परोक्ष बतलाता है; इसलिए यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषयभूत, बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित आत्मा चैतन्यशक्तिमात्र है। वह शक्ति तो

हितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयं बोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

* मालिनी *

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

आत्मामें परोक्ष है ही; और उसकी व्यक्ति कर्मसंयोगसे मतिश्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होनेसे प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है, और सम्पूर्णज्ञान-केवलज्ञान यद्यपि छद्मस्थके प्रत्यक्ष नहीं है तथापि यह शुद्धनय आत्माके केवलज्ञानरूपको परोक्ष बतलाता है। जबतक जीव इस नयको नहीं जानता तबतक आत्माके पूर्णरूपका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता। इसलिये श्रीगुरुने इस शुद्धनयको प्रगट करके उपदेश किया है कि बद्धस्पृष्ट आदि पाँच भावोंसे रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्माको जानकर श्रद्धान करना चाहिये, पर्यायबुद्धि नहीं रहना चाहिये।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देता और बिना देखे श्रद्धान करना असत् श्रद्धान है। उसका उत्तर यह है:—देखे हुए का ही श्रद्धान करना तो नास्तिकमत है। जैनमतमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण माने गये हैं, उनमेंसे आगमप्रमाण परोक्ष है; उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनयकी दृष्टिसे शुद्ध आत्माका श्रद्धान करना चाहिये, मात्र व्यवहार-प्रत्यक्षका ही एकान्त नहीं करना चाहिये।

यहाँ, इस शुद्धनयको मुख्य करके कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जगतके प्राणियो! इस सम्यक् स्वभावका अनुभव करो कि जहाँ यह बद्धस्पृष्टादिभाव स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं, तथापि वे (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभावमें प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं। यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओंमें प्रकाशमान है। ऐसे शुद्ध स्वभावका, मोह रहित होकर जगत अनुभव करे; क्योंकि मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न मिथ्यात्वरूपी अज्ञान जहाँ तक रहता है, वहाँ तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

भावार्थः—यहाँ यह उपदेश है कि शुद्धनयके विषयरूप आत्माका अनुभव करो ।११।

* शार्दूलविक्रीडित *

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

* वसन्ततिलका *

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥ १३ ॥

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य पुनः कहते हैं, जिसमें यह कहा गया है कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता हैः—

अर्थः—यदि कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालमें कर्मोंके बन्धको अपने आत्मासे तत्काल—शीघ्र भिन्न करके तथा उस कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान)को अपने बलसे (पुरुषार्थसे) रोककर अथवा नाश करके अन्तरंगमें अभ्यास करे—देखे तो यह आत्मा अपने अनुभवसे ही जाननेयोग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा व्यक्त (अनुभवगोचर), निश्चल, शाश्वत, नित्य कर्मकलंक-कर्दमसे रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान है ।

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो सर्व कर्मोंसे रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरंगमें स्वयं विराजमान है । यह प्राणी—पर्यायबुद्धि बहिरात्मा—उसे बाहर ढूँढता है, यह महा अज्ञान है । १२ ।

अब, 'शुद्धनयके विषयभूत आत्माकी अनुभूति ही ज्ञानकी अनुभूति है' इसप्रकार आगेकी गाथाकी सूचनाके अर्थरूप काव्य कहते हैंः—

अर्थः—इसप्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वही वास्तवमें ज्ञानकी अनुभूति है, यह जानकर तथा आत्मामें आत्माको निश्चल स्थापित करके, 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है,' इसप्रकार देखना चाहिये ।

भावार्थः—पहले सम्यग्दर्शनको प्रधान करके कहा था, अब ज्ञानको मुख्य करके कहते हैं कि शुद्धनयके विषयस्वरूप आत्माकी अनुभूति ही सम्यक्ज्ञान है । १३ ।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
*अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसान्तमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥ १५ ॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः । किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथा हि—यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्य-

---

अब, इस अर्थरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १५

अन्वयार्थः—[**यः**] जो पुरुष [**आत्मानम्**] आत्माको [**अबद्धस्पृष्टम्**] अबद्धस्पृष्ट, [**अनन्यम्**] अनन्य, [**अविशेषम्**] अविशेष (तथा उपलक्षणसे नियत और असंयुक्त) [**पश्यति**] देखता है वह [**सर्वम् जिनशासनं**] सर्व जिनशासनको [**पश्यति**] देखता है,—जो जिनशासन [[1]**अपदेशसांतमध्यं**] बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है ।

टीकाः—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है, क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है । इसलिये ज्ञानकी अनुभूति ही आत्माकी अनुभूति है । परंतु अब वहाँ, सामान्यज्ञानके आविर्भाव (प्रगटपना) और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञानके तिरोभाव (आच्छादन)से जब ज्ञानमात्रका अनुभव किया जाता है तब ज्ञान प्रगट अनुभवमें आता है तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त हैं उन्हें वह स्वादमें नहीं आता । यह प्रगट दृष्टांतसे बतलाते हैं : जैसे—अनेक प्रकारके शाकादि भोजनोंके सम्बन्धसे उत्पन्न सामान्य लवणके तिरोभाव और विशेष लवणके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला जो (सामान्यके तिरोभावरूप और शाकादिके स्वाद भेदसे भेदरूप—विशेषरूप) लवण है उसका स्वाद अज्ञानी, शाक

---

* पाठान्तर : अपदेससुत्तमज्झं । १ अपदेश=द्रव्यश्रुत; सांत=ज्ञानरूपी भावश्रुत ।

अनबद्धस्पृष्ट, अनन्य, जो अविशेष देखे आत्मको,
वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो ॥ १५ ॥

विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन

लोलुप मनुष्योंको आता है किन्तु अन्यकी सम्बन्धरहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थसे देखा जाये तो, विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इसप्रकार—अनेकप्रकारके ज्ञेयोंके आकारोंके साथ मिश्ररूपतासे उत्पन्न सामान्यके तिरोभाव और विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवोंके स्वादमें आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकारकी संयोग रहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वादमें नहीं आता, और परमार्थसे विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आता है वही ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आता है। अलुब्ध ज्ञानियोंको तो, जैसे सैंधवकी डली, अन्यद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल सैंधवका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्वके कारण क्षाररूपसे स्वादमें आती है उसीप्रकार आत्मा भी, परद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल आत्माका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनताके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है।

भावार्थः—यहाँ आत्माकी अनुभूतिको ही ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयोंमें ही—इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही—लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञानके विषयोंसे अनेकाकार हुये ज्ञानको ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयोंसे भिन्न ज्ञानमात्रका आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानका ही आस्वाद लेते हैं,—जैसे शाकोंसे भिन्न नमककी डलीका क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार [illegible] परद्रव्योंसे भिन्न, अपनी पर्यायोंमें एकरूप निश्चल,

केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ।

* पृथ्वी *

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ।। १४ ।।

* अनुष्टुभ् *

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।। १५ ।।

अपने गुणोंमें एकरूप, परनिमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव, ज्ञानका अनुभव है; और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासनका अनुभवन है । शुद्धनयसे इसमें कोई भेद नहीं है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो कि जो तेज सदा-काल चैतन्यके परिणमनसे परिपूर्ण है, जैसे नमककी डली एक क्षार रसकी लीलाका आलम्बन करती है, उसीप्रकार जो तेज एक ज्ञानरसस्वरूपका आलम्बन करता है; जो तेज अखण्डित है—जो ज्ञेयोंके आकाररूप खण्डित नहीं होता, जो अनाकुल है—जिसमें कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले रागादिसे उत्पन्न आकुलता नहीं है, जो अविनाशीरूपसे अन्तरंगमें तो चैतन्यभावसे दैदीप्यमान अनुभवमें आता है और बाहर वचन-कायकी क्रियासे प्रगट दैदीप्यमान होता है—जाननेमें आता है, जो स्वभावसे हुआ है—जिसे किसी ने नहीं रचा और सदा जिसका विलास उदयरूप है—जो एकरूप प्रतिभासमान है ।

भावार्थः—आचार्यदेवने प्रार्थना की है कि यह ज्ञानानन्दमय एकाकार स्वरूप-ज्योति हमें सदा प्राप्त रहो । १४ ।

अब, आगेकी गाथाका सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—यह (पूर्वकथित) ज्ञानस्वरूप आत्मा, स्वरूपकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको साध्यसाधकभावके भेदसे दो प्रकारसे, एक ही नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो ।

भावार्थः—आत्मा तो ज्ञानस्वरूप एक ही है परन्तु उसका पूर्णरूप साध्यभाव है

विशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम् , अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि । तथा विचित्र-ज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम् , अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि । अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योऽन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन

लोलुप मनुष्योंको आता है किन्तु अन्यकी सम्बन्धरहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है उसका स्वाद नहीं आता; और परमार्थसे देखा जाये तो, विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण ही सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (क्षाररसरूप) लवण है। इसप्रकार—अनेकप्रकारके ज्ञेयोंके आकारोंके साथ मिश्ररूपतासे उत्पन्न सामान्यके तिरोभाव और विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आनेवाला (विशेषभावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान वह अज्ञानी, ज्ञेय-लुब्ध जीवोंके स्वादमें आता है किन्तु अन्य ज्ञेयाकारकी संयोग रहिततासे उत्पन्न सामान्यके आविर्भाव और विशेषके तिरोभावसे अनुभवमें आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वादमें नहीं आता, और परमार्थसे विचार किया जाये तो, जो ज्ञान विशेषके आविर्भावसे अनुभवमें आता है वही ज्ञान सामान्यके आविर्भावसे अनुभवमें आता है। अलुब्ध ज्ञानियोंको तो, जैसे सैंधवकी डली, अन्यद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल सैंधवका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक क्षाररसत्वके कारण क्षाररूपसे स्वादमें आती है उसीप्रकार आत्मा भी, परद्रव्यके संयोगका व्यवच्छेद करके केवल आत्माका ही अनुभव किये जाने पर, सर्वतः एक विज्ञानघनताके कारण ज्ञानरूपसे स्वादमें आता है।

भावार्थः—यहाँ आत्माकी अनुभूतिको ही ज्ञानकी अनुभूति कहा गया है। अज्ञानीजन ज्ञेयोंमें ही—इन्द्रियज्ञानके विषयोंमें ही—लुब्ध हो रहे हैं; वे इन्द्रियज्ञानके विषयोंसे अनेकाकार हुये ज्ञानको ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं परन्तु ज्ञेयोंसे भिन्न ज्ञानमात्रका आस्वादन नहीं करते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयोंमें आसक्त नहीं हैं वे ज्ञेयोंसे भिन्न एकाकार ज्ञानका ही आस्वाद लेते हैं,—जैसे शाकोंसे भिन्न नमककी डलीका क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं, क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है। इसप्रकार [illegible] सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, अपनी पर्यायोंमें एकरूप निश्चल,

वस्त्वंतरम् । तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते । स किल—

* अनुष्टुभ् *

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

भावार्थः—दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों आत्माकी ही पर्याय हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिये साधु पुरुषोंको एक आत्माका ही सेवन करना यह निश्चय है और व्यवहारसे दूसरोंको भी यही उपदेश करना चाहिये।

अब, इसी अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—प्रमाणदृष्टिसे देखा जाये तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे तो त्रित्व (तीनपना) है और अपनेसे अपनेको एकत्व है।

भावार्थः—प्रमाणदृष्टिमें तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्माको भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिये। १६।

अब, नयविवक्षा कहते हैं:—

अर्थः—आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो तीन स्वभावरूपताके कारण अनेकाकाररूप ('मेचक') है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंमें परिणमन करता है।

भावार्थः—शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे आत्मा एक है; जब इस नयको प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिक नय गौण हो जाता है, इसलिये एकको तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुवा, असत्यार्थ भी हुवा। इसप्रकार व्यवहारनयसे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामोंके कारण 'मेचक' कहा है। १७।

अब, परमार्थनयसे कहते हैं:—

अर्थः—शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो प्रगट ज्ञायकत्वज्योतिमात्रसे आत्मा एक-स्वरूप है क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे सर्व अन्यद्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह 'अमेचक' है—शुद्ध एकाकार है।

भावार्थः—भेददृष्टिको गौण करके अभेददृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है। १८।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानं चैव निश्चयतः ॥ १६ ॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् । यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम् । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न

और अपूर्णरूप साधकभाव है; ऐसे भावभेदसे दो प्रकारसे एकका ही सेवन करना चाहिये । १५ ।

अब, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधकभाव है यह इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा १६

अन्वयार्थः—[साधुना] साधु पुरुषको [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यम्] सदा [सेवितव्यानि] सेवन करने योग्य हैं; [पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] उन तीनोंको [निश्चयतः] निश्चयनयसे [आत्मानं च एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो ।

टीकाः—यह आत्मा जिस भावसे साध्य तथा साधन हो उस भावसे ही नित्य सेवन करने योग्य है, इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरोंको व्यवहारसे प्रतिपादन करते हैं कि 'साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवन करने योग्य है।' किन्तु परमार्थसे देखा जाये तो यह तीनों एक आत्मा ही हैं क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं—किन्तु आत्माकी ही पर्याय हैं। जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुषके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण, देवदत्तके स्वभावका उल्लंघन न करनेसे (वे) देवदत्त ही हैं,—अन्यवस्तु नहीं, इसीप्रकार आत्मामें भी आत्माके ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्माके स्वभावका उल्लंघन न करनेसे आत्मा ही हैं—अन्य वस्तु नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है यह स्वयं अपने से ही प्रकाशमान होता है। -

---

दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेवीये ।
पर ये तीनों आत्मा हि केवल, जान निश्चयदृष्टिमें ॥ १६ ॥

वस्त्वंतरम् । तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते । स किल—

* अनुष्टुभ् *

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥

भावार्थः—दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों आत्माकी ही पर्याय हैं, कोई भिन्न वस्तु नहीं हैं; इसलिये साधु पुरुषोंको एक आत्माका ही सेवन करना यह निश्चय है और व्यवहारसे दूसरोंको भी यही उपदेश करना चाहिये ।

अब, इसी अर्थका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—प्रमाणदृष्टिसे देखा जाये तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्थारूप ('अमेचक') भी है, क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे तो त्रित्व (तीनपना) है और अपनेसे अपनेको एकत्व है ।

भावार्थः—प्रमाणदृष्टिमें तीनकालस्वरूप वस्तु द्रव्यपर्यायरूप देखी जाती है, इसलिये आत्माको भी एक ही साथ एक-अनेकस्वरूप देखना चाहिये । १६ ।

अब, नयविवक्षा कहते हैं:—

अर्थः—आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टिसे देखा जाय तो तीन स्वभावरूपताके कारण अनेकाकाररूप ('मेचक') है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंमें परिणमन करता है ।

भावार्थः—शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे आत्मा एक है; जब इस नयको प्रधान करके कहा जाता है तब पर्यायार्थिक नय गौण हो जाता है, इसलिये एकको तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना सो व्यवहार हुवा, असत्यार्थ भी हुवा । इसप्रकार व्यवहारनयसे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामोंके कारण 'मेचक' कहा है । १७ ।

अब, परमार्थनयसे कहते हैं:—

अर्थः—शुद्ध निश्चयनयसे देखा जाय तो प्रगट ज्ञायकत्वज्योतिमात्रसे आत्मा एकस्वरूप है क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे सर्व अन्यद्रव्यके स्वभाव तथा अन्यके निमित्तसे होनेवाले विभावोंको दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह 'अमेचक' है—शुद्ध एकाकार है ।

भावार्थः—भेददृष्टिको गौण करके अभेददृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा एकाकार ही है, वही अमेचक है । १८ ।

* अनुष्टुभ् *

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ १८ ॥

आत्माको प्रमाण-नयसे मेचक, अमेचक कहा है, उस चिन्ताको मिटाकर जैसे साध्यकी सिद्धि हो वैसा करना चाहिये, यह आगेके श्लोकमें कहते हैं:—

अर्थः—यह आत्मा मेचक है—भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है,—अभेदरूप एकाकार है ऐसी चिन्तासे बस हो। साध्य आत्माकी सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीन भावोंसे ही होती है, अन्य प्रकारसे नहीं, (यह नियम है)।

भावार्थः—आत्माके शुद्ध स्वभावकी साक्षात् प्राप्ति अथवा सर्वथा मोक्ष साध्य है। आत्मा मेचक है या अमेचक, ऐसे विचार ही मात्र करते रहनेसे साध्य सिद्ध नहीं होता; परन्तु दर्शन अर्थात् शुद्ध स्वभावका अवलोकन, ज्ञान अर्थात् शुद्ध स्वभावका प्रत्यक्ष जानना, और चारित्र अर्थात् शुद्धस्वभावमें स्थिरतासे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यही मोक्षमार्ग है, अन्य नहीं।

व्यवहारीजन पर्यायमें—भेदमें समझते हैं इसलिये यहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्रके भेदसे समझाया है। १९।

अब, इसी प्रयोजनको दो गाथाओंमें दृष्टांतपूर्वक कहते हैं:—

गाथा १७–१८

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे [कः अपि] कोई [अर्थार्थिकः पुरुषः]

ज्यों पुरुष कोई नृपतिको भी, जानकर श्रद्धा करे ।
फिर यत्नसे धन अर्थ वो, अनुचरण राजाका करे ॥१७॥
जीवराजको यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीतिसे ।
उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्नसे ॥१८॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्। तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनु-

---

धनका अर्थी पुरुष [राजानं] राजाको [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्दधाति] श्रद्धा करता है, [ततः पुनः] और फिर [तं प्रयत्नेन अनुचरति] उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् उसकी सुन्दर रीतिसे सेवा करता है, [एवं हि] इसीप्रकार [मोक्षकामेन] मोक्षके इच्छुकको [जीवराजः] जीवरूपी राजाको [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये, [पुनः च] और फिर [तथा एव] इसीप्रकार [श्रद्धातव्यः] उसका श्रद्धान करना चाहिये [तु च] और तत्पश्चात् [स एव अनुचरितव्यः] उसीका अनुचरण करना चाहिये अर्थात् अनुभवके द्वारा तन्मय हो जाना चाहिये।

टीका:—निश्चयसे जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष बहुत उद्यमसे पहले तो राजाको जाने कि यह राजा है, फिर उसीका श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करनेसे अवश्य धनकी प्राप्ति होगी' और फिर उसीका अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञामें रहे, उसे प्रसन्न करे; इसीप्रकार मोक्षार्थी पुरुषको पहले तो आत्माको जानना चाहिये, और फिर उसीका श्रद्धान करना चाहिये कि 'यही आत्मा है, इसका आचरण करनेसे अवश्य कर्मोंसे छूटा जा सकेगा' और फिर उसीका अनुचरण करना चाहिये—अनुभवके द्वारा उसमें लीन होना चाहिये; क्योंकि साध्य जो निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप उसकी सिद्धिकी इसीप्रकार उपपत्ति है, अन्यथा अनुपपत्ति है (अर्थात् इसीप्रकारसे साध्यकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकारसे नहीं)।

(इसी बातको विशेष समझाते हैं:—) जब आत्माको, अनुभवमें आनेपर अनेक पर्यायरूप भेदभावोंके साथ मिश्रितता होनेपर भी सर्व प्रकारसे भेदज्ञानमें प्रवीणतासे 'जो यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञानसे प्राप्त होता हुआ, इस आत्माको जैसा जाना है वैसा ही है इसप्रकारकी प्रतीति जिसका लक्षण है ऐसा, श्रद्धान उदित होता है तब समस्त अन्य-

भूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृंगश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरण-मनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

* मालिनी *

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

भावोंका भेद होनेसे निःशंक स्थिर होनेमें समर्थ होनेसे आत्माका आचरण उदय होता हुआ आत्माको साधता है। इसप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी उपपत्ति है।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबालवृद्ध सबके अनुभवमें सदा स्वयं ही आने पर भी अनादि बन्धके वश पर (द्रव्यों)के साथ एकत्वके निश्चयसे मूढ़-अज्ञानी जनको 'जो यह अनुभूति है वही मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभावसे, अज्ञातका श्रद्धान गधेके सींगके समान है इसलिये, श्रद्धान भी उदित नहीं होता तब समस्त अन्यभावोंके भेदसे आत्मामें निःशंक स्थिर होनेकी असमर्थताके कारण आत्माका आचरण उदित न होनेसे आत्माको नहीं साध सकता। इसप्रकार साध्य आत्माकी सिद्धिकी अन्यथा अनुपपत्ति है।

भावार्थः—साध्य आत्माकी सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही है, अन्य प्रकारसे नहीं। क्योंकि—पहले तो आत्माको जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभवमें आता है सो मैं हूँ। इसके बाद उसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है; क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावोंसे भेद करके अपनेमें स्थिर हो।—इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं, तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता, और ऐसी स्थितिमें स्थिरता कहाँ करेगा? इसलिये यह निश्चय है कि अन्य प्रकारसे सिद्धि नहीं होती।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि—अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योतिका हम निरंतर अनुभव करते हैं क्योंकि उसके अनुभवके बिना अन्य प्रकारसे साध्य आत्माकी सिद्धि नहीं होती। वह आत्मज्योति ऐसी है कि जिसने किसी प्रकारसे त्रित्व अंगीकार किया है तथापि जो एकत्वसे च्युत नहीं हुई और जो निर्मलतासे उदयको प्राप्त हो रही है।

ननुज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेन्न यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात् ? एवमेतत्।

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम्—

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१६॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥ १९ ॥

भावार्थः—आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी प्रकार पर्यायदृष्टिसे त्रित्व प्राप्त है तथापि शुद्धद्रव्यदृष्टिसे जो एकत्वसे रहित नहीं हुई तथा जो अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदयको प्राप्त हो रही है ऐसी आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं। यह कहनेका आशय यह भी जानना चाहिये कि जो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं वे, जैसा हम अनुभव करते हैं वैसा अनुभव करें। २०।

टीकाः—अब, कोई तर्क करे कि आत्मा तो ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूप है, अलग नहीं है, इसलिये वह ज्ञानका नित्य सेवन करता है; तब फिर उसे ज्ञानकी उपासना करनेकी शिक्षा क्यों दी जाती है ? उसका समाधान यह है:—ऐसा नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञानके साथ तादात्म्यस्वरूपसे है तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञानका सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयंबुद्धत्व (स्वयं स्वतः जानना) अथवा बोधितबुद्धत्व (दूसरेके बतानेसे जानना)—इन कारणपूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। (या तो काललब्धि[1] आये तब स्वयं ही जान ले अथवा कोई उपदेश देनेवाला मिले तब जाने—जैसे सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं ही जाग जाये अथवा कोई जगाये तब जागे।) यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है तो जाननेके कारणसे पूर्व क्या आत्मा अज्ञानी ही है क्योंकि उसे सदा अप्रतिबुद्धत्व है ? उसका उत्तरः—ऐसा ही है, वह अज्ञानी ही है।

अब यहाँ पुनः पूछते हैं कि—यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध रहता है वह कहो। उसके उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा १९

अन्वयार्थ—[**यावत्**] जबतक इस आत्माकी [**कर्मणि**] ज्ञानावरणादि

---

१. काललब्धिका अर्थ स्व–कालकी प्राप्ति है।

नोकर्म कर्म जु "मैं" अवरु, "मैं" में कर्म नोकर्म हैं।
यह बुद्धि जबतक जीवकी, अज्ञानी तबतक वो रहे ॥ १९ ॥

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोय-मिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोंतरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः । यदा कदाचिद्यथा रूपिणो

द्रव्यकर्म, भावकर्म [च] और [नोकर्मणि] शरीरादि नोकर्ममें [अहं] 'यह मैं हूं' [च] और [अहकं कर्म नोकर्म इति] मुझमें (-आत्मामें) 'यह कर्म—नोकर्म हैं'—[एषा खलु बुद्धिः] ऐसी बुद्धि है, [तावत्] तबतक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध [भवति] है।

टीका:—जैसे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भावोंमें तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादिके आकार परिणत हुये पुद्गलके स्कन्धोंमें 'यह घट है' इसप्रकार, और घड़ेमें 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदिरूप परिणत पुद्गल-स्कन्ध हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे अनुभूति होती है, इसीप्रकार कर्म-मोह आदि अन्तरंग परिणाम तथा नोकर्म-शरीरादि बाह्य वस्तुयें—सब पुद्गलके परिणाम हैं और आत्माके तिरस्कार करनेवाले हैं—उनमें 'यह मैं हूं' इसप्रकार और आत्मामें 'यह कर्म-मोह आदि अन्तरंग तथा नोकर्म-शरीरादि बहिरंग, आत्म-तिरस्कारी (आत्माके तिरस्कार करनेवाले) पुद्गल-परिणाम हैं' इसप्रकार वस्तुके अभेदसे जबतक अनुभूति है तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, और जब कभी, जैसे रूपी दर्पणकी स्वच्छता ही स्व-परके आकारका प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्निकी है इसीप्रकार अरूपी आत्माकी तो अपनेको और परको जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गलके हैं इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेशसे जिसका मूल भेदविज्ञान है ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी तब ही (आत्मा) प्रतिबुद्ध होगा।

भावार्थ:—जैसे स्पर्शादिमें पुद्गलका और पुद्गलमें स्पर्शादिका अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभवमें आते हैं, उसीप्रकार जबतक आत्माको, कर्म-नोकर्ममें आत्माकी और आत्मामें कर्म-नोकर्मकी भ्रान्ति होती है अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं, तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है, और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गलके ही हैं तभी वह प्रतिबुद्ध होता है। जैसे दर्पणमें अग्निकी ज्वाला दिखाई देती है वहां यह ज्ञात होता है कि "ज्वाला तो अग्निमें ही है, वह दर्पणमें प्रविष्ट

दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।

* मालिनी *

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत—

नहीं है, और जो दर्पणमें दिखाई दे रही है वह दर्पणकी स्वच्छता ही है;" इसीप्रकार "कर्म-नोकर्म अपने आत्मामें प्रविष्ट नहीं हैं; आत्माकी ज्ञान-स्वच्छता ऐसी ही है कि जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिम्ब दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं, इसलिये वे प्रतिभासित होते हैं"—ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्माको या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेशसे हो तभी वह प्रतिबुद्ध होता है।

अब, इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष अपने ही अथवा परके उपदेशसे किसी भी प्रकारसे भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्तिकारण है ऐसी अपने आत्माकी अविचल अनुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी भाँति अपनेमें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावोंसे निरंतर विकार-रहित होते हैं,—ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकारको प्राप्त नहीं होते। २१।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्धको कैसे पहिचाना जा सकता है ? उसका चिह्न बताइये; उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥ २१ ॥
एयत्तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥

अहमेतदेतदहं अहमेतस्यास्मि अस्ति ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥ २० ॥
आसीन्मम पूर्वमेतदेतस्याहमप्यासं पूर्वम् ।
भविष्यति पुनर्ममैतदेतस्याहमपि भविष्यामि ॥ २१ ॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥ २२ ॥

गाथा २०-२१-२२

अन्वयार्थः—[अन्यत् यत् परद्रव्यं] जो पुरुष अपनेसे अन्य जो परद्रव्य—[सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं—उन्हें यह समझता है कि [अहं एतत्] मैं यह हूँ, [एतत् अहम्] यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, [अहम् एतस्य अस्मि] मैं इसका हूँ, [एतत् मम अस्ति] यह मेरा है, [एतत् मम पूर्वम् आसीत्] यह मेरा पहले था, [एतस्य अहम् अपि पूर्वम् आसम्] इसका मैं भी पहले था, [एतत् मम पुनः भविष्यति] यह मेरा भविष्यमें होगा, [अहम् अपि एतस्य भविष्यामि]

मैं ये अवरु ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु ये हैं मेरे ।
जो अन्य हैं पर द्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे ॥ २० ॥
मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसीका गतकालमें ।
ये होयगा मेरा अवरु, मैं इसका हूँगा भावि में ॥ २१ ॥
अयथार्थ आत्मविकल्प ऐसा, मूढ़जीव हि आचरे ।
भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ए विकल्प नहीं करे ॥ २२ ॥

यथाग्निरिंधनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिंधनं पूर्वमासीदिंधनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतींधन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिंधनमस्ति नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति नाग्नेरिंधनमस्ति नेंधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति, नाग्नेरिंधनं पूर्वमासीन्नेंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिंधनस्येंधनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतींधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न

मैं भी इसका भविष्यमें होऊँगा,—[एतत् तु असद्भूतम्] ऐसा झूठा [आत्मविकल्पं] आत्मविकल्प [करोति] करता है वह [संमूढः] मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है; [तु] और जो पुरुष [भूतार्थं] परमार्थ वस्तुस्वरूपको [जानन्] जानता हुआ [तम्] वैसा झूठा विकल्प [न करोति] नहीं करता वह [असंमूढः] मूढ़ नहीं, ज्ञानी है।

टीकाः—(दृष्टान्तसे समझाते हैं :) जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्निको मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि "जो अग्नि है सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है; अग्निका ईंधन है, ईंधनकी अग्नि है; अग्निका ईंधन पहले था, ईंधनकी अग्नि पहले थी; अग्निका ईंधन भविष्यमें होगा, ईंधनकी अग्नि भविष्यमें होगी;"—ऐसा ईंधनमें ही अग्निका विकल्प करता है वह झूठा है, उससे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) कोई पहिचाना जाता है, इसीप्रकार कोई आत्मा परद्रव्यमें असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि "मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है; यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्यका मैं हूँ; मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था; मेरा यह भविष्यमें होगा, मैं इसका भविष्यमें होऊँगा;"—ऐसे झूठे विकल्पोंसे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहिचाना जाता है।

और, "अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है,—अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है; अग्निका ईंधन नहीं, ईंधनकी अग्नि नहीं,—अग्निकी अग्नि है, ईंधनका ईंधन है; अग्निका ईंधन पहले नहीं था, ईंधनकी अग्नि पहले नहीं थी,—अग्निकी अग्नि पहले थी और ईंधनका ईंधन पहले था; अग्निका ईंधन भविष्यमें नहीं होगा, ईंधनकी अग्नि भविष्यमें नहीं होगी,—अग्निकी अग्नि ही भविष्यमें होगी, ईंधनका ईंधन ही भविष्यमें

ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ।

* मालिनी *

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

होगा,"—इसप्रकार जैसे किसीको अग्निमें ही सत्यार्थ अग्निका विकल्प हो सो प्रतिबुद्धका लक्षण है, इसीप्रकार "मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है,—मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है; मेरा यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्यका मैं नहीं,—मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्यका परद्रव्य है; इस परद्रव्यका मैं पहले नहीं था, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था,—मेरा मैं ही पहले था, परद्रव्यका परद्रव्य पहले था; यह परद्रव्य मेरा भविष्यमें नहीं होगा, इसका मैं भविष्यमें नहीं होऊँगा,—मैं अपना ही भविष्यमें होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) भविष्यमें होगा।"—ऐसा जो स्वद्रव्यमें ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है वही प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) का लक्षण है, इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

भावार्थः—जो परद्रव्यमें आत्माका विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है और जो अपने आत्माको ही अपना मानता है वह ज्ञानी है—यह अग्नि-ईंधनके दृष्टान्तसे दृढ़ किया है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जगत् अर्थात् जगत्के जीवो! अनादि संसारसे लेकर आज तक अनुभव किये गये मोहको अब तो छोड़ो और रसिक जनोंको रुचिकर, उदय हुआ जो ज्ञान उसको आस्वादन करो, क्योंकि इस लोकमें आत्मा वास्तवमें किसीप्रकार भी अनात्मा (परद्रव्य) के साथ कदापि तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आत्मा एक है वह अन्य द्रव्यके साथ एकतारूप नहीं होता।

भावार्थः—आत्मा परद्रव्यके साथ किसीप्रकार किसी समय एकताके भावको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार आचार्यदेवने, अनादिकालसे परद्रव्यके प्रति लगा हुआ जो मोह है उसका भेदविज्ञान बताया है और प्रेरणा की है कि इस एकत्वरूप मोहको अब छोड़ दो और ज्ञानका आस्वादन करो, मोह वृथा है, झूठा है, दुःखका कारण है। २२।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सत्तो वत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥ २३ ॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ॥ २४ ॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥ २५ ॥

अब अप्रतिबुद्धको समझानेके लिये प्रयत्न करते हैं:—

गाथा २३–२४–२५

अन्वयार्थः—[अज्ञानमोहितमतिः] जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है [बहुभावसंयुक्तः] और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावोंसे युक्त है ऐसा [जीवः] जीव [भणति] कहता है कि [इदं] यह [बद्धम् तथा च अबद्धं] शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है। आचार्य कहते हैं कि—[सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञके ज्ञान द्वारा देखा गया जो

अज्ञान मोहितबुद्धि जो, बहुभावसंयुत जीव है ।
"ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा" वो कहै ॥ २३ ॥
सर्वज्ञज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है ।
वो कैसे पुद्गल हो सके जो, तू कहे मेरा अरे ! ॥ २४ ॥
जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्वको ।
तू तब हि ऐसा कह सके, "है मेरा" पुद्गलद्रव्यको ॥ २५ ॥

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्राश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः । अथायमेव प्रतिबोध्यते—रे दुरात्मन् [1]आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम् । दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यम् तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं

[नित्यम्] सदा [उपयोगलक्षणः] उपयोगलक्षणवाला [जीवः] जीव है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है [यत्] जिससे कि [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ? [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्य [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और [इतरत्] पुद्गलद्रव्य [जीवत्वम्] जीवत्वको [आगतम्] प्राप्त करे [तत्] तो [वक्तुं शक्तः] तू कह सकता है [यत्] कि [इदं पुद्गलं द्रव्यम्] यह पुद्गल द्रव्य [मम] मेरा है । (किन्तु ऐसा तो नहीं होता ।)

टीकाः—एक ही साथ अनेक प्रकारकी बंधनकी उपाधिकी अति निकटतासे वेगपूर्वक बहते हुये अस्वभावभावोंके संयोगवश जो (अज्ञानी जीव) अनेक प्रकारके वर्णोंवाले [2]आश्रयकी निकटतासे रंगे हुये स्फटिक-पाषाण जैसा है, अत्यन्त तिरोभूत (ढँके हुये) अपने स्वभावभावत्वसे जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है ऐसा है, और महा अज्ञानसे जिसका हृदय स्वयं स्वतः ही विमोहित है—ऐसा अज्ञानी जीव स्वपरका भेद न करके, उन अस्वभावभावोंको ही (जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावोंको ही) अपना करता हुआ, पुद्गलद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव करता है । (जैसे स्फटिकपाषाणमें अनेक प्रकारके वर्णोंकी निकटतासे अनेकवर्णरूपता दिखाई देती है, स्फटिकका निज श्वेत-निर्मलभाव दिखाई नहीं देता इसीप्रकार अज्ञानीके कर्मकी उपाधिसे आत्माका शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है—दिखाई नहीं देता इसलिये पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है ।) ऐसे अज्ञानीको अब समझाया जा रहा है कि:—रे दुरात्मन् ! आत्मघात करनेवाले ! जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहारको तृण सहित खा जाते हैं उसीप्रकार खानेके स्वभावको तू छोड़, छोड़ । जिसने समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं और जो

---

[1] आत्मविनाशक । [2] आश्रय—जिसमें स्फटिकमणि रखा हुआ हो वह वस्तु;

येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत, तत्तु न कथंचनापि स्यात् । तथा हि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते । तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ।

विश्वको (समस्त वस्तुओंको) प्रकाशित करनेके लिये एक अद्वितीय ज्योति है, ऐसे सर्वज्ञ-ज्ञानसे स्फुट (प्रगट) किये गये जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे होगया कि जिससे तू यह अनुभव करता है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' ? क्योंकि यदि किसी भी प्रकारसे जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमकके पानी' इसप्रकारके अनुभवकी भाँति ऐसी अनुभूति वास्तवमें ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकारसे नहीं बनता ।

दृष्टान्त देकर इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—जैसे खारापन जिसका लक्षण है ऐसा नमक पानीरूप होता हुआ दिखाई देता है और द्रवत्व (प्रवाहीपन) जिसका लक्षण है, ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है, क्योंकि खारेपन और द्रवत्वका एक साथ रहनेमें अविरोध है, अर्थात् उसमें कोई बाधा नहीं आती, इसप्रकार नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य होता हुआ दिखाई नहीं देता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य होता हुआ देखनेमें नहीं आता क्योंकि प्रकाश और अंधकारकी भाँति उपयोग और अनुपयोगका एक ही साथ रहनेमें विरोध है; जड़, और चेतन कभी भी एक नहीं हो सकते । इसलिये तू सर्व प्रकारसे प्रसन्न हो, (अपने चित्तको उज्ज्वल करके) सावधान हो, और स्वद्रव्यको ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर ।

भावार्थः—यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्यको अपना मानता है; उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतनद्रव्य दोनों सर्वथा भिन्न भिन्न हैं, कभी भी किसी भी प्रकारसे एकरूप नहीं होते ऐसा सर्वज्ञ भगवानने देखा है; इसलिये हे अज्ञानी ! तू परद्रव्यको एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थकी मान्यतासे बस कर ।

* मालिनी *

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

अथाहाप्रतिबुद्धः—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥ २६ ॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ २६ ॥

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—'अयि' यह कोमल सम्बोधनका सूचक अव्यय है । आचार्यदेव कोमल संबोधनसे कहते हैं कि हे भाई ! तू किसीप्रकार महा कष्टसे अथवा मरकर भी तत्त्वोंका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्माके विलासरूप, सर्व परद्रव्योंसे भिन्न देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्वके मोहको शीघ्र ही छोड़ देगा ।

भावार्थः—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्यसे भिन्न अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव करे (उसमें लीन हो), परीषहके आनेपर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्मका नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके, मोक्षको प्राप्त हो । आत्मानुभवकी ऐसी महिमा है तब मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना तो सुगम है; इसलिये श्रीगुरुने प्रधानतासे यही उपदेश दिया है । २३ ।

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २६

अन्वयार्थ—अप्रतिबुद्ध जीव कहता है कि—[यदि] यदि [जीवः] जीव [शरीरं न] शरीर नहीं है तो [तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थंकरों और

जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेशकी ।
मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीवदेहकी ! ॥ २६ ॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

* शार्दूलविक्रीडित *

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः।

नैवं, नयविभागानभिज्ञोसि—

आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह [**सर्वा अपि**] सभी [**मिथ्या भवति**] मिथ्या है; [तेन तु] इसलिये हम (समझते हैं कि) [**आत्मा**] जो आत्मा है सो [देहः च एव] देह ही [भवति] है।

टीका:—जो आत्मा है वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है। यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्योंकी जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। वह स्तुति इसप्रकार है:—

अर्थ:—वे तीर्थंकर और आचार्य वन्दनीय हैं। कैसे हैं वे ? अपने शरीरकी कांतिसे दसों दिशाओंको धोते हैं—निर्मल करते हैं, अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिके तेजको ढक देते हैं, अपने रूपसे लोगोंके मनको हर लेते हैं, दिव्यध्वनिसे (भव्योंके) कानोंमें साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे एक हजार आठ लक्षणोंके धारक हैं। २४।

—इत्यादिरूपसे तीर्थंकरों-आचार्योंकी जो स्तुति है वह सब ही मिथ्या सिद्ध होती है। इसलिये हमारा तो यही एकान्त निश्चय है कि जो आत्मा है वही शरीर है, पुद्गलद्रव्य है। इसप्रकार अप्रतिबुद्धने कहा।

आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; तू नयविभागको नहीं जानता। जो नयविभाग इसप्रकार है उसे गाथा द्वारा कहते हैं:—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः॥ २७॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेति। एवं हि किल नयविभागः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम्।

गाथा २७

अन्वयार्थः—[व्यवहारनयः] व्यवहारनय तो [भाषते] यह कहता है कि [जीवः देहः च] जीव और शरीर [एकः खलु] एक ही [भवति] है; [तु] किन्तु [निश्चयस्य] निश्चयनयके अभिप्रायसे [जीवः देहः च] जीव और शरीर [कदा अपि] कभी भी [एकार्थः] एक पदार्थ [न] नहीं हैं।

टीकाः—जैसे इस लोकमें सोने और चाँदीको गलाकर एक कर देनेसे एक पिंडका व्यवहार होता है उसीप्रकार आत्मा और शरीरकी परस्पर एक क्षेत्रमें रहनेकी अवस्था होनेसे एकपनेका व्यवहार होता है। यों व्यवहारमात्रसे ही आत्मा और शरीरका एकपना है, परन्तु निश्चयसे एकपना नहीं है, क्योंकि निश्चयसे देखा जाये तो, जैसे पीलापन आदि और सफेदी आदि जिसका स्वभाव है ऐसे सोने और चाँदीमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे उनमें एकपदार्थपनेकी असिद्धि है, इसलिये अनेकत्व ही है, इसीप्रकार उपयोग और अनुपयोग जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मा और शरीरमें अत्यन्त भिन्नता होनेसे एकपदार्थपनेकी असिद्धि है इसलिये अनेकत्व ही है। ऐसा यह प्रगट नयविभाग है। इसलिये व्यवहारनयसे ही शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन होता है।

भावार्थः—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीरको एक कहता है और निश्चयनयसे भिन्न है। इसलिये व्यवहारनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन माना जाता है।

जीव देह दोनों एक हैं, यह वचन है व्यवहार का।
निश्चयविषैं तो जीव देह, कदापि एक पदार्थ ना॥ २७॥

तथा हि—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

इदमन्यत् जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥ २८ ॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम् । निश्चयनयेन तु शरीर-

---

यही बात इस गाथामें कहते हैं:—

गाथा २८

अन्वयार्थः—[**जीवात् अन्यत्**] जीवसे भिन्न [**इदम् पुद्गलमयं देहं**] इस पुद्गलमय देहकी [**स्तुत्वा**] स्तुति करके [**मुनिः**] साधु [**मन्यते खलु**] ऐसा मानते हैं कि [**मया**] मैंने [**केवली भगवान्**] केवली भगवानकी [**स्तुतः**] स्तुति की और [**वंदितः**] वन्दना की ।

टीकाः—जैसे, परमार्थसे सफेदी सोनेका स्वभाव नहीं है, फिर भी चाँदीका जो श्वेत गुण है, उसके नामसे सोनेका नाम 'श्वेत स्वर्ण' कहा जाता है यह व्यवहारमात्रसे ही कहा जाता है; इसीप्रकार, परमार्थसे शुक्ल-रक्तता तीर्थंकर-केवलीपुरुषका स्वभाव न होने पर भी, शरीरके गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं, उसके स्तवनसे तीर्थंकर-केवलीपुरुषका 'शुक्ल-रक्त तीर्थंकरकेवलीपुरुष'के रूपमें स्तवन किया जाता है वह व्यवहारमात्रसे ही किया जाता है। किन्तु निश्चयनयसे शरीरका स्तवन करनेसे आत्माका स्तवन नहीं हो सकता।

भावार्थः—यहाँ कोई प्रश्न करे कि—व्यवहारनय तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है तब व्यवहाराश्रित जड़की स्तुतिका क्या फल है ? उसका उत्तर यह है:—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चयको प्रधान करके असत्यार्थ कहा है। और छद्मस्थको अपना, परका आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता, शरीर दिखाई देता है, उसकी शान्तरूप मुद्राको देखकर अपनेको भी शांत भाव होते हैं। ऐसा उपकार समझकर शरीरके आश्रयसे

जीवसे जुदा पुद्गलमयी, इस देहकी स्तवना करी ।
माने मुनी जो केवली, वंदन हुआ स्तवना हुई ॥ २८ ॥

स्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ।

तथा हि—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥ २९ ॥

यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकर-केवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ।

भी स्तुति करता है; तथा शांत मुद्राको देखकर अन्तरंगमें वीतराग भावका निश्चय होता है यह भी उपकार है ।

ऊपरकी बातको गाथामें कहते हैं:—

गाथा २९

अन्वयार्थः—[तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चयमें [न युज्यते] योग्य नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीरके गुण [केवलिनः] केवलीके [न भवंति] नहीं होते; [यः] जो [केवलिगुणान्] केवलीके गुणोंकी [स्तौति] स्तुति करता है, [सः] वह [तत्त्वं] परमार्थसे [केवलिनं] केवलीकी [स्तौति] स्तुति करता है ।

टीकाः—जैसे चाँदीका गुण जो सफेदपना, उसका सुवर्णमें अभाव है इसलिये निश्चयसे सफेदीके नामसे सोनेका नाम नहीं बनता, सुवर्णके गुण जो पीलापन आदि हैं उनके नामसे ही सुवर्णका नाम होता है; इसीप्रकार शरीरके गुण जो शुक्ल-रक्तता इत्यादि हैं उनका तीर्थंकर-केवलीपुरुषमें अभाव है इसलिये निश्चयसे शरीरके शुक्ल-रक्तता आदि गुणोंका स्तवन करनेसे तीर्थंकर-केवलीपुरुषका स्तवन नहीं होता है, तीर्थंकर-केवलीपुरुषके गुणोंका स्तवन करनेसे ही तीर्थंकर-केवलीपुरुषका स्तवन होता है ।

निश्चयविषें नहिं योग्य ये, नहिं देह गुण केवलि हि के ।
जो केवली गुणको स्तवे, परमार्थ केवलि वो स्तवे ॥ २९ ॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत्—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥ ३० ॥

तथा हि—

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव—

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा तो शरीरका अधिष्ठाता है इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्माका स्तवन निश्चयसे क्यों युक्त नहीं है ? उसके उत्तररूप दृष्टान्त सहित गाथा कहते हैं :—

गाथा ३०

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [नगरे] नगरका [वर्णिते अपि] वर्णन करने पर भी [राज्ञः वर्णना] राजाका वर्णन [न कृता भवति] नहीं किया जाता, इसीप्रकार [देहगुणे स्तूयमाने] शरीरके गुणका स्तवन करनेपर [केवलिगुणाः] केवलीके गुणोंका [स्तुताः न भवन्ति] स्तवन नहीं होता ।

टीका:—उपरोक्त अर्थका काव्य कहते हैं :—

अर्थः—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोटके द्वारा आकाशको ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), बगीचोंकी पंक्तियोंसे जिसने भूमितलको निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचोंसे पृथ्वी ढक गई है), और कोटके चारों ओरकी खाईके घेरेसे मानों पातालको पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) । २५ ।

इसप्रकार नगरका वर्णन करनेपर भी उससे राजाका वर्णन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि राजा उसका अधिष्ठाता है तथापि, वह राजा कोट-बाग-खाई आदिवाला नहीं है ।

रे ग्राम वर्णन करनसे, भूपाल वर्णन हो न ज्यों ।
त्यों देहगुणके स्तवनसे, नहिं केवलीगुण स्तवन हो ॥ ३० ॥

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ।

अथ निश्चयस्तुतिमाह । तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्—

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥

य इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥ ३१ ॥

इसीप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर तीर्थंकरका स्तवन नहीं होता यह भी श्लोक द्वारा कहते हैं:—

अर्थः—जिनेन्द्रका रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, जिसमें (जन्मसे ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और जो समुद्रकी भांति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है। २६।

इसप्रकार शरीरका स्तवन करनेपर भी उससे तीर्थंकर-केवलीपुरुषका स्तवन नहीं होता क्योंकि, यद्यपि तीर्थंकर-केवलीपुरुषके शरीरका अधिष्ठातृत्व है तथापि, सुस्थित सर्वांगता, लावण्य आदि आत्माके गुण नहीं हैं इसलिये तीर्थंकर-केवलीपुरुषके उन गुणोंका अभाव है।

अब, (तीर्थंकर-केवलीकी) निश्चयस्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायकके संकरदोषका परिहार करके स्तुति करते हैं:—

गाथा ३१

अन्वयार्थः—[यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियोंको [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक [आत्मानम्] आत्माको [जानाति] जानते हैं [तं] उन्हें, [ये निश्चिताः

कर इन्द्रियजय ज्ञान स्वभाव र, अधिक जाने आत्मको ।
निश्चयविषें स्थित साधुजन, भाषें जितेन्द्रिय उन्हींको ॥ ३१ ॥

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येंद्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षंति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन

साधवः] जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तवमें [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणंति] कहते हैं ।

टीका:—(जो द्रव्येन्द्रियों, भावेंद्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको—तीनोंको अपनेसे अलग करके समस्त अन्यद्रव्योंसे भिन्न अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे मुनि निश्चयसे जितेन्द्रिय हैं ।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्यायके वश जिसमें समस्त स्वपरका विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्माके साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणामको प्राप्त द्रव्येन्द्रियोंको तो निर्मल भेदाभ्यासकी प्रवीणतासे प्राप्त अन्तरंगमें प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभावके अवलम्बनके बलसे सर्वथा अपनेसे अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियोंको जीतना हुआ । भिन्न २ अपने २ विषयोंमें व्यापारभावसे जो विषयोंको खण्डखण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञानको खंडखंडरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियोंको, प्रतीतिमें आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्तिके द्वारा सर्वथा अपनेसे भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियोंका जीतना हुआ । ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले सम्बन्धकी निकटताके कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुवे, इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको, अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आनेवाली असंगताके द्वारा सर्वथा अपनेसे अलग किया; सो यह इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका जीतना हुआ । इसप्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको (तीनोंको) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होनेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा सर्व अन्यद्रव्योंसे परमार्थसे भिन्न ऐसे अपने आत्माका अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन हैं । (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है ।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्वके (समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ),

सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विंदंति ॥ ३२ ॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य[2] व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावक-

---

प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे सदा अन्तरंगमें प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप—ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंका और ज्ञायक-स्वरूप स्वयं आत्माका—दोनोंका अनुभव, विषयोंकी आसक्तिसे, एकसा होता था; जब भेदज्ञानसे भिन्नत्व ज्ञात किया तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना।)

अब, भाव्यभावक-संकरदोष दूर करके स्तुति कहते हैं:—

गाथा ३२

अन्वयार्थः—[यः तु] जो मुनि [मोहं] मोहको [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्माको [ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्य-द्रव्यभावोंसे अधिक [जानाति] जानता है [तं साधुं] उस मुनिको [परमार्थ-विज्ञायकाः] परमार्थके जाननेवाला [जितमोहं] जितमोह [विदंति] जानते हैं—कहते हैं।

टीका:—मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट

---

१. तदनुवृत्तस्य । २. भेदकेन ।

कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आतमा ।
परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन हि जितमोही कहा ॥ ३२ ॥

संकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावांतरेभ्यः परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

होता है तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है ऐसा जो अपना आत्मा—भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूर से ही अलग करनेसे इसप्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, समस्त भाव्य-भावक-संकरदोष दूर हो जानेसे एकत्वमें टंकोत्कीर्ण (निश्चल) और ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्योंके स्वभावोंसे होनेवाले सर्व अन्यभावोंसे परमार्थतः भिन्न अपने आत्माको जो (मुनि) अनुभव करते हैं वे निश्चयसे जितमोह (जिसने मोहको जीता है) जिन हैं। कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? समस्त लोकके ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतरूपसे सदा अन्तरंगमें प्रकाशमान, अविनाशी, अपनेसे ही सिद्ध और परमार्थरूप ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इसप्रकार भाव्यभावक भावके संकरदोषको दूर करके दूसरी निश्चयस्तुति है।

इस गाथासूत्रमें एक मोहका ही नाम लिया है; उसमें 'मोह' पदको बदलकर उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय रखकर ग्यारह सूत्र व्याख्यानरूप करना और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, तथा स्पर्शन—इन पाँचके सूत्रोंको इन्द्रियसूत्रके द्वारा अलग व्याख्यानरूप करना; इसप्रकार सोलह सूत्रोंको भिन्न भिन्न व्याख्यानरूप करना और इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना।

भावार्थः—भावक मोहके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे अपना आत्मा भाव्यरूप होता है उसे भेदज्ञानके बलसे भिन्न अनुभव करनेवाले जितमोह जिन हैं। यहाँ ऐसा आशय है कि श्रेणी चढ़ते हुए जिसे मोहका उदय अनुभवमें न रहे और जो अपने बलसे उपशमादि करके आत्मानुभव करता है उसे जितमोह कहा है। यहाँ मोहको जीता है; उसका नाश नहीं हुआ।

अब, भाव्यभावक भावके अभावसे निश्चयस्तुति बतलाते हैं:—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥ ३३ ॥

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनो-

---

गाथा ३३

अन्वयार्थः—[जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोहको जीत लिया है ऐसे साधुके [यदा] जब [क्षीणः मोहः] मोह क्षीण होकर सत्तामेंसे नष्ट [भवेत्] हो [तदा] तब [निश्चयविद्भिः] निश्चयके जाननेवाले [खलु] निश्चयसे [सः] उस साधुको [क्षीणमोहः] 'क्षीणमोह' नामसे [भण्यते] कहते हैं ।

टीका:—इस निश्चयस्तुतिमें पूर्वोक्त विधानसे आत्मामेंसे मोहका तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभावके द्वारा अन्यद्रव्यसे अधिक आत्माका अनुभव करनेसे जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभावकी भावनाका भलीभाँति अवलम्बन करनेसे मोहकी संततिका ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो—इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोहका क्षय होनेसे आत्माके विभावरूप भाव्यभावकका अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भावका अभाव होनेसे एकत्व होनेसे टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्माको प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है । यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पदको बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श—इन पदोंको रखकर सोलह सूत्रोंका व्याख्यान करना और इसप्रकारके उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

जिन मोह साधु पुरुषका जब, मोह क्षय हो जाय है ।
परमार्थविज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उनको कहे ॥ ३३ ॥

वचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

* शार्दूलविक्रीडित *

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ।। २७ ।।

* मालिनी *

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्याऽत्यंतमुच्छादितायाम् ।

भावार्थः—साधु पहले अपने बलसे उपशम भावके द्वारा मोहको जीतकर, फिर जब अपनी महा सामर्थ्यसे मोहको सत्तामेंसे नष्ट करके ज्ञानस्वरूप परमात्माको प्राप्त होते हैं तब वे क्षीणमोह जिन कहलाते हैं ।

अब यहाँ इस निश्चय-व्यवहाररूप स्तुतिके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—शरीर और आत्माके व्यवहारनयसे एकत्व है किन्तु निश्चयनयसे नहीं है; इसलिये शरीरके स्तवनसे आत्मा-पुरुषका स्तवन व्यवहारनयसे हुआ कहलाता है, निश्चयनयसे नहीं; निश्चयसे तो चैतन्यके स्तवनसे ही चैतन्यका स्तवन होता है । उस चैतन्यका स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह—इत्यादिरूपसे कहा वैसा है । अज्ञानीने तीर्थंकरके स्तवनका जो प्रश्न किया था उसका इसप्रकार नयविभागसे उत्तर दिया है; जिसके बलसे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीरमें निश्चयसे एकत्व नहीं है ।

अब फिर, इस अर्थके जाननेसे भेदज्ञानकी सिद्धि होती है इस अर्थका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिन्होंने वस्तुके यथार्थ स्वरूपको परिचयरूप किया है ऐसे मुनियोंने जब आत्मा और शरीरके एकत्वको इसप्रकार नयविभागकी युक्तिके द्वारा जड़मूलसे उखाड़ फेंका है—उसका अत्यन्त निषेध किया है, तब अपने निजरसके वेगसे आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर किस पुरुषको वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपनेको प्राप्त न होगा ? अवश्य ही होगा ।

भावार्थः—निश्चय-व्यवहारनयके विभागसे आत्मा और परका अत्यन्त भेद बताया

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ।

एवमयमनादिमोहसंतान निरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥ ३४ ॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥ ३४ ॥

है, उसे जानकर, ऐसा कौन पुरुष है जिसे भेदज्ञान न हो ? होता ही है; क्योंकि जब ज्ञान अपने स्वरससे स्वयं अपने स्वरूपको जानता है, तब अवश्य ही वह ज्ञान अपने आत्माको परसे भिन्न ही बतलाता है। कोई दीर्घ संसारी ही हो तो उसकी यहाँ कोई बात नहीं है। २८।

इसप्रकार, अप्रतिबुद्धने जो यह कहा था कि—"हमारा तो यह निश्चय है कि शरीर ही आत्मा है" उसका निराकरण किया।

इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनादिकालीन मोहके संतानसे निरूपित आत्मा और शरीरके एकत्वके संस्कारसे अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था वह अब तत्त्वज्ञानस्वरूप ज्योतिके प्रगट उदय होनेसे नेत्रके विकारीकी भाँति (जैसे किसी पुरुषकी आँखोंमें विकार था तब उसे वर्णादिक अन्यथा दीखते थे और जब नेत्र विकार दूर हो गया तब वे ज्योंके त्यों-यथार्थ दिखाई देने लगे, इसीप्रकार) पटल समान आवरणकर्मोंके भलीभाँति उघड़ जानेसे प्रतिबुद्ध हो गया और साक्षात् द्रष्टा आपको अपनेमें ही जानकर तथा श्रद्धान करके उसीका आचरण करनेका इच्छुक होता हुआ पूछता है कि 'इस आत्मारामको अन्य द्रव्योंका प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है ?' उसको आचार्य इसप्रकार कहते हैं कि:—

गाथा ३४

अन्वयार्थः—[यस्मात्] जिससे [सर्वान् भावान्] अपने अतिरिक्त

सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावोंका करे ।
इससे नियमसे जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥ ३४ ॥

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टांत इत्यत आह—

सर्व पदार्थोंको [परान्] पर हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] प्रत्याख्यान करता है—त्याग करता है, [तस्मात्] उससे, [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान [ज्ञानं] ज्ञान ही है [नियमात्] ऐसा नियमसे [ज्ञातव्यम्] जानना । अपने ज्ञानमें त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं ।

टीका:—यह भगवान ज्ञाता-द्रव्य (आत्मा) है वह अन्य द्रव्यके स्वभावसे होनेवाले अन्य समस्त परभावोंको, उनके अपने स्वभावभावसे व्याप्त न होनेसे पररूप जानकर, त्याग देता है; इसलिये जो पहले जानता है वही बादमें त्याग करता है, अन्य तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है—इसप्रकार आत्मामें निश्चय करके, प्रत्याख्यानके (त्यागके) समय प्रत्याख्यान करनेयोग्य परभावकी उपाधिमात्रसे प्रवर्तमान त्यागके कर्तृत्वका नाम (आत्माके) होने पर भी, परमार्थसे देखा जाये तो परभावके त्याग-कर्तृत्वका नाम अपनेमें नहीं है, स्वयं तो इस नामसे रहित है क्योंकि ज्ञानस्वभावसे स्वयं छूटा नहीं है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

भावार्थ:—आत्माको परभावके त्यागका कर्तृत्व है वह नाममात्र है । वह स्वयं तो ज्ञानस्वभाव है । परभावको पर जाना, और फिर परभावका ग्रहण न करना सो यही त्याग है । इसप्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है ।

अब यहाँ यह प्रश्न होता है कि ज्ञाताका प्रत्याख्यान, ज्ञान ही कहा है, तो उसका दृष्टान्त क्या है ? उसके उत्तरमें दृष्टान्त-दार्ष्टांतरूप गाथा कहते हैं:—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ॥ ३५ ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तया सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुंचति ज्ञानी ॥ ३५ ॥

यथा हि [1]कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय [2]शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो [3]मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा

गाथा ३५

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे लोकमें [कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष [परद्रव्यम् इदम् इति ज्ञात्वा] परवस्तुको 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जान कर [त्यजति] परवस्तुका त्याग करता है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [सर्वान्] समस्त [परभावान्] परद्रव्योंके भावोंको [ज्ञात्वा] 'यह परभाव हैं' ऐसा जानकर [विमुंचति] उनको छोड़ देता है।

टीका:—जैसे—कोई पुरुष धोबीके घरसे भ्रमवश दूसरेका वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी (—यह वस्त्र दूसरेका है ऐसे ज्ञानसे रहित) हो रहा है, (किन्तु) जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्रका छोर (पल्ला) पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि—'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदलेमें आगया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे,' तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्रके) सर्व चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरेका ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस (दूसरेके) वस्त्रको शीघ्र ही त्याग देता है। इसीप्रकार—ज्ञाता भी भ्रम वश परद्रव्यके भावोंको ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपनेमें एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है; जब श्री गुरु परभावका विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्म-

---

१ कोऽपि इत्यपि ग. पुस्तके पाठः । २ सुप्यमानः । ३ झटिति ।

ये और का है जानकर, परद्रव्यको को नर तजे ।
त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥ ३५ ॥

ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।

* मालिनी *

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

भावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तवमें एक (ज्ञानमात्र) ही है, (अन्य सर्व परद्रव्यके भाव हैं),' तब बारम्बार कहे गये इस आगमके वाक्यको सुनता हुआ वह, समस्त (स्व-परके) चिह्नोंसे भलीभाँति परीक्षा करके, 'अवश्य यह परभाव ही हैं, (मैं एक ज्ञानमात्र ही हूँ)' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावोंको तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थः—जबतक परवस्तुको भूलसे अपनी समझता है तभीतक ममत्व रहता है; और जब यथार्थ ज्ञान होनेसे परवस्तुको दूसरेकी जानता है तब दूसरेकी वस्तुमें ममत्व कैसे रहेगा ? अर्थात् नहीं रहे यह प्रसिद्ध है।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि, पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेगसे जबतक प्रवृत्तिको प्राप्त न हो, उससे पूर्व ही तत्काल सकल अन्यभावोंसे रहित स्वयं ही यह अनुभूति प्रगट हो जाती है।

भावार्थः—यह परभावके त्यागका दृष्टांत कहा उस पर दृष्टि पड़े उससे पूर्व, समस्त अन्य भावोंसे रहित अपने स्वरूपका अनुभव तो तत्काल हो गया; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि वस्तुको परकी जान लेनेके बाद ममत्व नहीं रहता। २९।

अब, 'इस अनुभूतिसे परभावका भेदज्ञान कैसे हुआ ?' ऐसी आशंका करके, पहले तो जो भावकभाव—मोहकर्मके उदयरूप भाव, उसके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विंदंति ॥ ३६ ॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानटंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति । किं चैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः

गाथा ३६

* अन्वयार्थः—[बुध्यते] जो यह जाने कि [मोहः मम कः अपि नास्ति] 'मोह मेरा कोई भी (संबंधी) नहीं है, [एकः उपयोगः एव अहम्] एक उपयोग ही मैं हूँ'—[तं] ऐसे जाननेको [समयस्य] सिद्धान्तके अथवा स्वपर स्वरूपके [विज्ञायकाः] जाननेवाले [मोहनिर्ममत्वं] मोहसे निर्ममत्व [विंदंति] जानते हैं, कहते हैं ।

टीका:—निश्चयसे, (यह मेरे अनुभवमें) फलदानकी सामर्थ्यसे प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्यसे रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभावका परमार्थसे परके भाव द्वारा [१]भाना अशक्य है । और यहाँ स्वयमेव, विश्वको (समस्त वस्तुओंको) प्रकाशित करनेमें चतुर और विकासरूप ऐसी, निरन्तर शाश्वत् प्रतापसम्पत्तियुक्त है; ऐसा चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभावके द्वारा, भगवान आत्मा ही जानता है कि—परमार्थसे मैं एक हूँ इसलिये, यद्यपि समस्त द्रव्योंके परस्पर साधारण अवगाहका (-एकक्षेत्रावगाहका) निवारण करना अशक्य होनेसे मेरा आत्मा और जड़,

* इस गाथाका दूसरा अर्थ यह भी है कि:—'किंचित्मात्र मोह मेरा नहीं है, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही (-आत्मा ही) जाने, उस उपयोगको (-आत्माको) समयके जाननेवाले मोहके प्रति निर्मम (ममता रहित) कहते हैं ।

१ भाना = भाव्यरूप करना; बनाना ।

कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं ।
इस ज्ञानको ज्ञायक समयके, मोहनिर्ममता कहे ॥ ३६ ॥

ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

* स्वागता *

[१]सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचन-

---

श्रीखंडकी भाँति, एकमेक हो रहे हैं तथापि, श्रीखंडकी भाँति, स्पष्ट अनुभवमें आनेवाले स्वादके भेदके कारण, मैं मोहके प्रति निर्मम ही हूँ; क्योंकि सदा अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्योंका त्यों ही स्थित रहता है। (दही और शक्कर मिलानेसे श्रीखंड बनता है उसमें दही और शक्कर एक जैसे मालूम होते हैं तथापि प्रगटरूप खट्टे-मीठे स्वादके भेदसे भिन्न भिन्न जाने जाते हैं; इसीप्रकार द्रव्योंके लक्षण भेदसे जड़-चेतनके भिन्न २ स्वादके कारण ज्ञात होता है कि मोहकर्मके उदयका स्वाद रागादिक है वह चैतन्यके निजस्वभावके स्वादसे भिन्न ही है।) इसप्रकार भावकभाव जो मोहका उदय उससे भेदज्ञान हुवा।

भावार्थः—यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है; वह भाव भी, मोहकर्मका भाव होनेसे, पुद्गलका ही विकार है। यह भावकका भाव जब चैतन्यके उपयोगके अनुभवमें आता है तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्यकी शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र है और यह कलुषता रागद्वेषमोहरूप है वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्यकी है,' तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोहके भाव उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्यके अनुभवरूप स्थित होता है।

अब इस अर्थका द्योतक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस लोकमें मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूपका अनुभव करता हूँ, जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्यके परिणमनसे पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्यके समूहरूप तेजःपुंजका निधि हूँ। (भावभावकके भेदसे ऐसा अनुभव करे।) ।३०।

---

१ असंख्येयेष्वपि प्रदेशेषु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः सम्पूर्णो भावः स्वरूपं यस्य ।

कायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३७ ॥

नास्ति मम धर्मादिर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विंदंति ॥ ३७ ॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोंतस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो

इसीप्रकार गाथामें जो 'मोह' पद है उसे बदलकर, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन—इन सोलह पदोंके भिन्न २ सोलह गाथासूत्र व्याख्यान करना, और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

अब ज्ञेयभावके भेदज्ञानका प्रकार कहते हैं:—

गाथा ३७

* अन्वयार्थ:—[बुध्यते] यह जाने कि [धर्मादिः] 'यह धर्म आदि द्रव्य [मम नास्ति] मेरे कुछ भी नहीं लगते, [एकः उपयोगः एव] एक उपयोग ही [अहम्] मैं हूँ'—[तं] ऐसा जाननेको [समयस्य विज्ञायकाः] सिद्धान्तके अथवा स्वपरके स्वरूपरूप समयके जाननेवाले [धर्मनिर्ममत्वं] धर्मद्रव्यके प्रति निर्ममत्व [विंदंति] जानते हैं—कहते हैं ।

टीका:—अपने निजरससे जो प्रगट हुई है, जिसका विस्तार अनिवार है तथा समस्त पदार्थोंको ग्रसित करनेका जिसका स्वभाव है ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्तिके द्वारा ग्रासीभूत किये जानेसे, मानों अत्यन्त अंतर्मग्न हो रहे हों—ज्ञानमें तदाकार होकर डूब रहे हों इस-

---

* इस गाथाका अर्थ ऐसा भी होता है.—'धर्म आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं, मैं एक हूँ' ऐसा उपयोग ही जाने, उस उपयोगको समयके जाननेवाले धर्म प्रति निर्मम कहते हैं ।

धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ,
—इम ज्ञानको, ज्ञायक समयके धर्मनिर्ममता कहे ॥३७॥

वहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति । किं चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।

* मालिनी *

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

प्रकार आत्मामें प्रकाशमान यह धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—ये समस्त परद्रव्य मेरे सम्बन्धी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्वसे परमार्थतः अंतरंगतत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले होनेसे परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपताको छोड़नेके लिये असमर्थ हैं (क्योंकि वे अपने स्वभावका अभाव करके ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते)। और यहाँ स्वयमेव, (चैतन्यमें) नित्य उपयुक्त और परमार्थसे एक, अनाकुल आत्माका अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि—मैं प्रगट निश्चयसे एक ही हूँ, इसलिये ज्ञेयज्ञायकभावमात्रसे उत्पन्न परद्रव्योंके साथ परस्पर मिलन होनेपर भी, प्रगट स्वादमें आते हुये स्वभावके कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवोंके प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्वमें प्राप्त होनेसे समय (आत्मपदार्थ अथवा प्रत्येक पदार्थ) ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है; (अपने स्वभावको कोई नहीं छोड़ता)। इसप्रकार ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान हुआ।

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार पूर्वोक्तरूपसे भावकभाव और ज्ञेयभावोंसे भेदज्ञान होनेपर जब सर्व अन्यभावोंसे भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्माको ही धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शनज्ञानचारित्रसे जिसने परिणति की है ऐसा, अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता।

भावार्थः—सर्व परद्रव्योंसे तथा उनसे उत्पन्न हुए भावोंसे जब भेद जाना तब उपयोगके रमणके लिये अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा। इसप्रकार दर्शनज्ञान-चारित्रके साथ एकरूप हुआ वह आत्मामें ही रमण करता है ऐसा जानना। ३१।

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावै-

---

अब, इसप्रकार दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत आत्माको स्वरूपका संचेतन कैसा होता है यह कहते हुए आचार्य इस कथनको समेटते हैं:—

गाथा ३८

अन्वयार्थः—दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि : [खलु] निश्चयसे [अहम्] मैं [एकः] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय हूँ, [सदा अरूपी] सदा अरूपी हूँ; [किंचित् अपि अन्यत्] किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [मम न अपि अस्ति] मेरा नहीं है यह निश्चय है।

टीकाः—जो, अनादि मोहरूप अज्ञानसे उन्मत्तताके कारण अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था और विरक्त गुरुसे निरन्तर समझाये जानेपर जो किसी प्रकारसे समझकर, सावधान होकर, जैसे कोई (पुरुष) मुट्ठीमें रखे हुए सोनेको भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोनेको देखे इस न्यायसे, अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्यके धारक) आत्माको भूल गया था उसे जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके (-उसमें तन्मय होकर) जो सम्यक् प्रकारसे एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि-मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभवसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है; चिन्मात्र आकारके कारण मैं समस्त

मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे ! ॥ ३८ ॥

श्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नरनारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवर-निर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतवि-विक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्र-स्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनः-प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्।

क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावोंसे भेदरूप नहीं होता इसलिये मैं एक हूँ; नर, नारक आदि जीवके विशेष; अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष-स्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं उनसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावरूप भावके द्वारा, अत्यन्त भिन्न हूँ इसलिये मैं शुद्ध हूँ; चिन्मात्र होनेसे सामान्य-विशेष उपयोगात्मकताका उल्लंघन नहीं करता इसलिये मैं दर्शनज्ञानमय हूँ; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण जिसका निमित्त है ऐसे संवेदनरूप परिणमित होनेपर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं हुआ इसलिये पर-मार्थसे मैं सदा ही अरूपी हूँ। इसप्रकार सबसे भिन्न ऐसे स्वरूपका अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवंत हूँ। इसप्रकार प्रतापवंत वर्तते हुवे ऐसे मुझे, यद्यपि (मुझसे) बाह्य अनेक प्रकारकी स्वरूप-सम्पदाके द्वारा समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तथापि, कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूपसे मेरे साथ एक होकर पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरससे ही मोहको मूलसे उखाड़कर—पुनः अंकुरित न हो इसप्रकार नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

भावार्थः—आत्मा अनादि कालसे मोहके उदयसे अज्ञानी था, वह श्री गुरुओंके उपदेशसे और स्व-काललब्धिसे ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूपको परमार्थसे जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ। ऐसा जाननेसे मोहका समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभावसे भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसंपदा अनुभवमें आई; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है? नहीं हो सकता।

अब, ऐसा जो आत्मानुभव हुआ उसकी महिमा कहकर आचार्यदेव प्रेरणारूप काव्य कहते हैं कि—ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मामें समस्त लोक निमग्न हो जाओः—

* वसन्ततिलका *

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।

अर्थः—यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादरको समूलतया डुबोकर (दूर करके) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, इसलिये अब समस्त लोक उसके शांत रसमें एक साथ ही अत्यन्त मग्न हो जाओ जो शांत रस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थः—जैसे समुद्रके आड़े कुछ आ जाये तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है तब जल प्रगट होता है; वह प्रगट होनेपर, लोगोंको प्रेरणायोग्य होता है कि 'इस जलमें सभी लोग स्नान करो'; इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रमसे आच्छादित था तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जानेसे यथास्वरूप (ज्योंका त्यों स्वरूप) प्रगट हो गया; इसलिये 'अब उसके वीतराग विज्ञानरूप शांतरसमें एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ' इसप्रकार आचार्यदेवने प्रेरणा की है। अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्माका अज्ञान दूर होता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होनेपर समस्त लोकमें रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञानमें झलकते हैं उसे समस्त लोक देखो ।३२।

इसप्रकार इस समयप्राभृतग्रंथमें प्रथम जीवाजीवाधिकारमें टीकाकारने पूर्वरंगस्थल कहा।

यहाँ टीकाकारका यह आशय है कि इस ग्रंथको अलंकारसे नाटकरूपमें वर्णन किया है। नाटकमें पहले रंगभूमि रची जाती है। वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं जो विविध प्रकारके स्वाँग रखते हैं तथा शृङ्गारादिक आठ रसोंका रूप दिखलाते हैं। वहाँ शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत—यह आठ रस लौकिक रस हैं; नाटकमें इन्हींका अधिकार है। नवमा शांत रस है जो कि अलौकिक है; नृत्यमें उसका अधिकार नहीं है। इन रसोंके स्थायी भाव, सात्विक भाव, अनुभावी भाव, व्यभिचारी भाव, और उनकी दृष्टि आदिका वर्णन रसग्रन्थोंमें है वहाँसे जान लेना। सामान्यतया रसका यह स्वरूप है कि ज्ञानमें जो ज्ञेय आया उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुषका भाव लीन हो जाय और अन्य ज्ञेयकी इच्छा नहीं रहे सो रस है। उन आठ रसोंका रूप नृत्यमें नृत्यकार बतलाते हैं; और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर

आस्राव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥ ३२ ॥
इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः ।

जब अन्य रसको अन्य रसके समान कर भी वर्णन करते हैं तब अन्य रसका अन्य रस अंगभूत होनेसे तथा अन्यभाव रसोंका अंग होनेसे, रसवत् आदि अलंकारसे उसे नृत्यरूपमें वर्णन किया जाता है।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यक्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषोंकी सभा है, उनको दिखलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनोंका एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वांग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं,—आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य है। वहाँ सम्यक्दृष्टि दर्शक जीव-अजीवके भिन्न स्वरूपको जानता है; वह तो इन सब स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शांत रसमें ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीवके भेद नहीं जानते इसलिये वे इन स्वांगोंको ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। उन्हें सम्यक्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शांतरसमें लीन करके सम्यक्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूपमें रंगभूमिके अन्तमें आचार्यने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोककी रचना की है, वह अब जीव-अजीवके स्वांगका वर्णन करेंगे इसका सूचक है ऐसा आशय प्रगट होता है। इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमिका वर्णन किया है।

नृत्य कुतूहल तत्त्वको, मरियवि देखो धाय।
निजानंद रसमें छको, आन सबै छिटकाय ॥

इसप्रकार जीवाजीवाधिकारमें पूर्वरंग समाप्त हुआ।

* * * * *

* शार्दूलविक्रीड़ित *

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामम‌नंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः—

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य—वे दोनों एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं। इसके प्रारम्भमें मंगलके आशयसे (काव्य द्वारा) आचार्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं कि सर्व वस्तुओंको जाननेवाला यह ज्ञान है वह जीव-अजीवके सर्व स्वाँगोंको भलीभाँति पहिचानता है। ऐसा (सभी स्वाँगोंको जाननेवाला) सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है—इस अर्थरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञान है वह मनको आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव-अजीवके स्वाँगको देखनेवाले महापुरुषोंके जीव-अजीवके भेदको देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टिके द्वारा भिन्न द्रव्यकी प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। अनादि संसारसे जिनका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके नाशसे विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है—जैसे फूलकी कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है। और उसका रमण करनेका क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयोंके आकार आकर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूपमें ही रमता है, उसका प्रकाश अनन्त है, और वह प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है। तथा वह धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिये अनाकुल है—सर्व इच्छाओंसे रहित निराकुल है। (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल—यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्यके आभूषण जानना।) ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थः—यह ज्ञानकी महिमा कही। जीव अजीव एक होकर रंगभूमिमें प्रवेश करते हैं उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे नृत्यमें कोई स्वांग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूपमें जान ले (पहिचान ले) तो वह स्वांगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूपको जैसाका तैसा ही कर लेता है उसीप्रकार यहाँ भी समझना। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टि पुरुषोंको होता है; मिथ्यादृष्टि इस भेदको नहीं जानते। ३३।

अब जीव-अजीवका एकरूप वर्णन करते हैं:—

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभायमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाइहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥ ३९ ॥
अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगं जीवम् ।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥ ४० ॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥ ४१ ॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥ ४३ ॥

गाथा ३९-४०-४१-४२-४३

अन्वयार्थः—[आत्मानम् अजानंतः] आत्माको न जानते हुए [परात्मवादिनः] परको आत्मा कहनेवाले [केचित् मूढाः तु] कोई मूढ, मोही,

को मूढ़, आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है,
'है कर्म, अध्यवसान ही जीव' यों हि वो कथनी करे ॥३९॥
अरु कोई अध्यवसानमें, अनुभाग तीक्षण मंद जो ।
उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को नोकर्मको ॥४०॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति। नैसर्गिकरागद्वेषकल्मा-

---

अज्ञानी तो [अध्यवसानं] अध्यवसानको [तथा च] और कोई [कर्म] कर्मको [जीवम् प्ररूपयंति] जीव कहते हैं। [अपरे] अन्य कोई [अध्यवसानेषु] अध्यवसानोंमें [तीव्रमंदानुभागगं] तीव्रमंद अनुभागगतको [जीवं मन्यंते] जीव मानते हैं [तथा] और [अपरे] दूसरे कोई [नोकर्म अपि च] नोकर्मको [जीवः इति] जीव मानते हैं। [अपरे] अन्य कोई [कर्मणः उदयं] कर्मके उदयको [जीवम्] जीव मानते हैं, कोई '[यः] जो [तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां] तीव्रमंदतारूप गुणोंसे भेदको प्राप्त होता है [सः] वह [जीवः भवति] जीव है' इसप्रकार [कर्मानुभागम्] कर्मके अनुभागको [इच्छंति] जीव इच्छते हैं (-मानते हैं)। [केचित्] कोई [जीवकर्मोभयं] जीव और कर्म [द्वे अपि खलु] दोनों मिले हुओंको ही [जीवम् इच्छंति] जीव मानते है [तु] और [अपरे] अन्य कोई [कर्मणां संयोगेन] कर्मके संयोगसे ही [जीवम् इच्छंति] जीव मानते हैं। [एवंविधाः] इसप्रकारके तथा [बहुविधाः] अन्य भी अनेक प्रकारके [दुर्मेधसः] दुर्बुद्धि-मिथ्यादृष्टि जीव [परम्] परको [आत्मानं] आत्मा [वदंति] कहते हैं। [ते] उन्हें [निश्चयवादिभिः] निश्चयवादियोंने (-सत्यार्थवादियोंने) [परमार्थवादिनः] परमार्थवादी (-सत्यार्थवक्ता) [न निर्दिष्टाः] नही कहा है।

टीका:—इस जगत्में आत्माका असाधारण लक्षण न जाननेके कारण नपुंसकतासे अत्यन्त विमूढ़ होते हुये, तात्त्विक (परमार्थभूत) आत्माको न जाननेवाले बहुतसे अज्ञानी जन अनेक प्रकारसे परको भी आत्मा कहते हैं, बकते हैं। कोई तो ऐसा कहते हैं कि

को अन्य माने आतमा बस, कर्मके ही उदय को।
को तीव्रमंदगुणोंसहित, कर्मोंहिके अनुभागको ॥४१॥
को कर्म आतमा, उभय मिलकर जीवकी आशा धरें।
को कर्मके संयोगसे, अभिलाष आत्माकी करें ॥४२॥
दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आतमा परको, कहे।
वे सर्व नहिं परमार्थवादी, ये हि निश्चयविद् कहे ॥४३॥

पितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जि-

---

स्वाभाविक अर्थात् स्वयमेव उत्पन्न हुए राग-द्वेषके द्वारा मलिन जो अध्यवसान (मिथ्या अभिप्राय युक्त विभावपरिणाम) वह ही जीव है क्योंकि जैसे कालेपनसे अन्य अलग कोई कोयला दिखाई नहीं देता उसीप्रकार अध्यवसानसे भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता । १ । कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है ऐसी एक संसरणरूप (भ्रमणरूप) जो क्रिया है उस-रूपसे क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता । २ । कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभवसे भेदरूप होते हुए, दुरंत (जिसका अन्त दूर है ऐसा) रागरूप रससे भरे हुवे अध्यवसानोंकी संतति (परिपाटी) ही जीव है क्योंकि उससे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ३ । कोई कहता है कि नई और पुरानी अवस्था इत्यादि भावसे प्रवर्तमान नोकर्म ही जीव है क्योंकि इस शरीरसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ४ । कोई यह कहते हैं कि समस्त लोकको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता हुआ कर्मका विपाक ही जीव है क्योंकि शुभाशुभ भावसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ५ । कोई कहते हैं कि साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमन्दत्वगुणोंसे भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख-दुःखसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । ६ । कोई कहते हैं कि श्रीखण्डकी भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म, दोनों ही मिलकर जीव हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता । ७ । कोई कहते हैं कि अर्थक्रियामें (प्रयोजनभूत क्रियामें) समर्थ ऐसा जो कर्मका संयोग वह ही जीव है क्योंकि जैसे आठ लकड़ियोंके संयोगसे भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता इसीप्रकार कर्मोंके संयोगसे अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता । (आठ लकड़ियाँ मिलकर पलंग बना तब वह अर्थक्रियामें समर्थ हुआ; इसीप्रकार यहाँ भी जानना ।) ८ ।

-तावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशंति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते।

कुतः—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वच्चंति ॥४४॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥ ४४ ॥

इसप्रकार आठ प्रकार तो यह कहे और ऐसे ऐसे अन्य भी अनेक प्रकारके दुर्बुद्धि (विविध प्रकारसे) परको आत्मा कहते हैं; परन्तु परमार्थके ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं कहते।

भावार्थः—जीव-अजीव दोनों अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाहसंयोगरूपसे मिले हुए हैं, और अनादिकालसे ही पुद्गलके संयोगसे जीवकी अनेक विकारसहित अवस्थाएँ हो रही हैं। परमार्थदृष्टिसे देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावोंको नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदिको नहीं छोड़ता। परन्तु जो परमार्थको नहीं जानते वे संयोगसे हुवे भावोंको ही जीव कहते हैं क्योंकि पुद्गलसे भिन्न परमार्थसे जीवका स्वरूप सर्वज्ञको दिखाई देता है तथा सर्वज्ञकी परम्पराके आगमसे जाना जा सकता है, इसलिये जिनके मतमें सर्वज्ञ नहीं हैं वे अपनी बुद्धिसे अनेक कल्पनाएँ करके कहते हैं। उनमेंसे वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतोंके आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं, और अन्य भी अपनी २ बुद्धिसे अनेक कल्पनाएँ करके अनेक प्रकारसे कहते हैं सो उन्हें कहाँ तक कहा जाये?

ऐसा कहनेवाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं सो कहते हैं:—

गाथा ४४

अन्वयार्थः—[एते] यह पूर्वकथित अध्यवसान आदि [सर्वे भावाः] भाव हैं वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्यके परिणामसे उत्पन्न

पुद्गलदरव परिणामसे, उपजे हुए सब भाव ये।
सब केवलीजिन भाषिया, किस रीत जीव कहो उन्हें ॥४४॥

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः। एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः। न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्व-

---

हुए हैं इसप्रकार [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेवने [भणिताः] कहा है [ते] उन्हें [जीवः इति] जीव ऐसा [कथं उच्यंते] कैसे कहा जा सकता है?

टीका:—यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्वके (समस्त पदार्थोंके) साक्षात् देखनेवाले भगवान (वीतराग सर्वज्ञ) अरहंतदेवोंके द्वारा, पुद्गलद्रव्यके परिणाममय कहे गये हैं, इसलिये वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होनेके लिये समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्यभावसे शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्यसे अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है; इसलिये जो इन अध्यवसानादिकको जीव कहते हैं वे वास्तवमें परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभवसे उनका पक्ष बाधित है। उसमें, 'वे जीव नहीं हैं' यह सर्वज्ञका वचन है वह तो आगम है और यह (निम्नोक्त) स्वानुभवगर्भित युक्ति है:—स्वयमेव उत्पन्न हुए रागद्वेषके द्वारा मलिन अध्यवसान है वे जीव नहीं हैं क्योंकि, कालिमासे भिन्न सुवर्णकी भाँति; अध्यवसानसे भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे चैतन्यभावको प्रत्यक्ष भिन्न अनुभव करते हैं। १। अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्यका अवयव है ऐसी एक संसरणरूप क्रियाके रूपमें क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है क्योंकि कर्मसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। २। तीव्र-मंद अनुभवसे भेदरूप होनेपर, दुरंत रागरससे भरे हुये अध्यवसानोंकी संतति भी जीव नहीं है क्योंकि उस संततिसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। ३। नई पुरानी अवस्थादिकके भेदसे प्रवर्तमान

भावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामत्कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति ।

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः ।

नोकर्म भी जीव नहीं है क्योंकि शरीरसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे उसे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ४ । समस्त जगतको पुण्यपापरूपसे व्याप्त करता कर्मविपाक भी जीव नहीं है क्योंकि शुभाशुभ भावसे अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ५ । साता-असातारूपसे व्याप्त समस्त तीव्रमंदतारूप गुणोंके द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है क्योंकि सुखदुःखसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ६ । श्रीखण्डकी भाँति उभयात्मकरूपसे मिले हुए आत्मा और कर्म दोनों मिलकर भी जीव नहीं हैं क्योंकि सम्पूर्णतया कर्मोंसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ७ । अर्थक्रियामें समर्थ कर्मका संयोग भी जीव नहीं है क्योंकि, आठ लकड़ियोंके संयोगसे (-पलंगसे) भिन्न पलंगपर सोनेवाले पुरुषकी भाँति, कर्मसंयोगसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ८ । (इसीप्रकार अन्य किसी दूसरे प्रकारसे कहा जाये तो वहाँ भी यही युक्ति जानना ।)

[भावार्थः—चैतन्यस्वभावरूप जीव, सर्व परभावोंसे भिन्न, भेदज्ञानियोंके अनुभवगोचर है, इसलिये अज्ञानी जैसा मानते हैं वैसा नहीं है ।]

यहाँ पुद्गलसे भिन्न आत्माकी उपलब्धिके प्रति विरोध करनेवाले (-पुद्गलको ही आत्मा जाननेवाले) पुरुषको (उसकी हितरूप आत्मप्राप्तिकी बात कहकर) मिठासपूर्वक (समभावसे) ही इसप्रकार उपदेश करना यह काव्यमें बतलाते हैं:—

* मालिनी *

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ।।३४।।

कथंचिदन्वयप्रतिभासेऽप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।।४५।।

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विदंति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ।।४५।।

अर्थः—हे भव्य ! तुझे व्यर्थ ही कोलाहल करनेसे क्या लाभ है ? तू इस कोलाहलसे विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तुको स्वयं निश्चल लीन होकर देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे अपने हृदयसरोवरमें, उस आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं कि जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गलसे भिन्न है ?

भावार्थः—यदि अपने स्वरूपका अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है। यहाँ छह मासके अभ्यासकी बात कही है इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो अंतर्मुहूर्तमात्रमें ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्यको बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है। यदि समझनेमें अधिक काल लगे तो छहमाससे अधिक नहीं लगेगा; इसलिये यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहलका त्याग करके इसमें लग जानेसे शीघ्र ही स्वरूपकी प्राप्ति हो जायेगी ऐसा उपदेश है। ३४।

अब शिष्य पूछता है कि इन अध्यवसानादि भावोंको जीव नहीं कहा, अन्य चैतन्यस्वभावको जीव कहा; तो यह भाव भी कथंचित् चैतन्यके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिभासित होते हैं, (वे चैतन्यके अतिरिक्त जड़के तो दिखाई नहीं देते,) तथापि उन्हें पुद्गलका स्वभाव क्यों कहा ? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ४५

अन्वयार्थः—[अष्टविधम् अपि च] आठों प्रकारका [कर्म] कर्म

रे ! कर्म अष्ट प्रकारका, जिन सर्व पुद्गलमय कहे ।
परिपाकमें जिस कर्मका फल दुःख नाम प्रसिद्ध है ।। ४५ ।।

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं; तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

[सर्वं] सब [पुद्गलमयं] पुद्गलमय है ऐसा [जिनाः] जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव [विदंति] कहते हैं—[यस्य विपच्यमानस्य] जो पक्व होकर उदयमें आनेवाले कर्मका [फलं] फल [तत्] प्रसिद्ध [दुःखम्] दुःख है [इति उच्यते] ऐसा कहा है।

टीका:—अध्यवसानादि समस्त भावोंको उत्पन्न करनेवाला जो आठों प्रकारका ज्ञानावरणादि कर्म है वह सभी पुद्गलमय है ऐसा सर्वज्ञका वचन है। विपाककी मर्यादाको प्राप्त उस कर्मके फलरूपसे जो कहा जाता है वह, (अर्थात् कर्मफल) अनाकुलतालक्षण-सुखनामक आत्मस्वभावसे विलक्षण है इसलिये, दुःख है। उस दुःखमें ही आकुलतालक्षण अध्यवसानादि भाव समाविष्ट हो जाते हैं, इसलिये, यद्यपि वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं तथापि, वे आत्मस्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गलस्वभाव हैं।

भावार्थ.—जब कर्मोदय आता है तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है और दुःखरूप भाव है वह अध्यवसान है इसलिये दुःखरूप भावोंमें (-अध्यवसानमें) चेतनताका भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थसे दुःखरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है इसलिये जड़ ही है।

अब प्रश्न होता है कि यदि अध्यवसानादि भाव हैं वे पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञके आगममें उन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है? उसके उत्तरस्वरूप गाथासूत्र कहते हैं:—

गाथा ४६

अन्वयार्थ:—[एते सर्वे] यह सब [अध्यवसानादयः भावाः]

व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेवके उपदेशमें।
ये सर्व अध्यवसान आदिक, भावको जँह जिव कहे ॥४६॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।

अध्यवसानादि भाव [जीवाः] जीव हैं इसप्रकार [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश दिया है सो [व्यवहारस्य दर्शनम्] व्यवहारनय दिखाया है ।

टीका:—यह सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेवने कहा है वह, यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि, व्यवहारनयको भी बताया है; क्योंकि जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है उसीप्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है इसलिये, अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिये वह (व्यवहारनय) बतलाना न्यायसंगत ही है । परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो, परमार्थसे (–निश्चयनयसे) शरीरसे जीवको भिन्न बताया जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसीप्रकार, त्रसस्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देने—कुचल देने (घात करने) में भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बंधका ही अभाव सिद्ध होगा; तथा परमार्थके द्वारा जीव रागद्वेषमोहसे भिन्न बताया जानेपर भी, 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मसे बँधता है उसे छुड़ाना'—इसप्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा और इससे मोक्षका ही अभाव होगा । (इसप्रकार यदि व्यवहारनय न बताया जाय तो बन्ध मोक्षका ही अभाव ठहरता है ।)

भावार्थ:—परमार्थनय तो जीवको शरीर तथा रागद्वेषमोहसे भिन्न कहता है । यदि इसीका एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा रागद्वेषमोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गलका घात करनेसे हिंसा नहीं होगी तथा रागद्वेषमोहसे बन्ध नहीं होगा । इसप्रकार, परमार्थसे जो संसार मोक्ष दोनोंका अभाव कहा है एकान्तसे यह ही ठहरेगा, किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तुका स्वरूप नहीं है; अवस्तुका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण अवस्तुरूप ही है । इसलिये व्यवहारनयका उपदेश न्यायप्राप्त है । इसप्रकार स्याद्वादसे दोनों नयोंका विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है ।

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम् ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

अब शिष्य पूछता है कि व्यवहारनय किस दृष्टान्तसे प्रवृत्त हुआ है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४७–४८

अन्वयार्थः—जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहां [राजा खलु निर्गतः] 'यह राजा निकला' [इति एषः] इसप्रकार जो यह [बलसमुदयस्य] सेनाके समुदायको [आदेशः] कहा जाता है सो वह [व्यवहारेण तु उच्यते] व्यवहारसे कहा जाता है, [तत्र] उस सेनामें (वास्तवमें) [एकः निर्गतः राजा] राजा तो एक ही निकला है; [एवम् एव च] इसीप्रकार [अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्] अध्यवसानादि अन्य भावोंको [जीवः इति] '(यह) जीव है' इसप्रकार [सूत्रे] परमागममें कहा है सो [व्यवहारः कृतः] व्यवहार किया है, [तत्र निश्चितः] यदि निश्चयसे विचार किया जाये तो उनमें [जीवः एकः] जीव तो एक ही है ।

"निर्गमन इस नृपका हुआ,"—निर्देश सैन्यसमूहमें ।
व्यवहारसे कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है ॥४७॥
त्यों सर्व अध्यवसान आदिक, अन्यभाव जु जीव है ।
—शास्त्रन किया व्यवहार, पर वहाँ जीव निश्चय एक है ॥४८॥

यथैव राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैव जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः।

यद्येवं तर्हि किं लक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४९॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

टीकाः—जैसे यह कहना कि यह राजा पाँच योजनके विस्तारमें निकल रहा है सो यह व्यवहारीजनोंका सेना समुदायमें राजा कह देनेका व्यवहार है क्योंकि एक राजाका पाँच योजनमें फैलना अशक्य है; परमार्थसे तो राजा एक ही है, (सेना राजा नहीं है); उसीप्रकार यह जीव समग्र (समस्त) रागग्राममें (–रागके स्थानोंमें) व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है ऐसा कहना वह, व्यवहारीजनोंका अध्यवसानादिक भावोंमें जीव कहनेका व्यवहार है, क्योंकि एक जीवका समग्र रागग्राममें व्याप्त होना अशक्य है; परमार्थसे तो जीव एक ही है, (अध्यवसानादिक भाव जीव नहीं हैं)।

अब शिष्य पूछता है कि यह अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है ? उसका लक्षण क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ४९

अन्वयार्थः—हे भव्य ! तू [**जीवम्**] जीवको [**अरसम्**] रसरहित, [**अरूपम्**] रूपरहित, [**अगन्धम्**] गन्धरहित, [**अव्यक्तम्**] अव्यक्त अर्थात् इंद्रियगोचर नहीं ऐसा, [**चेतनागुणम्**] चेतना जिसका गुण है ऐसा, [**अशब्दम्**] शब्दरहित, [**अलिंगग्रहणं**] किसी चिह्नसे ग्रहण न होनेवाला और [**अनिर्दिष्टसंस्थानम्**] जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा [**जानीहि**] जान।

जीव चेतनागुण, शब्द-रस-रूप-गंध-व्यक्तिविहीन है ।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान उसका, ग्रहण नहिं है लिंगसे ॥४९॥

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चा-

---

टीका:—जीव निश्चयसे पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है इसलिये उसमें रसगुण विद्यमान नहीं है अतः वह अरस है। १। पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेसे स्वयं भी रसगुण नहीं है इसलिये अरस है। २। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामित्व भी उसके नहीं है इसलिये वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता अतः अरस है। ३। अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो उसके क्षायोपशमिक भावका भी अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता इसलिये अरस है। ४। समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रसवेदनापरिणामको पाकर रस नहीं चखता इसलिये अरस है। ५। (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका (-एकरूप होनेका) निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूपमें परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता इसलिये अरस है। ६। इसप्रकार छह तरहके रसके निषेधसे वह अरस है।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें रूपगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अरूप है। १। पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी रूपगुण नहीं है इसलिये अरूप है। २। परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहीं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है। ३। अपने स्वभावकी

गंधः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्य-

---

दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलंबन द्वारा भी रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है । ४ । सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रूपवेदनापरिणामको प्राप्त होकर रूप नहीं देखता इसलिये अरूप है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे रूपके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं रूपरूपसे नहीं परिणमता इसलिये अरूप है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे रूपके निषेधसे वह अरूप है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें गंधगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अगंध है । १ । पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी गंधगुण नहीं है इसलिये अगंध है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहिं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी गंध नहीं सूँघता इसलिये अगंध है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलंबन द्वारा भी गंध नहीं सूंघता अतः अगंध है । ४ । सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक गंधवेदनापरिणामको प्राप्त होकर गंध नहीं सूंघता अतः अगंध है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे गंधके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं गंधरूप नहीं परिणमता अतः अगंध है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे गंधके निषेधसे वह अगंध है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है इसलिये अस्पर्श है । १ । पुद्गलद्रव्यके गुणोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है अतः अस्पर्श है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहिं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलंबन द्वारा भी स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ४ । सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक स्पर्शवेदनापरिणामको प्राप्त होकर स्पर्शको नहीं स्पर्शता अतः अस्पर्श है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु)

पर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्-द्रव्येंद्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणत-

---

सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे स्पर्शके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं स्पर्शरूप नहीं परिणमता अतः अस्पर्श है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे स्पर्शके निषेधसे वह अस्पर्श है ।

इसप्रकार, जीव वास्तवमें पुद्गलद्रव्यसे अन्य होनेके कारण उसमें शब्दपर्याय विद्यमान नहीं है अतः अशब्द है । १ । पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंसे भी भिन्न होनेके कारण स्वयं भी शब्द-पर्याय नहीं है अतः अशब्द है । २ । परमार्थसे पुद्गलद्रव्यका स्वामीपना भी उसे नहिं होनेसे वह द्रव्येन्द्रियके आलम्बन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ३ । अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखनेमें आवे तो क्षायोपशमिक भावका भी उसे अभाव होनेसे वह भावेन्द्रियके आलंबन द्वारा भी शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ४ । सकल विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक शब्दवेदनापरिणामको प्राप्त होकर शब्द नहीं सुनता अतः अशब्द है । ५ । (उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परन्तु) सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका निषेध होनेसे शब्दके ज्ञानरूप परिणमित होनेपर भी स्वयं शब्दरूप नहीं परिणमता अतः अशब्द है । ६ । इसतरह छह प्रकारसे शब्दके निषेधसे वह अशब्द है ।

(अब 'अनिर्दिष्टसंस्थान' विशेषणको समझाते हैं:-) पुद्गलद्रव्यरचित शरीरके संस्थान (आकार)से जीवको संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता इसलिये जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है । १ । अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानवाले अनन्त शरीरोंमें रहता है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । २ । संस्थान नामकर्मका विपाक (फल) पुद्गलोंमें ही कहा जाता है (इसलिये उसके निमित्तसे भी आकार नहीं है) इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । ३ । भिन्न भिन्न संस्थानरूपसे परिणमित समस्त वस्तुओंके स्वरूपके साथ जिसकी स्वाभाविक संवेदनशक्ति सम्बन्धित (अर्थात् तदाकार) है ऐसा होने पर भी जिसे समस्त लोकके मिलापसे (-सम्बन्धसे) रहित निर्मल (ज्ञानमात्र) अनुभूति हो रही है ऐसा होनेसे स्वयं अत्यन्तरूपसे

समस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षड्द्रव्यात्मकलोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्, व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतःस्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः । रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः । समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतना-

---

संस्थान रहित है इसलिये अनिर्दिष्टसंस्थान है । ४ । इसप्रकार चार हेतुओंसे संस्थानका निषेध कहा ।

(अब 'अव्यक्त' विशेषणको सिद्ध करते हैं:—) छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । १ । कषायोंका समूह जो भावकभाव व्यक्त है उससे जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । २ । चित्सामान्यमें चैतन्यकी समस्त व्यक्तियाँ निमग्न (अन्तर्भूत) हैं इसलिये अव्यक्त है । ३ । क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है इसलिये अव्यक्त है । ४ । व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूपसे प्रतिभासित होनेपर भी वह केवल व्यक्तताको ही स्पर्श नहीं करता इसलिये अव्यक्त है । ५ । स्वयं अपनेसे ही बाह्याभ्यंतर स्पष्ट अनुभवमें आ रहा है तथापि व्यक्तताके प्रति उदासीनरूपसे प्रकाशमान है इसलिये अव्यक्त है । ६ । इसप्रकार छह हेतुओंसे अव्यक्तता सिद्ध की है ।

इसप्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तताका अभाव होनेपर भी स्वसंवेदनके बलसे स्वयं सदा प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगोचरमात्रताके अभावके कारण (जीवको) अलिंगग्रहण कहा जाता है ।

अपने अनुभवमें आनेवाले चेतनागुणके द्वारा सदा अन्तरंगमें प्रकाशमान है इसलिये (जीव) चेतनागुणवाला है । वह चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियोंको (जीवको अन्यप्रकारसे माननेरूप झगड़ोंको) नाश करनेवाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवोंको सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोकको ग्रासीभूत करके मानों अत्यन्त तृप्तिसे उपशान्त हो गया हो इसप्रकार (अर्थात् अत्यन्त स्वरूप-सौख्यसे तृप्त तृप्त होनेके कारण स्वरूपमेंसे बाहर

गुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च । स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ।

* मालिनी *

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारुविश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥३५॥

(अनुष्टुभ्)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

निकलनेका अनुद्यमी हो इसप्रकार) सर्व कालमें किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और इस तरह सदा लेश मात्र भी नहीं चलित अन्यद्रव्यसे असाधारणता होनेसे जो (असाधारण) स्वभावभूत है ;

—ऐसा चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है । जिसका प्रकाश निर्मल है ऐसा यह भगवान इस लोकमें एक, टंकोत्कीर्ण, भिन्न ज्योतिरूप विराजमान है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहकर ऐसे आत्माके अनुभवकी प्रेरणा करते हैं:—

अर्थः—चित्शक्तिसे रहित अन्य समस्त भावोंको मूलसे छोड़कर और प्रगटरूपसे अपने चित्शक्तिमात्र भावका अवगाहन करके, समस्त पदार्थसमूहरूप लोकके ऊपर प्रवर्तमान एकमात्र अविनाशी आत्माका भव्यात्मा आत्मामें ही अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो ।

भावार्थः—यह आत्मा परमार्थसे समस्त अन्यभावोंसे रहित चैतन्यशक्तिमात्र है; उसके अनुभवका अभ्यास करो ऐसा उपदेश है । ३५ ।

अब चित्शक्तिसे अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्यसंबंधी हैं ऐसी आगेकी गाथाओंकी सूचनारूपसे श्लोक कहते हैं :—

अर्थः—चैतन्यशक्तिसे व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा यह जीव इतना मात्र ही है; इस चित्शक्तिसे शून्य जो ये भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य हैं—पुद्गलके ही हैं । ३६ ।

जीवस्स णत्थि वरणो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननम् ॥५०॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५१॥
जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५२॥

ऐसे इन भावोंका व्याख्यान छह गाथाओंमें करते हैं:—

गाथा ५०–५५

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवके [वर्णः] वर्ण [नास्ति] नहीं, [न अपि गंधः] गंध भी नहीं, [रसः अपि न] रस भी नहीं [च] और [स्पर्शः अपि न] स्पर्श भी नहीं, [रूपं अपि न] रूप भी नहीं, [न शरीरं] शरीर भी नहीं, [संस्थानं अपि न] संस्थान भी नहीं, [संहननम् न] संहनन भी नहीं; [जीवस्य]

नहिं वर्ण जीवके, गंध नहिं, नहिं स्पर्श, रस जीवके नहीं ।
नहिं रूप अर संहनन नहिं, संस्थान नहिं, तन भी नहीं ॥५०॥
नहिं राग जीवके, द्वेष नहिं, अरु मोह जीवके है नहीं ।
प्रत्यय नहीं, नहिं कर्म अरु नोकर्म भी जीवके नहीं ॥५१॥
नहीं वर्ग जीवके, वर्गणा नहिं, कर्मस्पर्द्धक है नहीं ।
अध्यात्मस्थान न जीवके, अनुभागस्थान भी हैं नहीं ॥५२॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥
नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५४॥

जीवके [रागः नास्ति] राग भी नहीं, [द्वेषः अपि न] द्वेष भी नहीं, [मोहः] मोह भी [न एव विद्यते] विद्यमान नहीं, [प्रत्ययाः नो] प्रत्यय (आस्रव) भी नहीं, [कर्म न] कर्म भी नहीं [च] और [नोकर्म अपि] नोकर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं है; [जीवस्य] जीवके [वर्गः नास्ति] वर्ग नहीं, [वर्गणा न] वर्गणा नही, [कानिचित् स्पर्धकानि न एव] कोई स्पर्धक भी नहीं, [अध्यात्मस्थानानि नो] अध्यात्मस्थान भी नही [च] और [अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान भी [न एव] नही है; [जीवस्य] जीवके [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं [वा] अथवा [बंधस्थानानि न] बंधस्थान भी नहीं, [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [न एव] नहीं, [कानिचित् मार्गणास्थानानि न] कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं; [जीवस्य] जीवके [स्थितिबंधस्थानानि नो] स्थितिबंधस्थान भी नहीं [वा] अथवा [संक्लेशस्थानानि न] संक्लेशस्थान भी नही, [विशुद्धिस्थानानि] विशुद्धिस्थान भी [न एव] नही [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धिस्थान भी [नो] नहीं हैं; [च] और [जीवस्य] जीवके [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [न एव] नहीं [वा] अथवा [गुण-

---

जीवके नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी है नहीं ।
नहिं उदयस्थान न जीवके, अरु स्थान मार्गणाके नहीं ॥५३॥
स्थितिबंधस्थान न जीवके संक्लेशस्थान भी हैं नहीं ।
जीवके विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं ॥५४॥

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥५५॥

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे

स्थानानि] गुणस्थान भी [न संति] नहीं हैं; [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] यह सब [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [परिणामाः] परिणाम हैं ।

टीकाः—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वो पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । १ । जो सुगन्ध और दुर्गन्ध है वो सर्व ही जीवकी नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यका परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । २ । जो कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा रस है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि०....... । ३ । जो चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, भारी, हलका, कोमल अथवा कठोर स्पर्श है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि०........ । ४ । जो स्पर्शादि सामान्यपरिणाममात्र रूप है वह जीवका नहीं है क्योंकि० .... । ५ । जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस अथवा कार्मण शरीर है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि०........ । ६ । जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन अथवा हुंडक संस्थान है वह सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि .... । ७ । जो वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका अथवा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि०........ । ८ । जो प्रीतिरूप राग है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि वह पुद्गलपरिणाममय है इसलिये (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न है । ९ । जो अप्रीतिरूप द्वेष है वो सर्व

नहिं जीवस्थान भी जीवके, गुणस्थान भी जीवके नहीं ।
ये सब ही पुद्गल द्रव्यके, परिणाम हैं जानो यही ॥५५॥

सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्ट-

---

ही जीवका नहीं है क्योंकि० ...... । १० । जो यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप (अप्राप्तिरूप) मोह है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० .... । ११ । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं ऐसे जो प्रत्यय (आस्रव) वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि० .... । १२ । जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० .... । १३ । जो छह पर्याप्तियोग्य और तीन शरीरयोग्य वस्तु (-पुद्गलस्कंध) रूप नोकर्म है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० .... । १४ । जो कर्मके रसकी शक्तियोंका (अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदोंका) समूहरूप वर्ग है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० .... । १५ । जो वर्गोंका समूहरूप वर्गणा है वो सर्व ही जीवका नहीं है क्योंकि० ...... । १६ । जो मन्दतीव्ररसवाले कर्मसमूहके विशिष्ट न्यास (-जमाव) रूप (वर्गणाके समूहरूप) स्पर्धक हैं वो सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि० .... । १७ । स्वपरके एकत्वका अध्यास (निश्चय) हो तब (वर्तने पर), विशुद्ध चैतन्यपरिणामसे भिन्नरूप जिनका लक्षण है ऐसे जो अध्यात्मस्थान हैं वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि० ....

न्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि

। १८ । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके रसके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो अनुभागस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि०········ । १९ । काय, वचन और मनोवर्गणाका कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०········ । २० । भिन्न भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि० ········ । २१ । अपने फलके उत्पन्न करनेमें समर्थ कर्म-अवस्था जिनका लक्षण है ऐसे जो उदयस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०····। २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका लक्षण है ऐसे जो मार्गणास्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं, क्योंकि०····।२३। भिन्न भिन्न प्रकृतियोंका अमुक मर्यादा तक कालान्तरमें साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे जो स्थितिबन्धस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०········। २४ । कषायोंके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०········। २५ । कषायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०········। २६ । चारित्रमोहके विपाककी क्रमशः निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे जो संयमलब्धिस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०····।२७। पर्याप्त एवं अपर्याप्त ऐसे बादर-सूक्ष्म एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतु-

संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि,न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यदृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

* शालिनी *

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

रिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है, ऐसे जो जीवस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि०····। २८। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण—उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसांपराय-उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्म सांपराय—उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली जिनका लक्षण है ऐसे जो गुणस्थान वे सर्व ही जीवके नहीं हैं क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे (अपनी) अनुभूतिसे भिन्न हैं। २९। (इसप्रकार ये समस्त ही पुद्गलद्रव्यके परिणाममय भाव हैं; वे सब, जीवके नहीं हैं। जीव तो परमार्थसे चैतन्यशक्तिमात्र है।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो वर्णादिक अथवा रागमोहादिक भाव कहे वे सब ही इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं इसलिये अन्तर्दृष्टिसे देखनेवालेको यह सब दिखाई नहीं देते, मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है—केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ५६ ॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥ ५६ ॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवाससः इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं

भावार्थः—परमार्थनय अभेद ही है इसलिये इस दृष्टिसे देखनेपर भेद नहीं दिखाई देता; इस नयकी दृष्टिमें पुरुष चैतन्यमात्र ही दिखाई देता है । इसलिये वे समस्त ही वर्णादिक तथा रागादिक भाव पुरुषसे भिन्न ही हैं ।

ये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं उनका स्वरूप विशेषरूपसे जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे जान लेना । ३७ ।

अब शिष्य पूछता है कि—यदि यह वर्णादिक भाव जीवके नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थोंमें ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीवके हैं' ? उसका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं:—

गाथा ५६

अन्वयार्थः—[एते] यह [वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः] वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत जो भाव कहे गये वे [व्यवहारेण तु] व्यवहारनयसे तो [जीवस्य भवंति] जीवके हैं (इसलिये सूत्रमें कहे गये हैं), [तु] किन्तु [निश्चयनयस्य] निश्चयनयके मतमें [केचित् न] उनमेंसे कोई भी जीवके नहीं हैं ।

टीकाः—यहाँ, व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे, सफेद रुईसे बना हुआ वस्त्र जो कि कुसुम्बी (लाल) रंगसे रँगा हुवा है ऐसे वस्त्रके औपाधिक भाव (लाल रंग) की भाँति, पुद्गलके संयोगवश अनादि कालसे जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीवके औपाधिक भाव (-वर्णादिक) का अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, (वह व्यवहारनय) दूसरेके भावको दूसरेका कहता है; और निश्चयनय द्रव्याश्रित होनेसे, केवल एक जीवके स्वाभाविक भावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ, दूसरेके भावको किंचित्मात्र भी दूसरेका नहीं कहता,

---

वर्णादि गुणस्थानांत भाव जु, जीवके व्यवहारसे ।
पर कोई भी ये भाव नहिं हैं, जीवके निश्चयविषैं ॥ ५६ ॥

भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ।

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति—

एएहि य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

एतैश्च सम्बन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ५७ ॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि

निषेध करता है। इसलिये वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव हैं वे व्यवहारनयसे जीवके हैं और निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं ऐसा (भगवानका स्याद्वादयुक्त) कथन योग्य है।

अब फिर शिष्य पूछता है कि वर्णादिक निश्चयसे जीवके क्यों नहीं हैं ? इसका कारण कहिये। इसका उत्तर गाथारूपसे कहते हैं:—

गाथा ५७

अन्वयार्थः—[एतैः च सम्बन्धः] इन वर्णादिक भावोके साथ जीवका संबंध [क्षीरोदकं यथा एव] दूध और पानीका एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है ऐसा [ज्ञातव्यः] जानना [च] और [तानि] वे [तस्य तु न भवंति] उस जीवके नहीं हैं [यस्मात्] क्योकि जीव [उपयोगगुणाधिक.] उनसे उपयोगगुणसे अधिक है (—वह उपयोग गुणके द्वारा भिन्न ज्ञात होता है) ।

टीकाः—जैसे—जलमिश्रित दूधका, जलके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप संबंध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत दुग्धत्व-गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे दूध जलसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप सम्बन्ध है वैसा जलके साथ दूधका सम्बन्ध न होनेसे, निश्चयसे जल दूधका नहीं है, इसप्रकार—वर्णादिक पुद्गलद्रव्यके परिणामोंके साथ मिश्रित इस आत्माका, पुद्गलद्रव्यके साथ परस्पर अवगाहस्वरूप सम्बन्ध होनेपर भी, स्वलक्षणभूत उपयोगगुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकपनेसे (परिपूर्णपनेसे)

इन भावसे संबंध जीवका, क्षीर जलवत् जानना ।
उपयोग गुणसे अधिक, तिससे भाव कोइ न जीवका ॥५७॥

स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति ।

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥५९॥
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसन्ति ॥६०॥

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एव पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारतः उक्तः ॥ ५९ ॥
गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानाद्यो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥ ६० ॥

प्रतीत होता है; इसलिये, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्यस्वरूप संबंध है वैसा वर्णादिके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये निश्चयसे वर्णादिक पुद्गलपरिणाम आत्माके नहीं हैं।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि इसप्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनयका विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर दृष्टान्तद्वारा तीन गाथाओंमें कहते हैं:—

गाथा ५८–६०

अन्वयार्थः—[पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्गमें जाते हुये व्यक्तिको लुटता

देखा लुटाते पंथमें को, 'पंथ ये लुटात है'—
जनगण कहे व्यवहारसे, नहिं पंथ को लुटात है ॥५८॥
त्यों वर्ण देखा जीवमें इन कर्म अरु नोकर्मका ।
जिनवर कहे व्यवहारसे, 'यह वर्ण है इस जीवका' ॥५९॥
त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबै ।
भूतार्थदृष्टा पुरुषने, व्यवहारनयसे वर्णये ॥६०॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत, तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितकर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि

हुआ [दृष्ट्वा] देखकर '[एषः पंथा] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है,' इसप्रकार [व्यवहारिणः लोकाः] व्यवहारीजन [भणंति] कहते हैं; किन्तु परमार्थसे विचार किया जाये तो [कश्चित् पंथा] कोई मार्ग तो [न च मुष्यते] नहीं लुटता, मार्गमें जाता हुआ मनुष्य ही लुटता है; [तथा] इसीप्रकार [जीवे] जीवमें [कर्मणां नोकर्मणां च] कर्मोंका और नोकर्मोंका [वर्णम्] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर '[जीवस्य] जीवका [एषः वर्णः] यह वर्ण है' इसप्रकार [जिनैः] जिनेन्द्रदेवने [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्तः] कहा है। [एवं] इसीप्रकार [गंधरसस्पर्शरूपाणि] गंध, रस, स्पर्श, रूप, [देहः संस्थानादयः] देह, संस्थान आदि [ये च सर्वे] जो सब हैं, [व्यवहारस्य] वे सब व्यवहारसे [निश्चयद्रष्टारः] निश्चयके देखनेवाले [व्यपदिशंति] कहते हैं।

टीका:—जैसे व्यवहारी जन, मार्गमें जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघकी मार्गमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'यह मार्ग लुटता है' ऐसा कहते हैं, तथापि निश्चयसे देखा जाये तो, जो आकाशके अमुक भागस्वरूप है वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता, इसीप्रकार भगवान अरहन्तदेव, जीवमें बन्धपर्यायसे स्थितिको प्राप्त कर्म और नोकर्मका वर्ण देखकर, कर्म-नोकर्मकी जीवमें स्थिति होनेसे उसका उपचार करके, 'जीवका यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारसे प्रगट करते हैं, तथापि निश्चयसे, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्यद्रव्योंसे अधिक है ऐसे जीवका कोई भी वर्ण नहीं है। इसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान—यह सब ही (भाव) व्यवहारसे अरहन्तभगवान जीवके कहते हैं, तथापि निश्चयसे, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है और जो उपयोगगुणके द्वारा अन्यसे अधिक है ऐसे

न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत्—

जीवके वे सब नहीं हैं, क्योंकि इन वर्णादि भावोंके और जीवके तादात्म्यलक्षण सम्बन्धका अभाव है।

भावार्थः—ये वर्णादिसे लेकर गुणस्थान पर्यंत भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे हैं वे व्यवहारनयसे कहे हैं; निश्चयनयसे ये जीवके नहीं हैं क्योंकि जीव तो परमार्थसे उपयोगस्वरूप है।

यहाँ ऐसा जानना कि—पहले व्यवहारनयको असत्यार्थ कहा था सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है, किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्यको भिन्न, पर्यायोंसे अभेदरूप, उसके असाधारण गुणमात्रको प्रधान करके कहा जाता है तब परस्पर द्रव्योंका निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्तसे होनेवाली पर्यायें—वे सब गौण हो जाते हैं, वे एक अभेदद्रव्यकी दृष्टिमें प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्यमें नहीं हैं इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावोंको उस द्रव्यमें कहा जाये तो वह व्यवहारनयसे कहा जा सकता है। ऐसा नयविभाग है।

यहाँ शुद्धनयकी दृष्टिसे कथन है इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो यह समस्त भाव सिद्धान्तमें जीवके कहे गये हैं सो व्यवहारसे कहे गये हैं। यदि निमित्तनैमित्तिकभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहारका लोप हो जायेगा और ऐसा होनेसे परमार्थका भी लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेवका उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है, और सर्वथा एकान्त वह मिथ्यात्व है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिके साथ जीवका तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां

गाथा ६१

अन्वयार्थः—[वर्णादयः] जो वर्णादिक हैं वे [संसारस्थानां] संसारमें स्थित [जीवानां] जीवोंके [तत्र भवे] उस संसारमें [भवन्ति] होते हैं और [संसार प्रमुक्तानां] संसारसे मुक्त हुए जीवोंके [खलु] निश्चयसे [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी (भाव) [न सन्ति] नहीं हैं; (इसलिये तादात्म्यसंबंध नहीं है) ।

टीकाः—जो निश्चयसे समस्त ही अवस्थाओंमें यद्-आत्मकपनेसे अर्थात् जिस-स्वरूपपनेसे व्याप्त हो और तद्-आत्मकपनेकी अर्थात् उस-स्वरूपपनेकी व्याप्तिसे रहित न हो, उसका उनके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है। (जो वस्तु सर्व अवस्थाओंमें जिस भावस्वरूप हो और किसी अवस्थामें उस भावस्वरूपताको न छोड़े, उस वस्तुका उन भावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध होता है ।) इसलिये सभी अवस्थाओंमें जो वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है और वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता ऐसे पुद्गलका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध है; और यद्यपि संसार-अवस्थामें कथंचित् वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त होता है तथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित नहीं होता तथापि मोक्ष-अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिस्वरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है और वर्णादिस्वरूपतासे व्याप्त नहीं होता ऐसे जीवका वर्णादि भावोंके साथ किसी भी प्रकारसे तादात्म्यलक्षण संबंध नहीं है ।

संसारी जीवके वर्ण आदिक, भाव हैं संसार में ।
संसारसे परिमुक्तके नहिं, भाव को वर्णादिके ॥६१॥

सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम्—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावा त्ति मराणसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिरताभिस्ताभिर्व्य-

---

भावार्थः—द्रव्यकी सर्व अवस्थाओं विषैं द्रव्यमें जो भाव व्याप्त होते हैं उन भावोंके साथ द्रव्यका तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है। पुद्गलकी सर्व अवस्थाओं विषैं पुद्गलमें वर्णादि भाव व्याप्त हैं इसलिये वर्णादि भावोंके साथ पुद्गलका तादात्म्यसम्बन्ध है। संसारावस्था विषैं जीवमें वर्णादि भाव किसी प्रकारसे कहे जा सकते हैं किन्तु मोक्ष-अवस्था विषैं जीवमें वर्णादि भाव सर्वथा नहीं हैं इसलिये जीवका वर्णादि भावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है यह बात न्यायप्राप्त है।

अब, यदि कोई ऐसा मिथ्या अभिप्राय व्यक्त करे कि जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है, तो उसमें यह दोष आता है ऐसा इस गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ६२

अन्वयार्थः—वर्णादिकके साथ जीवका तादात्म्य माननेवालेको कहते हैं कि—हे मिथ्या अभिप्रायवाले ! [**यदि हि च**] यदि तुम [**इति मन्यसे**] ऐसे मानोगे कि [**एते सर्वे भावाः**] यह वर्णादिक सर्व भाव [**जीवः एव हि**] जीव ही हैं, [**तु**] तो [**ते**] तुम्हारे मतमें [**जीवस्य च अजीवस्य**] जीव और अजीवका [**कश्चित्**] कोई [**विशेषः**] भेद [**नास्ति**] नहीं रहता।

टीकाः—जैसे वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव (प्रगट होना, उपजना) और तिरोभाव (छिप जाना, नाश हो जाना) को प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा

ये भाव सब हैं जीव जो, ऐसा हि तू माने कभी।
तो जीव और अजीवमें कुछ, भेद तुझ रहता नहीं ! ॥६२॥

क्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेप्ययमेव दोषः—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥

(अर्थात् पर्यायोंके द्वारा) पुद्गलद्रव्यके साथ ही साथ रहते हुये, पुद्गलका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं—विस्तारते हैं, इसीप्रकार वर्णादिक भाव, क्रमशः आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त होती हुई ऐसी उन उन व्यक्तियोंके द्वारा जीवके साथ ही साथ रहते हुये, जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य प्रसिद्ध करते हैं,—ऐसा जिसका अभिप्राय है उसके मतमें, अन्य शेष द्रव्योंसे असाधारण ऐसी वर्णादिस्वरूपता—कि जो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है—उसका जीवके द्वारा अंगीकार किया जाता है इसलिये, जीव-पुद्गलके अविशेषका प्रसंग आता है, और ऐसा होनेसे, पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहनेसे, जीवका अवश्य अभाव होता है ।

भावार्थः—जैसे वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्यके साथ तादात्म्यस्वरूप हैं उसीप्रकार जीवके साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गलमें कोई भी भेद न रहे और ऐसा होनेसे जीवका ही अभाव हो जाये यह महादोष आता है ।

अब, 'मात्र संसार-अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य है' इस अभिप्रायमें भी यही दोष आता है सो कहते हैं:—

वर्णादि हैं संसारी जीवके, योंहि मत तुझ होय जो ।
संसारस्थित सब जीवगण, पाये तदा रूपित्वको ॥६३॥
इस रीत पुद्गल वो हि जीव, हे मूढमति ! समचिह्नसे ।
अरु मोक्षप्राप्त हुआ भि पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे ॥६४॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति । ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति ।

गाथा ६३–६४

अन्वयार्थः—[**अथ**] अथवा यदि [**तव**] तुम्हारा मत यह हो कि—[**संसारस्थानां जीवानां**] संसारमें स्थित जीवोंके ही [**वर्णादयः**] वर्णादिक (तादात्म्यस्वरूपसे) [**भवंति**] हैं, [**तस्मात्**] तो इस कारणसे [**संसारस्थाः जीवाः**] संसारमें स्थित जीव [**रूपित्वम् आपन्नाः**] रूपित्वको प्राप्त हुये; [**एवं**] ऐसा होनेसे, [**तथालक्षणेन**] वैसा लक्षण (अर्थात् रूपित्वलक्षण) तो पुद्गलद्रव्यका होनेसे, [**मूढमते**] हे मूढ़बुद्धि ! [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य ही [**जीवः**] जीव कहलाया [**च**] और (मात्र संसार-अवस्थामें ही नहीं किन्तु) [**निर्वाणम् उपगतः अपि**] निर्वाण प्राप्त होनेपर भी [**पुद्गलः**] पुद्गल ही [**जीवत्वं**] जीवत्वको [**प्राप्तः**] प्राप्त हुआ !

टीकाः—फिर, जिसका यह अभिप्राय है कि—संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादिभावोंके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, उसके मतमें संसार-अवस्थाके समय वह जीव अवश्य रूपित्वको प्राप्त होता है; और रूपित्व तो किसी द्रव्यका, शेष द्रव्योंसे असाधारण ऐसा लक्षण है । इसलिये रूपित्व (लक्षण) से लक्षित (लक्ष्यरूप होता हुआ) जो कुछ हो वही जीव है । रूपित्वसे लक्षित तो पुद्गलद्रव्य ही है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, किन्तु उसके अतिरिक्त दूसरा कोई जीव नहीं है । ऐसा होनेपर, मोक्ष-अवस्थामें भी पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव (सिद्ध होता) है, किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य कोई जीव (सिद्ध होता) नहीं; क्योंकि सदा अपने स्वलक्षणसे लक्षित ऐसा द्रव्य सभी अवस्थाओंमें हानि अथवा ह्रासको न प्राप्त होनेसे अनादि-अनन्त होता है । ऐसा होनेसे, उसके मतमें भी (संसार-अवस्थामें ही जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्य माननेवालेके मतमें भी), पुद्गलोंसे भिन्न ऐसा कोई जीवद्रव्य न रहनेसे, जीवका अवश्य अभाव होता है ।

रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति—

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदेहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कह भण्णदे जीवो ॥६६॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥६६॥

भावार्थः—यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्थामें जीवका वर्णादिके साथ तादात्म्यसम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ, और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्यका लक्षण है; इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होनेपर भी उन पुद्गलोंका ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्षमें भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इसप्रकार संसार तथा मोक्षमें पुद्गलसे भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहनेसे जीवका ही अभाव होगया। इसलिये मात्र संसार-अवस्थामें ही वर्णादि भाव जीवके हैं ऐसा माननेसे भी जीवका अभाव ही होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिक भाव जीव नहीं हैं, यह अब कहते हैं:—

गाथा ६५–६६

अन्वयार्थः—[एकं वा] एकेन्द्रिय, [द्वे] द्वीन्द्रिय, [त्रीणि च]

जीव एक-दो-त्रय-चार पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्मकी प्रकृति है ॥६५॥
जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों नहिं कहाय वे ॥६६॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः।

त्रीन्द्रिय, [चत्वारि च] चतुरिन्द्रिय, और [पंचेन्द्रियाणि] पंचेन्द्रिय, [बादरपर्याप्तेतराः] बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त [जीवाः] जीव तथा—यह [नामकर्मणः] नामकर्मकी [प्रकृतयः] प्रकृतियां हैं; [एताभिः च] इन [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों [पुद्गलमयीभिः ताभिः] जो कि पुद्गलमयरूपसे प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा [करणभूताभिः] करणस्वरूप होकर [निर्वृत्तानि] रचित [जीवस्थानानि] जो जीवस्थान (जीवसमास) हैं वे [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कहे जा सकते हैं ?

टीका:—निश्चयनयसे कर्म और करणकी अभिन्नता होनेसे, जो जिससे किया जाता है (–होता है) वह वही है—यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्णसे किया जाता होनेसे सुवर्ण ही है, अन्य कुछ नहीं है, इसीप्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्मकी प्रकृतियोंसे किये जाते होनेसे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। और नामकर्मकी प्रकृतियोंकी पुद्गलमयता तो आगमसे प्रसिद्ध है तथा अनुमानसे भी जानी जा सकती है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं वे कर्मप्रकृतियोंके कार्य हैं इसलिये कर्मप्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं ऐसा अनुमान हो सकता है।

इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नामकर्मकी प्रकृतियोंके द्वारा रचित होनेसे पुद्गलसे अभिन्न हैं; इसलिये, मात्र जीवस्थानोंको पुद्गलमय कहनेपर, इन सबको भी पुद्गलमय ही कथित समझना चाहिये।

इसलिये वर्णादिक जीव नहीं हैं यह निश्चयनयका सिद्धान्त है।

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥३८॥

(उपजाति)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥३९॥

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम्—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥६७॥

यहाँ इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिस वस्तुसे जो भाव बने, वह भाव वह वस्तु ही है, किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है; जैसे जगतमें स्वर्णनिर्मित म्यानको लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) किसीप्रकारसे तलवार नहीं देखते।

भावार्थः—वर्णादि पुद्गल-रचित हैं इसलिये वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं ।३८।

अब दूसरा कलश कहते हैं:—

अर्थः—अहो ज्ञानी जनों ! ये वर्णसे लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव हैं उन समस्तको एक पुद्गलकी रचना जानो, इसलिये यह भाव पुद्गल ही हों, आत्मा न हों; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानका पुंज है इसलिये वह इन वर्णादिक भावोंसे अन्य ही है ।३९।

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है उसे जीव कहना सो सब व्यवहार मात्र है:—

गाथा ६७

अन्वयार्थः—[ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ताः] पर्याप्त, अपर्याप्त [सूक्ष्माः

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी ।
व्यवहारसे कही जीवसंज्ञा, देहको शास्त्रन महीं ॥६७॥

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुंभे घृतकुंभव्यवहारः, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः।

(अनुष्टुभ्)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

बादराः च] सूक्ष्म और बादर आदि [ये च एव] जितनी [देहस्य] देहकी [जीवसंज्ञाः] जीवसंज्ञा कही हैं वे सब [सूत्रे] सूत्रमें [व्यवहारतः] व्यवहारसे [उक्ताः] कही हैं।

टीकाः—बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त—इन शरीरकी संज्ञाओंको (नामोंको) सूत्रमें जीवसंज्ञारूपसे कहा है, वह, परकी प्रसिद्धिके कारण, 'घीके घड़े' की भाँति व्यवहार है—कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बातको स्पष्ट कहते हैं:—

जैसे किसी पुरुषको जन्मसे लेकर मात्र 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो, उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़ेको न जानता हो, उसे समझानेके लिये "जो यह 'घीका घड़ा' है सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं" इसप्रकार (समझानेवालेके द्वारा) घड़ेमें घीके घड़ेका व्यवहार किया जाता है, क्योंकि उस पुरुषको 'घीका घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसीप्रकार इस अज्ञानी लोकको अनादि संसारसे लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीवको नहीं जानता, उसे समझानेके लिये (-शुद्ध जीवका ज्ञान करानेके लिये) "जो यह 'वर्णादिमान जीव' है सो ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं" इसप्रकार (सूत्रमें) जीवमें वर्णादिमानपनेका व्यवहार किया गया है, क्योंकि उस अज्ञानी लोकको 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यदि 'घीका घड़ा' ऐसा कहनेपर भी घड़ा है वह घीमय नहीं है (-मिट्टीमय ही है), तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहनेपर भी जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (-ज्ञानघन ही है)।

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥६८॥

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्य-

---

भावार्थः—घीसे भरे हुए घड़ेको व्यवहारसे 'घीका घड़ा' कहा जाता है तथापि निश्चयसे घड़ा घी-स्वरूप नहीं है, घी घी-स्वरूप है, घड़ा मिट्टी-स्वरूप है; इसीप्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादिके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीवको सूत्रमें व्यवहारसे 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है तथापि निश्चयसे जीव उस-स्वरूप नहीं है; वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियाँ इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है । ४० ।

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादि भाव जीव नहीं हैं यह सिद्ध हुआ उसीप्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादि भाव भी जीव नहीं हैं:—

गाथा ६८

अन्वयार्थः—[यानि इमानि] जो यह [गुणस्थानानि] गुणस्थान हैं वे [मोहनकर्मणः उदयात् तु] मोहकर्मके उदयसे होते हैं [वर्णितानि] ऐसा (सर्वज्ञके आगममें) वर्णन किया गया है; [तानि] वे [जीवाः] जीव [कथं] कैसे [भवंति] हो सकते हैं [यानि] कि जो [नित्यं] सदा [अचेतनानि] अचेतन [उक्तानि] कहे गये हैं ?

टीकाः—ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्मकी प्रकृतिके उदयपूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर) जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्यायसे, वे पुद्गल ही हैं—जीव

मोहनकरमके उदयसे, गुणस्थान जो ये वर्णये ।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे ? ॥६८॥

स्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम् । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातम् । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम् ।

तर्हि को जीव इति चेत्—

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

नहीं। और गुणस्थानोंका सदा ही अचेतनत्व तो आगमसे सिद्ध होता है तथा चैतन्यस्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं इसलिये भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होनेसे, सदा ही अचेतन होनेसे, पुद्गल ही हैं—जीव नहीं ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।

भावार्थः—शुद्धद्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिमें चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं तथापि, चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्यापक न होनेसे चैतन्यशून्य हैं—जड़ हैं। और आगममें भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्यसे भिन्नरूप अनुभव करते हैं इसलिये भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं।

प्रश्नः—यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं? वे पुद्गल हैं या कुछ और?

उत्तरः—वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं इसलिये वे निश्चयसे पुद्गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।

इसप्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्मके उदयके निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव कौन है? उसके उत्तररूप श्लोक कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।

अर्थः—जो अनादि[1] है, अनन्त[2] है, अचल[3] है, स्वसंवेद्य[4] है और प्रगट[5] है—ऐसा जो यह चैतन्य अत्यन्त चकचकित—प्रकाशित हो रहा है, वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थः—वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं किन्तु जैसा ऊपर कहा वैसा चैतन्य भाव ही जीव है।४१।

अब, काव्य द्वारा यह समझाते हैं कि चेतनत्व ही जीवका योग्य लक्षण है—

अर्थः—अजीव दो प्रकारके हैं—वर्णादिसहित और वर्णादिरहित; इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्वको जीवका लक्षण मानकर भी) जीवके यथार्थ स्वरूपको जगत् नहीं देख सकता;—इसप्रकार परीक्षा करके भेदज्ञानी पुरुषोंने अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणोंसे रहित चेतनत्वको जीवका लक्षण कहा है वह योग्य है। वह चैतन्यलक्षण प्रगट है, उसने जीवके यथार्थ स्वरूपको प्रगट किया है और वह अचल है—चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। जगत् उसीका अवलम्बन करो! (उससे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है।)

भावार्थः—निश्चयसे वर्णादिभाव—वर्णादिभावोंमें रागादिभाव अन्तर्हित हैं—जीवमें कभी व्याप्त नहीं होते इसलिये वे निश्चयसे जीवके लक्षण हैं ही नहीं; उन्हें व्यवहारसे जीवका लक्षण मानने पर भी अव्याप्ति नामक दोष आता है क्योंकि सिद्ध जीवोंमें वे भाव व्यवहारसे भी व्याप्त नहीं होते। इसलिये वर्णादिभावोंका आश्रय लेनेसे जीवका यथार्थस्वरूप जाना ही नहीं जाता।

यद्यपि अमूर्तत्व सर्व जीवोंमें व्याप्त है तथापि उसे जीवका लक्षण माननेपर अतिव्याप्ति नामक दोष आता है, कारण कि पांच अजीव द्रव्योंमेंसे एक पुद्गलद्रव्यके अतिरिक्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य अमूर्त होनेसे, अमूर्तत्व जीवमें व्यापता है वैसे ही चार अजीव द्रव्योंमें भी व्यापता है; इसप्रकार अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये अमूर्तत्वका आश्रय लेनेसे भी जीवका यथार्थ स्वरूप ग्रहण नहीं होता है।

---

१ अर्थात् किसी काल उत्पन्न नहीं हुआ। २ अर्थात् किसी काल जिसका विनाश नहीं। ३ अर्थात् जो कभी चैतन्यपनेसे अन्यरूप—चलाचल—नहीं होता। ४ अर्थात् जो स्वयं अपने आपसे ही जाना जाता है। ५ अर्थात् गुप्त हुआ नहीं।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ॥४२॥

(वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

नानटयतां तथापि—

(वसन्ततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

चैतन्यलक्षण सर्व जीवोंमें व्यापता होनेसे अव्याप्तिदोषसे रहित है, और जीवके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्यमें व्यापता न होनेसे अतिव्याप्तिदोषसे रहित है; और वह प्रगट है; इसलिये उसीका आश्रय ग्रहण करनेसे जीवके यथार्थ स्वरूपका ग्रहण हो सकता है । ४२ ।

अब, 'जब कि ऐसे लक्षणसे जीव प्रगट है तब भी अज्ञानी जनोंको उसका अज्ञान क्यों रहता है ?'—इसप्रकार आचार्यदेव आश्चर्य तथा खेद प्रगट करते हैं:—

अर्थः—यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षणके कारण जीवसे अजीव भिन्न है उसे (अजीवको) अपने आप ही (-स्वतंत्रपने, जीवसे भिन्नपने) विलसित होता हुआ—परिणमित होता हुआ ज्ञानीजन अनुभव करते हैं, तथापि अज्ञानीको अमर्यादरूपसे फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्वपरके एकत्वकी भ्रान्ति) क्यों नाचता है—यह हमें महा आश्चर्य और खेद है ! । ४३।

अब पुनः मोहका प्रतिषेध करते हुए कहते हैं कि 'यदि मोह नाचता है तो नाचो ? तथापि ऐसा ही है' :—

अर्थः—इस अनादिकालीन महा अविवेकके नाटकमें अथवा नाचमें वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञानमें पुद्गल ही अनेक प्रकारका दिखाई देता है, जीव अनेकप्रकारका नहीं है;) और यह जीव तो रागादिक पुद्गलविकारोंसे विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ।

भावार्थः—रागादिक चिद्विकारको (-चैतन्यविकारोंको) देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं, क्योंकि चैतन्यकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त हों तो चैतन्यके कहलायें। रागादि विकार सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होते—मोक्षअवस्थामें उनका अभाव है। और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिये वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्यका अनुभव निराकुल है, वही जीवका स्वभाव है ऐसा जानना।४४।

अब, भेदज्ञानकी प्रवृत्तिके द्वारा यह ज्ञाताद्रव्य स्वयं प्रगट होता है इसप्रकार कलशमें महिमा प्रगट करके अधिकार पूर्ण करते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार ज्ञानरूपी करवतका जो बारम्बार अभ्यास है उसे नचाकर जहाँ जीव और अजीव दोनों प्रगटरूपसे अलग नहीं हुए, वहाँ तो ज्ञाताद्रव्य, अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्तिसे विश्वको व्याप्त करके, अपने आप ही अतिवेगसे उग्रतया अर्थात् आत्यंतिकरूपसे प्रकाशित हो उठा।

भावार्थः—इस कलशका आशय दो प्रकारका है:—

उपरोक्त ज्ञानका अभ्यास करते करते जहाँ जीव और अजीव दोनों स्पष्ट भिन्न समझमें आये कि तत्काल ही आत्माका निर्विकल्प अनुभव हुआ—सम्यग्दर्शन हुआ। (सम्यग्दृष्टि आत्मा श्रुतज्ञानसे विश्वके समस्त भावोंको संक्षेपसे अथवा विस्तारसे जानता है और निश्चयसे विश्वको प्रत्यक्ष जाननेका उसका स्वभाव है; इसलिये यह कहा है कि वह विश्वको जानता है।) एक आशय तो इसप्रकार है।

दूसरा आशय इसप्रकारसे है:—जीव-अजीवका अनादिकालीन संयोग केवल अलग होनेसे पूर्व अर्थात् जीवका मोक्ष होनेसे पूर्व, भेदज्ञानके भाते भाते अमुक दशा होनेपर निर्विकल्प धारा जमी—जिसमें केवल आत्माका अनुभव रहा; और वह श्रेणि अत्यन्त वेगसे आगे बढ़ते बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ। और फिर अघातियाकर्मोंका नाश होनेपर जीवद्रव्य अजीवसे केवल भिन्न हुआ। जीव-अजीवके भिन्न होनेकी यह रीति है।४५।

टीकाः—इसप्रकार जीव और अजीव अलग अलग होकर (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गये।
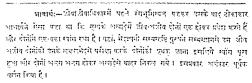
इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोंकः ॥

भावार्थः—जीव-अजीवाधिकारमें पहले रंगभूमिस्थल कहकर उसके बाद टीकाकार आचार्यने ऐसा कहा था कि नृत्यके अखाड़ेमें जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनोंने एकत्वका स्वांग रचा है। वहाँ, भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुषने सम्यग्ज्ञानसे उन जीव-अजीव दोनोंकी उनके लक्षणभेदसे परीक्षा करके दोनोंको पृथक् जाना इसलिये स्वांग पूरा हुआ और दोनों अलग अलग होकर अखाड़ेसे बाहर निकल गये। इसप्रकार अलंकार पूर्वक वर्णन किया है।

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं,
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं,
श्रीगुरुके उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं,
ते जगमांहि महन्त कहाय वसैं शिव जाय सुखी नित थावैं।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीकामें प्रथम जीवा-जीवाधिकार समाप्त हुआ।

कर्ताकर्म अधिकार
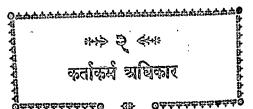
अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः ।

(मंदाक्रांता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

दोहा—कर्ताकर्मविभावकूं, मेटि ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिवमें बसे, तिन्हें नमूं, मद खोय ।

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब जीव-अजीव ही एक कर्ताकर्मके वेषमें- प्रवेश करते हैं ।' जैसे दो पुरुष परस्पर कोई एक स्वाँग करके नृत्यके अखाड़ेमें प्रवेश करें उसीप्रकार जीव-अजीव दोनों एक कर्ताकर्मका स्वाँग करके प्रवेश करते हैं इसप्रकार यहाँ टीकाकारने अलंकार किया है ।

अब पहले, उस स्वाँगको ज्ञान यथार्थ जान लेता है उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—'इस लोकमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ और यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं' ऐसी अज्ञानियोंके जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है उसे सब ओरसे शमन करती हुई (-मिटाती हुई) ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है । वह ज्ञान-ज्योति परम उदात्त है अर्थात् किसीके आधीन नहीं है, अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नहीं है और परकी सहायताके बिना भिन्न भिन्न द्रव्योंको प्रकाशित करनेका उसका स्वभाव है इसलिये वह समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है ।

भावार्थः—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह,- परद्रव्य तथा परभावोंके कर्तृत्वरूप अज्ञानको दूर करके, स्वयं प्रगट प्रकाशमान होता है ।४६।

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्नं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंक-

---

अब, जबतक यह जीव आस्रवके और आत्माके विशेषको (अन्तरको) नहीं जाने तबतक वह अज्ञानी रहता हुआ, आस्रवोंमें स्वयं लीन होता हुआ, कर्मोंका बन्ध करता है यह गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ६९–७०

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [यावत्] जबतक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव—इन दोनोंके [विशेषान्तरं] अन्तर और भेदको [न वेत्ति] नहीं जानता [तावत्] तबतक [सः] वह [अज्ञानी] अज्ञानी रहता हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवोंमें [वर्तते] प्रवर्तता है; [क्रोधादिषु] क्रोधादिकमें [वर्तमानस्य तस्य] प्रवर्तमान उसके [कर्मणः] कर्मका [संचयः] संचय [भवति] होता है। [खलु] वास्तवमें [एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीवके [बंधः] कर्मोंका बन्ध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवोंने [भणितः] कहा है।

टीकाः—जैसे यह आत्मा, जिनके तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और ज्ञानमें

रे आत्म आश्रवका जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं ।
क्रोधादिमें स्थिति होय है, अज्ञानि ऐसे जीवकी ॥६९॥
जीव वर्तता क्रोधादिमें, तब करम संचय होय है ।
सर्वज्ञने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीवके ॥७०॥

मात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति, तथा संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति । तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता । यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रिय-

---

विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होनेसे उनके भेदको (पृथक्त्वको) न देखता हुआ, निःशंकतया ज्ञानमें आत्मपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (ज्ञानमें आत्मपनेसे) प्रवर्तता हुआ वह, ज्ञानक्रियाका स्वभावभूत होनेसे निषेध नहीं किया गया है इसलिये, जानता है—जाननेरूपमें परिणमित होता है, इसीप्रकार जबतक यह आत्मा, जिन्हें संयोगसिद्ध सम्बन्ध है ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमें भी अपने अज्ञानभावसे, विशेष न जानता हुआ उनके भेदको नहीं देखता तबतक निःशंकतया क्रोधादिमें अपनेपनेसे प्रवर्तता है, और वहाँ (क्रोधादिमें अपनेपनसे) प्रवर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रियाका परभावभूत होनेसे निषेध किया गया है तथापि उस स्वभावभूत होनेका उसे अध्यास होनेसे, क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है । अब यहाँ, जो यह आत्मा अपने अज्ञानभावसे, [1]ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन (ज्ञाताद्रष्टामात्र) अवस्थाका त्याग करके अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादिव्यापाररूप प्रवर्तमान होता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है; और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवृत्तिसे भिन्न, जो [2]क्रियमाणरूपसे अन्तरंगमें उत्पन्न होते हुये प्रतिभासित होते हैं, ऐसे क्रोधादिक वे, (उस कर्ताके) कर्म हैं । इसप्रकार अनादिकालीन अज्ञानसे होनेवाली यह (आत्माकी) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है । इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्मभावसे क्रोधादिमें प्रवर्तमान इस आत्माके, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र करके स्वयं अपने भावसे ही परिणमित होता हुआ पौद्गलिक कर्म इकट्ठा होता है । इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर अवगाह जिसका लक्षण है ऐसा सम्बन्धरूप बंध सिद्ध होता है । अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहपना होनेसे जिसमेंसे इतरेतराश्रय दोष दूर हो गया है ऐसा यह बन्ध, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है ।

भावार्थः—यह आत्मा, जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमित होता है उसीप्रकार जबतक क्रोधादिरूप भी परिणमित होता है, ज्ञानमें और क्रोधादिमें भेद नहीं जानता तबतक

---

१ भवन—होना वह; परिणमना वह; परिणमन । २ क्रियमाणरूपसे—किया जाता वह—उसरूपसे ।

माणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । एवमस्यात्मनः स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसंबंधात्मा बन्धः सिध्येत् । स चानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् ।

कदास्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत्—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥७१॥

उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है; क्रोधादिरूप परिणमित होता हुआ वह स्वयं कर्ता है और क्रोधादि उसका कर्म है । और अनादि अज्ञानसे तो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे बन्ध है और उस बन्धके निमित्तसे अज्ञान है; इसप्रकार अनादि संतान (प्रवाह) है, इसलिये उसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं आता ।

इसप्रकार जबतक आत्मा क्रोधादि कर्मका कर्ता होकर परिणमित होता है तबतक कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है और तबतक कर्मका बन्ध होता है ।

अब प्रश्न करता है कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७१

अन्वयार्थः—[यदा] जब [अनेन जीवेन] यह जीव [आत्मनः] आत्माका [तथा एव च] और [आस्रवाणां] आस्रवोंका [विशेषांतरं] अन्तर और भेद [ज्ञातं भवति] जानता है [तदा तु] तब [तस्य] उसे [बंधः न] बंध नहीं होता ।

ये जीव ज्यों ही आश्रवोंका, त्यों हि अपने आत्मका ।
जाने विशेषांतर, तब हि बन्धन नहीं उसको कहा ॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः । तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि; यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि । इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम् । इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोपि निवर्तते । तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत् ।

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत्—

टीका:—इस जगतमें वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्व' का भवन (होना) वह स्व-भाव है (अर्थात् अपना जो होना—परिणमना सो स्वभाव है); इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना—परिणमना सो आत्मा है और क्रोधादिका होना—परिणमना सो क्रोधादि है । तथा ज्ञानका जो होना—परिणमना है सो क्रोधादिका भी होना—परिणमना नहीं है, क्योंकि ज्ञानके होते (-परिणमनेके) समय जैसे ज्ञान होता हुआ मालूम पड़ता है उसीप्रकार क्रोधादिक भी होते हुए मालूम नहीं पड़ते; और क्रोधादिका जो होना—परिणमना वह ज्ञानका भी होना—परिणमना नहीं है, क्योंकि क्रोधादिके होनेके (-परिणमनेके) समय जैसे क्रोधादिक होते हुए मालूम पड़ते हैं वैसे ज्ञान भी होता हुआ मालूम नहीं पड़ता। इसप्रकार क्रोधादिके और आत्माके निश्चयसे एकवस्तुत्व नहीं है । इसप्रकार आत्मा और आस्रवोंका विशेष (-अंतर) देखनेसे जब यह आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है तब इस आत्माके अनादि होने पर भी अज्ञानसे उत्पन्न हुई ऐसी (परमें) कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति निवृत्त होती है; उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञानके निमित्तसे होता हुवा पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बन्ध भी निवृत्त होता है। ऐसा होने पर, ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है ।

भावार्थ:—क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं; न तो ज्ञानमें क्रोधादि है और न क्रोधादिमें ज्ञान है, ऐसा उनका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूपका अज्ञान नाश होता है और अज्ञानके नाश हो जानेसे कर्मका बन्ध भी नहीं होता । इसप्रकार ज्ञानसे ही बन्धका निरोध होता है ।

अब पूछता है कि ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध कैसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च ।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव । जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव । आकुलत्वोत्पादकत्वाद्दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद्दुःखस्या-

---

गाथा ७२

अन्वयार्थः—[आस्रवाणाम्] आस्रवोंकी [अशुचित्वं च] अशुचिता और [विपरीतभावं च] विपरीतता तथा [दुःखस्य कारणानि इति] वे दुःखके कारण हैं ऐसा [ज्ञात्वा] जानकर [जीवः] जीव [ततः निवृत्तिं] उनसे निवृत्ति [करोति] करता है ।

टीका:—जलमें सेवाल (काई) है सो मल या मैल है, उस सेवालकी भाँति आस्रव मलरूप या मैलरूप अनुभवमें आते हैं इसलिये वे अशुचि हैं—अपवित्र हैं और भगवान् आत्मा तो सदा ही अतिनिर्मल चैतन्यमात्रस्वभावरूप अनुभवमें आता है इसलिये अत्यन्त शुचि है—पवित्र है—उज्ज्वल है । आस्रवोंके जड़स्वभावत्व होनेसे वे दूसरेके द्वारा जानने योग्य हैं (-क्योंकि जो जड़ हो वह अपनेको तथा परको नहीं जानता, उसे दूसरा ही जानता है-) इसलिये वे चैतन्यसे अन्य स्वभाववाले हैं; और भगवान् आत्मा तो, अपनेको सदा विज्ञानघनस्वभावपना होनेसे, स्वयं ही चेतक (-ज्ञाता) है (-स्वको और परको जानता है-) इसलिये वह चैतन्यसे अनन्य स्वभाववाला है (अर्थात् चैतन्यसे अन्य स्वभाववाला नहीं है) । आस्रव आकुलताके उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये दुःखके कारण हैं; और भगवान् आत्मा तो, सदा ही निराकुलता-स्वभावके कारण किसीका कार्य तथा किसीका कारण न होनेसे, दुःखका अकारण है (अर्थात् दुःखका कारण नहीं) । इसप्रकार विशेष (-अन्तर) को देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आश्रवोंके भेदको जानता है उसी समय क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त होता है,

---

अशुचिपना, विपरीतता ये आश्रवोंका जानके ।
अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे ॥७२॥

कारणमेव । इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्तते, तेभ्योऽनिवर्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः । ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत् । किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः । इति निरस्तोऽज्ञानांशः

क्योंकि उनसे जो निवृत्त नहीं है उसे आत्मा और आस्रवोंके पारमार्थिक (यथार्थ) भेदज्ञानकी सिद्धि ही नहीं हुई । इसलिये क्रोधादिक आस्रवोंसे निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है ऐसे ज्ञानमात्रसे ही, अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मके बन्धका निरोध होता है ।

और, जो यह आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान है सो अज्ञान है या ज्ञान ? यदि अज्ञान है तो आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई। और यदि ज्ञान है तो वह आस्रवोंमें प्रवृत्त है या उनसे निवृत्त ? यदि आस्रवोंमें प्रवृत्त होता है तो भी आत्मा और आस्रवोंके अभेदज्ञानसे उसकी कोई विशेषता नहीं हुई । और यदि आस्रवोंसे निवृत्त है तो ज्ञानसे ही बंधका निरोध सिद्ध हुआ क्यों न कहलायेगा ? (सिद्ध हुआ ही कहलायेगा।) ऐसा सिद्ध होनेसे अज्ञानका अंश ऐसे क्रियानयका खण्डन हुआ । और यदि आत्मा और आस्रवोंका भेदज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है ऐसा सिद्ध होनेसे ज्ञानके अंश ऐसे (एकान्त) ज्ञाननयका भी खण्डन हुआ ।

भावार्थ:—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःखके कारण हैं और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है । इसप्रकार लक्षणभेदसे दोनोंको भिन्न जानकर आस्रवोंसे आत्मा निवृत्त होता है और उसे कर्मका बन्ध नहीं होता । आत्मा और आस्रवोंका भेद जाननेपर भी यदि आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, किन्तु अज्ञान ही है । यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरत सम्यग्दृष्टिको मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियोंका तो आस्रव नहीं होता किन्तु अन्य प्रकृतियोंका तो आस्रव होकर बन्ध होता है; इसलिये उसे ज्ञानी कहना या अज्ञानी ? उसका समाधान—सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी ही है क्योंकि वह अभिप्रायपूर्वकके आस्रवोंसे निवृत्त हुआ है । उसे प्रकृतियोंका जो आस्रव तथा बन्ध होता है वह अभिप्राय पूर्वक नहीं है । सम्यग्दृष्टि होनेके बाद परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव है, इसलिये, जबतक उसके चारित्रमोहका उदय है तबतक उसके उदयानुसार जो आस्रव-बन्ध होता है उसका

क्रियानयः। यस्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः।

* मालिनी *

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥४७॥

स्वामित्व उसको नहीं है। अभिप्रायमें तो वह आस्रव-बन्धसे सर्वथा निवृत्त ही होना चाहता है। इसलिये वह ज्ञानी ही है।

जो यह कहा है कि ज्ञानीको बंध नहीं होता उसका कारण इसप्रकार है:—मिथ्यात्व-सम्बन्धी बन्ध जो कि अनन्त संसारका कारण है वही यहाँ प्रधानतया विवक्षित है। अविरति आदिसे जो बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है, दीर्घ संसारका कारण नहीं है; इसलिये वह प्रधान नहीं माना गया। अथवा तो ऐसा कारण है कि-ज्ञान बन्धका कारण नहीं है। जबतक ज्ञानमें मिथ्यात्वका उदय था तबतक वह अज्ञान कहलाता था और मिथ्यात्वके जानेके बाद अज्ञान नहीं किन्तु ज्ञान ही है। उसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नहीं है इसलिये ज्ञानीके बन्ध नहीं है; क्योंकि विकार जो कि बन्धरूप है और बन्धका कारण है, वह तो बन्धकी पंक्तिमें है, ज्ञानकी पंक्तिमें नहीं। इस अर्थका समर्थनरूप कथन आगे गाथाओंमें आयेगा।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—परपरिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, यह अखंड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञानमें (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता।)

(ज्ञेयोंके निमित्तसे तथा क्षयोपशमके विशेषसे ज्ञानमें जो अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे उनसे रहित ज्ञानमात्र आकार अब अनुभवमें आया इसलिये ज्ञानको 'अखंड' विशेषण दिया है। मतिज्ञानादि जो अनेक भेद कहे जाते थे उन्हें दूर करता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता था उस परिणतिको छोड़ता हुआ उदयको प्राप्त हुआ है इसलिये 'परपरिणतिको छोड़ता हुआ' ऐसा कहा है। परके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित नहीं होता, बलवान है इसलिये 'अत्यन्त प्रचण्ड' कहा है।)

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तम्हि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७३॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः, सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः, पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमना-

---

भावार्थः—कर्मबन्ध तो अज्ञानसे हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे था। अब जब भेदभावको और परपरिणतिको दूर करके एकाकार ज्ञान प्रगट हुआ तब भेदरूप कारककी प्रवृत्ति मिट गई; तब फिर अब बंध किसलिये होगा ? अर्थात् नहीं होगा ।४७।

अब प्रश्न करता है कि यह आत्मा किस विधिसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

गाथा ७३

अन्वयार्थः—ज्ञानी विचार करता है कि:—[खलु] निश्चयसे [अहम्] मैं [एकः] एक हूँ, [शुद्धः] शुद्ध हूँ, [निर्ममतः] ममतारहित हूँ, [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ; [तस्मिन् स्थितः] उस स्वभावमें रहता हुआ, [तच्चित्तः] उसमें (—उस चैतन्य–अनुभवमें) लीन होता हुआ (मैं) [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सर्व आस्रवोंको [क्षयं] क्षयको [नयामि] प्राप्त कराता हूँ।

टीकाः—मैं यह प्रत्यक्ष अखण्ड अनंत चिन्मात्र ज्योति आत्मा अनादि-अनंत, नित्य-उदयरूप, विज्ञानघनस्वभावभावत्वके कारण एक हूँ; (कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप) सर्व कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारको प्राप्त जो निर्मल अनुभूति, उस अनुभूतिमात्रपनेसे शुद्ध हूँ; पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है ऐसे जो क्रोधादिभावोंका विश्वव्यापित्व उसके स्वामीपनेरूप स्वयं सदा ही नहीं परिणमता होनेसे ममतारहित हूँ; चिन्मात्र ज्योतिका (आत्माका), वस्तुस्वभावसे ही, सामान्य और विशेषसे परिपूर्णता होनेसे, मैं

मैं एक शुद्ध ममत्व हीन रु, ज्ञान दर्शन पूर्ण हूँ।
इसमें रहूँ स्थित लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ ॥७३॥

निर्ममतः; चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः, गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोस्मि । तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते ।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्—

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

ज्ञानदर्शनसे परिपूर्ण हूँ ।—ऐसा मैं आकाशादि द्रव्यकी भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ । इसलिये अब मैं समस्त परद्रव्यप्रवृत्तिसे निवृत्तिसे इसी आत्मस्वभावमें निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्यके निमित्तसे विशेषरूप चेतनमें होती हुई चंचल कल्लोलोंके निरोधसे इसको ही (इस चैतन्यस्वरूपको ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञानसे आत्मामें उत्पन्न होते हुए जो यह क्रोधादिक भाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ,—ऐसा आत्मामें निश्चय करके, जिसने बहुत समयसे पकड़े हुए जहाजको छोड़ दिया है, ऐसे समुद्रके भँवरकी भाँति जिसने सर्व विकल्पोंको शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे, निर्विकल्प अचलित निर्मल आत्माका अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है ।

भावार्थः—शुद्धनयसे ज्ञानीने आत्माका ऐसा निश्चय किया है कि—'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्यके प्रति ममतारहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण वस्तु हूँ ।' जब वह ज्ञानी आत्मा ऐसे अपने स्वरूपमें रहता हुआ उसीके अनुभवरूप हो तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं । जैसे समुद्रके आवर्त्त (भँवर) ने बहुत समयसे जहाजको पकड़ रखा हो और जब वह आवर्त्त शमन हो जाता है तब वह उस जहाजको छोड़ देता है, इसीप्रकार आत्मा विकल्पोंके आवर्त्तको शमन करता हुआ आस्रवोंको छोड़ देता है ।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञान होनेका और आस्रवोंकी निवृत्तिका समकाल (एककाल) कैसे है ? उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

ये सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य हैं ।
ये दुःख, दुःखफल जानके इनसे निवर्तन जीव करे ॥७४॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥७४॥

जतुपादपवद्बध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव । शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव । बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःखफलाः खल्वास्रवाः, अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव । इति

गाथा ७४

अन्वयार्थः—[एते] यह आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीवके साथ निबद्ध हैं, [अध्रुवाः] अध्रुव हैं, [अनित्याः] अनित्य हैं [तथा च] तथा [अशरणाः] अशरण हैं, [च] और वे [दुःखानि] दुःखरूप हैं, [दुःखफलाः] दुःख ही जिनका फल है ऐसे हैं,—[इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर ज्ञानी [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्त होता है ।

टीका—वृक्ष और लाखकी भाँति वध्य-घातकस्वभावपना होनेसे आस्रव जीवके साथ बँधे हुए हैं; किन्तु अविरुद्धस्वभावत्वका अभाव होनेसे वे जीव ही नहीं हैं । (लाखके निमित्तसे पीपल आदि वृक्षका नाश होता है । लाख घातक है और वृक्ष वध्य (घात होने योग्य) है । इसप्रकार लाख और वृक्षका स्वभाव एकदूसरेसे विरुद्ध है इसलिये लाख वृक्षके साथ मात्र बँधी हुई ही है; लाख स्वयं वृक्ष नहीं है । इसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है । इसप्रकार विरुद्ध स्वभाव होनेसे आस्रव स्वयं जीव नहीं हैं ।) आस्रव मृगीके वेगकी भाँति बढ़ते-घटते होनेसे अध्रुव हैं; चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है । आस्रव शीतदाहज्वरके आवेशकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं; विज्ञानघन जिसका स्वभाव है ऐसा जीव ही नित्य है । जैसे कामसेवनमें वीर्य छूट जाता है उसी क्षण दारुण कामका संस्कार नष्ट हो जाता है, किसीसे नहीं रोका जा सकता, इसीप्रकार कर्मोदय छूट जाता है उसी क्षण आस्रव नाशको प्राप्त हो जाता है, रोका नहीं जा सकता, इसलिये वे (आस्रव) अशरण हैं; स्वयंरक्षित सहजचिन्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है । आस्रव सदा आकुल

विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते, तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम्।

स्वभाववाले होनेसे दुःखरूप हैं; सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है। आस्रव आगामी कालमें आकुलताको उत्पन्न करनेवाले ऐसे पुद्गलपरिणामके हेतु होनेसे दुःखफलरूप (दुःख जिसका फल है ऐसे) हैं; जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामका अहेतु होनेसे अदुःखफल (दुःखफलरूप नहीं) है।—ऐसा आस्रवोंका और जीवका भेदज्ञान होते ही (तत्काल ही) जिसमें कर्मविपाक शिथिल हो गया है ऐसा वह आत्मा, जिसमें बादल समूहकी रचना खंडित हो गई है ऐसी दिशाके विस्तारकी भाँति अमर्याद जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूपसे विकासको प्राप्त चित्शक्तिसे ज्यों ज्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है, और ज्यों ज्यों आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है त्यों त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है; उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना सम्यक् प्रकारसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है, और उतना आस्रवोंसे निवृत्त होता है जितना सम्यक् प्रकारसे विज्ञानघनस्वभाव होता है। इसप्रकार ज्ञानको और आस्रवोंकी निवृत्तिको समकालपना है।

भावार्थः—आस्रवोंका और आत्माका जैसा ऊपर कहा है, तदनुसार भेद जानते ही, जिस जिस प्रकारसे जितने जितने अंशमें आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता है उस उस प्रकारसे उतने उतने अंशमें वह आस्रवोंसे निवृत्त होता है। जब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव होता है तब समस्त आस्रवोंसे निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञानका और आस्रवनिवृत्तिका एक काल है।

यह आस्रवोंको दूर होनेका और संवर होनेका वर्णन गुणस्थानोंकी परिपाटीरूपसे तत्वार्थसूत्रकी टीका आदि सिद्धान्तशास्त्रोंमें है वहाँसे जानना। यहाँ तो सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्यतया कहा है।

'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है' इसका क्या अर्थ है ? उसका उत्तरः— 'आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है अर्थात् आत्मा ज्ञानमें स्थिर होता जाता है।' जबतक मिथ्यात्व हो तबतक ज्ञानको (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अधिक हो तो भी) अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्वके जानेके बाद उसे (भले ही वह क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प हो तो भी) विज्ञान कहा जाता है। ज्यों ज्यों वह ज्ञान अर्थात् विज्ञान स्थिर—घन होता जाता है त्यों त्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है और ज्यों ज्यों आस्रवोंकी निवृत्ति होती जाती है त्यों त्यों ज्ञान (विज्ञान) स्थिर—घन होता जाता है, अर्थात् आत्मा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

अब इसी अर्थका कलशरूप तथा आगेके कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—इसप्रकार पूर्वकथित विधानसे, अधुना (तत्काल) ही परद्रव्यसे उत्कृष्ट (सर्व प्रकारसे) निवृत्ति करके, विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपनेपर निर्भयतासे आरूढ़ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको निःशंकतया आस्तिक्यभावसे स्थिर करता हुआ), अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके अभ्याससे उत्पन्न क्लेशोंसे निवृत्त हुआ, स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगतका साक्षी (ज्ञातादृष्टा), पुराण पुरुष (आत्मा) अब यहाँसे प्रकाशमान होता है ।४८।

अब पूछते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया यह कैसे पहिचाना जाता है ? उसका चिह्न (लक्षण) कहिये । उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

गाथा ७५

अन्वयार्थ:—[यः] जो [आत्मा] आत्मा [एनम्] इस [कर्मणः परिणामं च] कर्मके परिणामको [तथा एव च] तथा [नोकर्मणः परिणामं] नोकर्मके परिणामको [न करोति] नहीं करता किन्तु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीका:—निश्चयसे मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूपसे अन्तरंगमें उत्पन्न होता हुआ जो कर्मका परिणाम, और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूपसे बाहर उत्पन्न होता हुआ जो नोकर्मका परिणाम, वह सब ही पुद्गलपरिणाम हैं । परमार्थसे, जैसे घड़ेके और मिट्टीके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है उसी-

---

जो कर्मका परिणाम, अरु नोकर्मका परिणाम है ।
सो नहिं करे जो, मात्र जाने, वो हि आत्मा ज्ञानि है ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा, किं तु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिक-

प्रकार पुद्गलपरिणामके और पुद्गलके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है। पुद्गलद्रव्य स्वतंत्र व्यापक है इसलिये पुद्गलपरिणामका कर्ता है और पुद्गलपरिणाम उस व्यापकसे स्वयं व्याप्त होनेके कारण कर्म है। इसलिये पुद्गलद्रव्यके द्वारा कर्ता होकर कर्मरूपसे किया जानेवाला जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम है उसे जो आत्मा, पुद्गलपरिणामको और आत्माको घट और कुम्हारकी भाँति व्याप्यव्यापकभावके अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, परमार्थसे करता नहीं है, परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणामके ज्ञानको (आत्माके) कर्मरूपसे करता हुवा अपने आत्माको जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्मसे) अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है। (पुद्गलपरिणामका ज्ञान आत्माका कर्म किसप्रकार है ? सो समझाते हैं:—) परमार्थसे पुद्गलपरिणामके ज्ञानको और पुद्गलको घट और कुम्हारकी भाँति व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ता-कर्मपनेकी असिद्धि है और जैसे घड़े और मिट्टीके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है। उसीप्रकार आत्मपरिणाम और आत्माके व्याप्यव्यापकभावका सद्भाव होनेसे कर्ता-कर्मपना है। आत्मद्रव्य स्वतंत्र व्यापक होनेसे आत्मपरिणामका अर्थात् पुद्गलपरिणामके ज्ञानका कर्ता है और पुद्गलपरिणामका ज्ञान उस व्यापकसे स्वयं व्याप्य होनेसे कर्म है। और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामका ज्ञान करता है इसलिये) ऐसा भी नहीं है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाताका व्याप्य है; क्योंकि पुद्गल और आत्माके ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धका व्यवहार मात्र होनेपर भी पुद्गलपरिणाम जिसका निमित्त है ऐसा ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है।)

अब इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही होती है, अतत्स्वरूपमें नहीं ही होती। और व्याप्यव्यापकभावके संभवके बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति

योरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात् । न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः, पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् ।

* शार्दूलविक्रीडित *

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४९।।

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ।।७६।।

नहीं ही होती। ऐसे प्रबल विवेकरूप, और सबको ग्रासीभूत करनेके स्वभाववाले ज्ञानप्रकाशके भारसे अज्ञानांधकारको भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, उस समय कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

भावार्थः—जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त होता है सो तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष वह (उस व्यापकका) व्याप्य है। इसप्रकार द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। द्रव्य-पर्याय अभेदरूप ही है। जो द्रव्यका आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है वही पर्यायका आत्मा, स्वरूप अथवा सत्त्व है। ऐसा होनेसे द्रव्य पर्यायमें व्याप्त होता है और पर्याय द्रव्यके द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसी व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूपमें ही (अभिन्न सत्ता वाले पदार्थमें ही) होती है; अतत्स्वरूपमें (जिनकी सत्ता-सत्त्व भिन्न भिन्न है ऐसे पदार्थोंमें) नहीं ही होती। जहाँ व्याप्यव्यापकभाव होता है वहीं कर्ताकर्मभाव होता है; व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्ताकर्मभाव नहीं होता। जो ऐसा जानता है वह पुद्गल और आत्माके कर्ताकर्मभाव नहीं है ऐसा जानता है। ऐसा जानने पर वह ज्ञानी होता है, कर्ताकर्मभावसे रहित होता है और ज्ञाताद्रष्टा—जगतका साक्षीभूत—होता है।४९।

अब यह प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मको जाननेवाले जीवके पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ।।७६।।

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥७६॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परि-

---

गाथा ७६

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता [न उत्पद्यते] और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता।

टीकाः—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गलका परिणामस्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस पुद्गलपरिणामको करता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्यसे किये जानेवाले पुद्गलपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणमित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्मको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थः—जीव पुद्गलकर्मको जानता है तथापि उसे पुद्गलके साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।

सामान्यतया कर्ताका कर्म तीन प्रकारका कहा जाता है—निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। कर्ताके द्वारा, जो पहले न हो ऐसा नवीन कुछ उत्पन्न किया जाये सो कर्ताका निर्वर्त्य कर्म है। कर्ताके द्वारा, पदार्थमें विकार—परिवर्तन करके जो कुछ किया जाये वह

णमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

> णवि परिणमदि ण गिह्वदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
> णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥
>
> नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
> ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥७७॥

कर्ताका विकार्य कर्म है। कर्ता, जो नया उत्पन्न नहीं करता तथा विकार करके भी नहीं करता, मात्र जिसे प्राप्त करता है वह कर्ताका प्राप्य कर्म है।

जीव पुद्गलकर्मको नवीन उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि चेतन जड़को कैसे उत्पन्न कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका निर्वर्त्य कर्म नहीं है। जीव पुद्गलमें विकार करके उसे पुद्गलकर्मरूप परिणमन नहीं करा सकता क्योंकि चेतन जड़को कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका विकार्य कर्म भी नहीं है। परमार्थसे जीव पुद्गलको ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि अमूर्तिक पदार्थ मूर्तिकको कैसे ग्रहण कर सकता है? इसलिये पुद्गलकर्म जीवका प्राप्य कर्म भी नहीं है। इसप्रकार पुद्गलकर्म जीवका कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीवका स्वभाव ज्ञाता है इसलिये ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ स्वयं पुद्गलकर्मको जानता है; इसलिये पुद्गलकर्मको जाननेवाले ऐसे जीवका परके साथ कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं ही हो सकता।

अब प्रश्न करता है कि अपने परिणामको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७७

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [स्वकपरिणामम्] अपने परिणामको [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायमें [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नहीं होता।

> बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे ।
> परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं उपजे ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः।

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मप्फलमणंतं ॥७८॥

टीका:—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला आत्माका परिणाम-स्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें आत्मा स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस आत्मपरिणामको करता है। इसप्रकार आत्माके द्वारा किये जानेवाले आत्मपरिणामको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणमित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसीप्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी अपने परिणामको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ:—जैसा ७६ वीं गाथामें कहा है तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्मको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा था उसके स्थानपर यहाँ 'अपने परिणामको जानता हुआ ज्ञानी' ऐसा कहा है—इतना अन्तर है।

अब प्रश्न करता है कि पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले ऐसे जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं:—

पुद्गलकर्मका फल अनन्ता, ज्ञानि जन जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ॥७८॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद् गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ।

गाथा ७८

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [पुद्गलकर्मफलम्] पुद्गलकर्मका फल [अनंतम्] जो कि अनन्त है उसे [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] परमार्थसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यकी पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उसरूप उत्पन्न नही होता ।

टीकाः—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलस्वरूप जो कर्म (कर्ताका कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उस-रूप परिणमन करता हुआ और उस-रूप उत्पन्न होता हुआ, उस सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको करता है। इसप्रकार पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जानेवाले सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको ज्ञानी जानता हुआ भी, जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेके रूपमें परिणमित होती है और घड़ेके रूपमें उत्पन्न होती है उसी प्रकार, ज्ञानी स्वयं बाह्यस्थित (बाहर रहनेवाले) ऐसे परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता। इसलिये, यद्यपि ज्ञानी सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्मके फलको जानता है तथापि, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे न करनेवाले ऐसे उस ज्ञानीका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ।

जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥७९॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत्पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च, किं तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति

भावार्थः—जैसा कि ७६ वीं गाथामें कहा गया था तदनुसार यहाँ भी जान लेना। वहाँ 'पुद्गलकर्मको जाननेवाला ज्ञानी' कहा था और यहाँ उसके बदलेमें 'पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाला ज्ञानी' ऐसा कहा है—इतना विशेष है।

अब प्रश्न करता है कि जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको नहीं जाननेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा ७९

अन्वयार्थः—[तथा] इसप्रकार [पुद्गलद्रव्यम् अपि] पुद्गलद्रव्य भी [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्यके पर्यायरूप [न अपि परिणमति] परिणमित नहीं होता, [न गृह्णाति] उसे ग्रहण नहीं करता और [न उत्पद्यते] उस-रूप उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह [स्वकैः भावैः] अपने ही भावोंसे (-भावरूपसे) [परिणमति] परिणमन करता है।

टीकाः—जैसे मिट्टी स्वयं घड़ेमें अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, घड़ेको ग्रहण करती है, घड़ेरूप परिणमित होती है और घड़ेरूप उत्पन्न होती है उसीप्रकार जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा

इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निज भावसे ही परिणमे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमें, नहिं ग्रहे, नहिं उपजे ॥७९॥

तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः।

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात्।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

पुद्गलद्रव्य स्वयं परद्रव्यके परिणाममें अन्तर्व्यापक होकर, आदि, मध्य और अन्तमें व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता, उस-रूप परिणमित नहीं होता और उस-रूप उत्पन्न नहीं होता; परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जो व्याप्यलक्षणवाले अपने स्वभावरूप कर्म (कर्ताके कार्य) में (वह पुद्गलद्रव्य) स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर, उसीको ग्रहण करता है, उसी-रूप परिणमित होता है और उसी-रूप उत्पन्न होता है। इसलिये जीवके परिणामको, अपने परिणामको और अपने परिणामके फलको न जानता हुआ ऐसा पुद्गलद्रव्य प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है, उसे नहीं करता होनेसे, उस पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।

भावार्थः—कोई ऐसा समझे कि पुद्गल जो कि जड़ है और किसीको नहीं जानता उसका जीवके साथ कर्ताकर्मपना होगा, परन्तु ऐसा भी नहीं है। पुद्गलद्रव्य जीवको उत्पन्न नहीं कर सकता, परिणमित नहीं कर सकता तथा ग्रहण नहीं कर सकता इसलिये उसका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है। परमार्थसे किसी भी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ कर्ताकर्मभाव नहीं।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी तो अपनी और परकी परिणतिको जानता हुआ प्रवर्तता है और पुद्गलद्रव्य अपनी तथा परकी परिणतिको न जानता हुआ प्रवर्तता है; इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होनेसे (दोनों भिन्नद्रव्य होनेसे), वे दोनों परस्पर अन्तरंगमें व्याप्यव्यापकभावको प्राप्त होनेमें असमर्थ हैं। जीव-पुद्गलके कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण वहाँतक भासित होती है कि जहाँतक (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति करवतकी भाँति निर्दयतासे (उग्रतासे) जीव-पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती।

भावार्थः—भेदज्ञान होनेके बाद, जीव और पुद्गलमें कर्ताकर्मभाव है ऐसी बुद्धि नहीं रहती, क्योंकि जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक अज्ञानसे कर्ताकर्मभावकी बुद्धि होती है।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥८२॥

यद्यपि जीवके परिणाम और पुद्गलके परिणामके अन्योन्य (परस्पर) निमित्तमात्रता है तथापि उनके कर्ताकर्मपना नहीं है ऐसा अब कहते हैं:—

गाथा ८०–८२

अन्वयार्थः—[पुद्गलाः] पुद्गल [जीवपरिणामहेतुं] जीवके परिणामके निमित्तसे [कर्मत्वं] कर्मरूपमें [परिणमंति] परिणमित होते हैं, [तथा एव] तथा [जीवः अपि] जीव भी [पुद्गलकर्मनिमित्तं] पुद्गलकर्मके निमित्तसे [परि-

---

जीवभावहेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे ।
पुद्गलकरमकेनिमितसे, यह जीव भी त्यों परिणमे ॥८०॥
जीव कर्मगुण करता नहीं, नहिं जीवगुण कर्म हि करे ।
अन्योन्यके हि निमित्तसे, परिणाम दोनोंके बने ॥८१॥
इस हेतुसे आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निज भाव ही ।
पुद्गलकरमकृत सर्व भावोंका कभी कर्ता नहीं ॥८२॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य पुद्गलपरिणामानां पुद्गल-कर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्ध-त्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्ता कदा-चित्स्यात्, मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः।

णमति] परिणमन करता है। [जीवः] जीव [कर्मगुणान्] कर्मके गुणोंको [न अपि करोति] नहीं करता [तथा एव] उसी तरह [कर्म] कर्म [जीव-गुणान्] जीवके गुणोंको नहीं करता; [तु] परन्तु [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्तसे [द्वयोः अपि] दोनोंके [परिणामं] परिणाम [जानीहि] जानो। [एतेन कारणेन तु] इस कारणसे [आत्मा] आत्मा [स्वकेन] अपने ही [भावेन] भावसे [कर्ता] कर्ता (कहा जाता) है [तु] परन्तु [पुद्गलकर्म-कृतानां] पुद्गलकर्मसे किये गये [सर्वभावानाम्] समस्त भावोंका [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

टीका:—'जीवपरिणामको निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमित होते हैं'—इसप्रकार जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर हेतुत्वका उल्लेख होनेपर भी जीव और पुद्गलमें परस्पर व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेसे जीवको पुद्गलपरिणामोंके साथ और पुद्गलकर्मको जीवपरिणामोंके साथ कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, मात्र निमित्तनैमित्तिकभावका निषेध न होनेसे, परस्पर निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोंके परिणाम (होता) है। इसलिये, जैसे मिट्टी द्वारा घड़ा किया जाता है (अर्थात् जैसे मिट्टी ही घड़ा बनाती है) उसीप्रकार अपने भावसे अपना भाव किया जाता है इसलिये, जीव अपने भावका कर्ता कदाचित् होता है, परन्तु जैसे मिट्टीसे कपड़ा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार अपने भावसे परभावका किया जाना अशक्य है इस-लिये (जीव) पुद्गलभावोंका कर्ता तो कदापि नहीं हो सकता यह निश्चय है।

भावार्थ:—जीवके परिणामके और पुद्गलके परिणामके परस्पर मात्र निमित्तनैमि-त्तिकपना है तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है। परके निमित्तसे जो अपने भाव हुए उनका

ततः स्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्, यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्पर-

---

कर्ता तो जीवको अज्ञानदशामें कदाचित् कह भी सकते हैं, परन्तु जीव परभावका कर्ता कदापि नहीं है।

इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीवको अपने ही परिणामोंके साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव (भोक्ताभोग्यपना) है ऐसा अब कहते हैं:—

गाथा ८३

अन्वयार्थः—[निश्चयनयस्य] निश्चयनयका [एवम्] ऐसा मत है कि [आत्मा] आत्मा [आत्मानम् एव हि] अपनेको ही [करोति] करता है [तु पुनः] और फिर [आत्मा] आत्मा [तं च एव आत्मानम्] अपनेको ही [वेदयते] भोगता है ऐसा हे शिष्य ! तू [जानीहि] जान ।

टीकाः—जैसे उत्तरंग[1] और निस्तरंग[2] अवस्थाओंको हवाका चलना और न चलना निमित्त होने पर भी हवा और समुद्रको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, समुद्र ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर उत्तरंग अथवा निस्तरंग ऐसा अपनेको करता हुआ स्वयं एकको ही करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता; और फिर जैसे वही समुद्र, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन अशक्य होनेसे, अपनेको उत्तरंग अथवा निस्तरंगरूप अनुभवन करता हुआ

आत्मा करे निजको हि ये, मंतव्य निश्चयनयहिका ।
अरु भोगता निजको हि आत्मा, शिष्य यों तू जानना ॥८३॥

भावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुचरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्; तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत्, तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ।

अथ व्यवहारं दर्शयति—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥८४॥

स्वयं एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, इसीप्रकार संसारयुक्त और निःसंसार अवस्थाओंको पुद्गलकर्मके विपाकका सम्भव (होना; उत्पत्ति) और असम्भव (न होना) निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्म और जीवको व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है इसलिये, जीव ही स्वयं अन्तर्व्यापक होकर संसारयुक्त अथवा निःसंसार अवस्थामें आदि-मध्य-अन्तमें व्याप्त होकर संसारयुक्त अथवा संसाररहित ऐसा अपनेको करता हुआ अपनेको एकको ही करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्यको करता हुआ प्रतिभासित न हो; और फिर उसीप्रकार यही जीव, भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन अशक्य है इसलिये, संसारसहित अथवा संसाररहित अपनेको अनुभव करता हुआ अपनेको एकको ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो परन्तु अन्यको अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

भावार्थः—आत्माके परद्रव्य-पुद्गलकर्मके निमित्तसे संसारयुक्त और संसाररहित अवस्था है। आत्मा उस अवस्थारूपसे स्वयं ही परिणमित होता है इसलिये वह अपना ही कर्ता-भोक्ता है; पुद्गलकर्मका कर्ता-भोक्ता तो कदापि नहीं है।

अब व्यवहार बतलाते हैं:—

आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म—मत व्यवहारका।
अरु वो हि पुद्गलकर्म, आत्मा नेकविधमय भोगता ॥८४॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च

गाथा ८४

अन्वयार्थः—[व्यवहारस्य तु] व्यवहारनयका यह मत है कि [आत्मा] आत्मा [नैकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करता है [पुनः च] और [तद् एव] उसी [अनेकविधम्] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [वेदयते] भोगता है।

टीकाः—जैसे, भीतर व्याप्यव्यापकभावसे मिट्टी घड़ेको करती है और भाव्यभावकभावसे मिट्टी ही घड़ेको भोगती है तथापि, बाह्यमें, व्याप्यव्यापकभावसे घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल ऐसे (इच्छारूप और हाथ आदिकी क्रियारूप अपने) व्यापारको करता हुआ तथा घड़ेके द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न तृप्तिको (अपने तृप्तिभावको) भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ कुम्हार घड़ेका कर्ता है और भोक्ता है ऐसा लोगोंका अनादिसे रूढ़ व्यवहार है; उसीप्रकार, भीतर व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलद्रव्य कर्मको करता है और भाव्यभावकभावसे पुद्गलद्रव्य ही कर्मको भोगता है तथापि, बाह्यमें, व्याप्यव्यापकभावसे अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मके होनेमें अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामोंको करता हुआ और पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई विषयोंकी निकटतासे उत्पन्न (अपनी) सुखदुःखरूप परिणतिको भाव्यभावकभावके द्वारा अनुभव करता हुआ—भोगता हुआ जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है ऐसा अज्ञानियोंका अनादि संसारसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

भावार्थः—पुद्गलकर्मको परमार्थसे पुद्गलद्रव्य ही करता है; जीव तो पुद्गलकर्मकी उत्पत्तिके अनुकूल अपने रागादिक परिणामोंको करता है। और पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मको भोगता है; तथा जीव तो पुद्गलकर्मके निमित्तसे होनेवाले अपने रागादिक परिणामोंको भोगता है। परन्तु जीव और पुद्गलका ऐसा निमित्तनैमित्तिकभाव देखकर अज्ञानीको ऐसा

जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ।

अथैनं दूषयति—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतम् ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न

भ्रम होता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। अनादि अज्ञानके कारण ऐसा अनादि कालसे प्रसिद्ध व्यवहार है।

परमार्थसे जीव-पुद्गलकी प्रवृत्ति भिन्न होने पर भी, जबतक भेदज्ञान न हो तबतक बाहरसे उनकी प्रवृत्ति एकसी दिखाई देती है। अज्ञानीको जीव-पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता इसलिये वह ऊपरी दृष्टिसे जैसा दिखाई देता है वैसा मान लेता है; इसलिये वह यह मानता है कि जीव पुद्गलकर्मको करता है और भोगता है। श्री गुरु भेदज्ञान कराकर, परमार्थ जीवका स्वरूप बताकर, अज्ञानीके इस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं।

अब इस व्यवहारको दूषण देते हैं:—

गाथा ८५

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [इदं] इस [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [करोति] करे [च] और [तद् एव] उसीको [वेदयते] भोगे तो [सः] वह आत्मा [द्विक्रियाव्यतिरिक्तः] दो क्रियाओंसे अभिन्न [प्रसजति] ठहरे ऐसा प्रसंग आता है— [जिनावमतं] जो कि जिनदेवको सम्मत नहीं है।

टीकाः—पहले तो, जगतमें जो क्रिया है सो सब ही परिणामस्वरूप होनेसे वास्तवमें परिणामसे भिन्न नहीं है (-परिणाम ही है), परिणाम भी परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न

पुद्गलकरम जीव जो करे, उनको हि जो जीव भोगवे ।
जिनको असंमत द्विक्रियासे एकरूप आतमा हुवे ॥८५॥

भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ।

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥८६॥

नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (-भिन्न भिन्न दो वस्तु नहीं है)। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) जो कुछ क्रिया है वह सब ही क्रियावानसे (द्रव्यसे) भिन्न नहीं है। इसप्रकार, वस्तुस्थितिसे ही (वस्तुकी ऐसी ही मर्यादा होनेसे) क्रिया और कर्ताकी अभिन्नता सदा ही प्रगटित होनेसे, जैसे जीव व्याप्यव्यापकभावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावकभावसे उसीका अनुभव करता है—भोगता है उसीप्रकार यदि व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको भी करे और भाव्यभावकभावसे उसीको भोगे तो वह जीव, अपनी और परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नताका प्रसंग आने पर स्व-परका परस्पर विभाग अस्त (नाश) हो जानेसे, अनेकद्रव्यस्वरूप एक आत्माका अनुभव करता हुआ मिथ्यादृष्टिताके कारण सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

भावार्थः—दो द्रव्योंकी क्रिया भिन्न ही है। जड़की क्रियाको चेतन नहीं करता और चेतनकी क्रियाको जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियायें करता हुआ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यकी क्रियाओंको एक द्रव्य करता है ऐसा मानना जिनेन्द्र भगवानका मत नहीं है।

अब पुनः प्रश्न करता है कि दो क्रियाओंका अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे है? उसका समाधान करते हैं:—

जीवभाव पुद्गलभाव–दोनों भावको आत्मा करे ।
इससे हि मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे ॥८६॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः। मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु। यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति; तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु, मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणा-

---

गाथा ८६

अन्वयार्थः—[यस्मात् तु] क्योंकि [आत्मभावं] आत्माके भावको [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गलके भावको—[द्वौ अपि] दोनोंको [कुर्वंति] आत्मा करते हैं ऐसा वे मानते हैं [तेन तु] इसलिये [द्विक्रियावादिनः] एक द्रव्यके दो क्रियाओंका होना माननेवाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि [भवंति] हैं।

टीका:—निश्चयसे द्विक्रियावादी यह मानते हैं कि आत्माके परिणामको और पुद्गलके परिणामको स्वयं (आत्मा) करता है इसलिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा सिद्धान्त है। एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणाम किये गये प्रतिभासित न हों। जैसे कुम्हार घड़ेकी उत्पत्तिमें अनुकूल अपने (इच्छारूप और हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापारपरिणामको जो कि अपनेसे अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियामें किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घड़ा बनानेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह कुम्हार) अपने व्यापारके अनुरूप मिट्टीके घट-परिणामको—जो कि मिट्टीसे अभिन्न है और मिट्टीसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियामें किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा भी अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मरूप परिणामके अनुकूल अपने परिणामको—जो कि अपनेसे अभिन्न है और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियामें किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गलके परिणामको करनेके अहंकारसे भरा हुआ होने पर भी (वह आत्मा) अपने परिणामके अनुरूप पुद्गलके परिणामको—जो कि पुद्गलसे अभिन्न है और पुद्गलसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियामें किया जाता है उसे—करता हुआ प्रतिभासित न हो।

मानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।५१।।

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ।।५२।।

(आर्या)

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ।।५३।।

भावार्थः—आत्मा अपने ही परिणामको करता हुआ प्रतिभासित हो; पुद्गलके परिणामको करता हुआ कदापि प्रतिभासित न हो । आत्माकी और पुद्गलकी—दोनोंकी क्रिया एक आत्मा ही करता है ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं । जड़-चेतनकी एक क्रिया हो तो सर्व द्रव्योंके पलट जानेसे सबका लोप हो जायगा—यह महादोष उत्पन्न होगा ।

अब इसी अर्थका समर्थक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो परिणमित होता है सो कर्ता है, (परिणमित होनेवालेका) जो परिणाम है सो कर्म है और जो परिणति है सो क्रिया है; यह तीनों, वस्तुरूपसे भिन्न नहीं हैं ।

भावार्थः—द्रव्यदृष्टिसे परिणाम और परिणामीका अभेद है और पर्यायदृष्टिसे भेद है । भेददृष्टिसे तो कर्ता, कर्म और क्रिया यह तीन कहे गये हैं किन्तु यहाँ अभेददृष्टिसे परमार्थतः यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया—तीनों ही एक द्रव्यकी अभिन्न अवस्थायें हैं, प्रदेशभेदरूप भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं ।५१।

पुनः कहते हैं कि:—

अर्थः—वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, एकके ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्था एककी ही होती है) और एककी ही परिणति—क्रिया होती है; क्योंकि अनेकरूप होनेपर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ।

भावार्थः—एक वस्तुकी अनेक पर्यायें होती हैं; उन्हें परिणाम भी कहा जाता है और अवस्था भी कहा जाता है । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भिन्न भिन्न प्रतिभासित होती हैं तथापि एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं; ऐसा ही भेदाभेदस्वरूप वस्तुका स्वभाव है ।५२।

और कहते हैं कि:—

अर्थः—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नहीं

(आर्या)

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

होता और दो द्रव्योंकी एक परिणति—क्रिया नहीं होती; क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते।

भावार्थः—जो दो वस्तुएँ हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों एक होकर परिणमित नहीं होतीं, एक परिणामको उत्पन्न नहीं करती और उनकी एक क्रिया नहीं होती—ऐसा नियम है। यदि दो द्रव्य एक होकर परिणमित हों तो सर्व द्रव्योंका लोप हो जाये।५३।

पुनः इस अर्थको दृढ़ करते हैं:—

अर्थः—एक द्रव्यके दो कर्ता नहीं होते, और एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता।

भावार्थः—इसप्रकार उपरोक्त श्लोकमें निश्चयनयसे अथवा शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वस्तुस्थितिका नियम कहा है।५४।

आत्माके अनादिसे परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेका अज्ञान है यदि वह परमार्थनयके ग्रहणसे एक बार भी विलयको प्राप्त हो जाये तो फिर न आये, अब ऐसा कहते हैं:—

अर्थः—इस जगत्में मोही (अज्ञानी) जीवोंका 'परद्रव्यको मैं करता हूँ' ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानांधकार—जो अत्यन्त दुर्निवार है वह—अनादि संसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि—अहो! परमार्थनयका अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे यदि वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो सकता है? (जीव ज्ञानघन है इसलिये यथार्थ ज्ञान होनेके बाद ज्ञान कहाँ जा सकता है? और जब ज्ञान नहीं जाता तब फिर अज्ञानसे बन्ध कैसे हो सकता है?)

भावार्थः—यहाँ तात्पर्य यह है कि—अज्ञान तो अनादिसे ही है परन्तु परमार्थनयके ग्रहणसे, दर्शनमोहका नाश होकर, एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो पुनः मिथ्यात्व न आये। मिथ्यात्वके न आनेसे मिथ्यात्वका बन्ध भी न हो। और मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका बन्धन कैसे रह सकता है? नहीं रह सकता अर्थात् मोक्ष ही होता है ऐसा जानना चाहिये।५५।

* अनुष्टुभ् *

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम् ।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरद-

---

अब पुनः विशेषतापूर्वक कहते हैं:—

अर्थः—आत्मा तो सदा अपने भावोंको करता है और परद्रव्य परके भावोंको करता है; क्योंकि जो अपने भाव हैं सो तो आप ही है और जो परके भाव हैं सो पर ही है (यह नियम है)। ५६।

(परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेकी मान्यताको अज्ञान कहकर यह कहा है कि जो ऐसा मानता है सो मिथ्यादृष्टि है; यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि—यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि उन्हें जीवका परिणाम कहा जाये तो पहले रागादि भावोंको पुद्गलका परिणाम कहा था उस कथनके साथ विरोध आता है; और यदि उन्हें पुद्गलका परिणाम कहा जाये तो जिनके साथ जीवको कोई प्रयोजन नहीं है उनका फल जीव क्यों प्राप्त करे ? इस आशंकाको दूर करनेके लिये अब गाथा कहते हैं:—)

गाथा ८७

अन्वयार्थः—[पुनः] और, [मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व कहा है वह—[द्विविधं] दो प्रकारका है—[जीवः अजीवः] एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व; [तथा एव] और इसीप्रकार [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति, [योगः] योग, [मोहः] मोह तथा [क्रोधाद्याः] क्रोधादि कषाय—[इमे भावाः] यह (सर्व) भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं।

टीकाः—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक, मयूर और दर्पणकी भाँति, अजीव और जीवके द्वारा भाये जाते हैं इसलिये वे अजीव भी हैं और जीव

मिथ्यात्व जीव अजीव दोविध, उभयविध अज्ञान है ।
अविरमण, योग रु मोह अरु क्रोधादि उभय प्रकार है ॥८७॥

वजीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव, यथा च नीलहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव; तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव, तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ।

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

भी हैं । इसे दृष्टान्तसे समझाते हैं:—जैसे गहरा नीला, हरा, पीला आदि (वर्णरूप) भाव जो कि मोरके अपने स्वभावसे मोरके द्वारा भाया जाता है (होता है) वह मोर ही है और (दर्पणमें प्रतिबिम्बरूपसे दिखाई देनेवाला) गहरा नीला, हरा, पीला इत्यादि भाव जो कि (दर्पणकी) स्वच्छताके विकारमात्रसे दर्पणके द्वारा भाया जाता है वह दर्पण ही है; इसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि अजीवके अपने द्रव्यस्वभावसे अजीवके द्वारा भाये जाते हैं वे अजीव ही हैं और मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव जो कि चैतन्यके विकारमात्रसे जीवके द्वारा भाये जाते हैं वे जीव हैं ।

भावार्थ:—पुद्गलके परमाणु पौद्गलिक मिथ्यात्वादि कर्मरूपसे परिणमित होते हैं । उस कर्मका विपाक (उदय) होने पर उसमें जो मिथ्यात्वादि स्वाद उत्पन्न होता है वह मिथ्यात्वादि अजीव है; और कर्मके निमित्तसे जीव विभावरूप परिणमित होता है वे विभाव परिणाम चेतनके विकार हैं इसलिये वे जीव हैं ।

यहाँ यह समझना चाहिये कि—मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतियाँ पुद्गलद्रव्यके परमाणु हैं । जीव उपयोगस्वरूप है । उसके उपयोगकी ऐसी स्वच्छता है कि पौद्गलिक कर्मका उदय होने पर उसके उदयका जो स्वाद आये उसके आकार उपयोग हो जाता है । अज्ञानीको अज्ञानके कारण उस स्वादका और उपयोगका भेदज्ञान नहीं है इसलिये वह स्वादको ही अपना भाव समझता है । जब उनका भेदज्ञान होता है अर्थात् जीवभावको जीव जानता है और अजीव भावको अजीव जानता है तब मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है ।

अब प्रश्न करता है कि मिथ्यात्वादिको जीव और अजीव कहा है सो वे जीव मिथ्यात्वादि और अजीव मिथ्यात्वादि कौन हैं ? उसका उत्तर कहते हैं:—

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ।

मिथ्यादर्शनादिचैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८९॥

गाथा ८८

अन्वयार्थः—[मिथ्यात्वं] जो मिथ्यात्व, [योगः] योग, [अविरतिः] अविरति और [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीवः] अजीव है सो तो [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है; [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतिः] अविरति और [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [जीवः] जीव है [तु] वह [उपयोगः] उपयोग है ।

टीकाः—निश्चयसे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं वे तो, अमूर्तिक चैतन्यपरिणामसे अन्य मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं; और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे, मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्य परिणामके विकार हैं ।

अब पुनः प्रश्न करता है कि—मिथ्यादर्शनादि चैतन्यपरिणामका विकार कहाँसे हुआ ? इसका उत्तर गाथामें कहते हैं:—

गाथा ८९

अन्वयार्थः—[मोहयुक्तस्य] अनादिसे मोहयुक्त होनेसे [उपयोगस्य]

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि अजीव, पुद्गलकर्म हैं ।
अज्ञान अरु अविरमण अरु मिथ्यात्व जीव, उपयोग हैं ॥८८॥
है मोहयुत उपयोगका परिणाम तीन अनादिका ।
—मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव ये त्रय जानना ॥८९॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति—

उपयोगके [अनादयः] अनादिसे लेकर [त्रयः परिणामाः] तीन परिणाम हैं; वे [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान [च अविरतिभावः] और अविरतिभाव (ऐसे तीन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

टीका:—यद्यपि निश्चयसे अपने निजरससे ही सर्व वस्तुओंकी अपने स्वभावभूत स्वरूप-परिणमनमें सामर्थ्य है, तथापि (आत्माका) अनादिसे अन्य-वस्तुभूत मोहके साथ संयोग होनेसे, आत्माके उपयोगका, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिके भेदसे तीन प्रकारका परिणामविकार है। उपयोगका वह परिणामविकार, स्फटिककी स्वच्छताके परिणामविकारकी भाँति, परके कारण (-परकी उपाधिसे) उत्पन्न होता दिखाई देता है। इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—जैसे स्फटिककी स्वच्छताकी स्वरूप-परिणमनमें (अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूपमें परिणमन करनेमें) सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् (स्फटिकके) काले, हरे, और पीले, तमाल, केल और सोनेके पात्ररूपी आधारका संयोग होनेसे स्फटिककी स्वच्छताका काला, हरा और पीला ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार दिखाई देता है, उसीप्रकार (आत्माके) अनादिसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति जिसका स्वभाव है, ऐसे अन्य-वस्तुभूत मोहका संयोग होनेसे आत्माके उपयोगका, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकारका परिणामविकार समझना चाहिये।

भावार्थ:—आत्माके उपयोगमें यह तीन प्रकारका परिणामविकार अनादि कर्मके निमित्तसे है। ऐसा नहीं है कि पहले यह शुद्ध ही था और अब इसमें नया परिणामविकार हो गया है। यदि ऐसा हो तो सिद्धोंके भी नया परिणामविकार होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि वह अनादिसे ही है।

अब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व बतलाते हैं:—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः ।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तुसर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमान-

---

गाथा ९०

अन्वयार्थः—[एतेषु च] अनादिसे ये तीन प्रकारके परिणामविकार होनेसे, [उपयोगः] आत्माका उपयोग—[शुद्धः] यद्यपि (शुद्धनयसे) शुद्ध, [निरंजनः] निरंजन [भावः] (एक) भाव है तथापि—[त्रिविधः] तीन प्रकारका होता हुआ [सः उपयोगः] वह उपयोग [यं] जिस [भावम्] (विकारी) भावको [करोति] स्वयं करता है [तस्य] उस भावका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः—इसप्रकार अनादिसे अन्यवस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तताके कारण अपनेमें उत्पन्न होनेवाले जो यह तीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिभावरूप परिणामविकार हैं उनके निमित्तसे (-कारणसे)—यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादिनिधन वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्रभावपनेसे एक प्रकारका है तथापि—अशुद्ध, सांजन, अनेकभावताको प्राप्त होता हुआ तीन प्रकारका होकर, स्वयं अज्ञानी होता हुआ कर्तृत्वको प्राप्त, विकाररूप परिणमित होकर जिस जिस भावको अपना बनाता है उस उस भावका वह उपयोग कर्ता होता है ।

भावार्थः—पहले कहा था कि जो परिणमित होता है सो कर्ता है । यहाँ अज्ञानरूप होकर उपयोग परिणमित हुआ इसलिये जिस भावरूप वह परिणमित हुआ उस भावका उसे कर्ता कहा है । इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना चाहिये । यद्यपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे

इससे हि है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मल भाव जो ।
जो भाव कुछ भी वह करे, उस भावका कर्ता बने ॥९०॥

स्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता स्यात् ।

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥६१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥६१॥

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्साधकवत् । तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि—यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं

आत्मा कर्ता नहीं है, तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होनेसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्माको भी कर्ता कहा जाता है ।

अब, यह कहते हैं कि जब आत्माके तीन प्रकारके परिणामविकारका कर्तृत्व होता है तब पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है ।

गाथा ९१

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भावको [करोति] करता है [तस्य भावस्य] उस भावका [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है; [तस्मिन्] उसके कर्ता होने पर [पुद्गलं द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयं] अपने आप [कर्मत्वं] कर्मरूप [परिणमते] परिणमित होता है ।

टीकाः—आत्मा स्वयं ही उसरूप परिणमित होनेसे जिस भावको वास्तवमें करता है उसका वह—साधककी (मंत्र साधनेवालेकी) भाँति कर्ता होता है, वह (आत्माका भाव) निमित्तभूत होने पर, पुद्गलद्रव्य कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होता है । इसी बातको स्पष्टतया समझाते हैं:—जैसे मंत्र-साधक उस प्रकारके ध्यानभावसे स्वयं ही परिणमित होता हुआ ध्यानका

जो भाव जीव करे स्वयं, उस भावका कर्ता बने ।
उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे ॥९१॥

कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्याप्तयो, विडंब्यंते योषितो, ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्, तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ।

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो ।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९२॥

कर्ता होता है और वह ध्यानभाव समस्त साध्यभावोंको अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होने पर, साधकके कर्ता हुए बिना (सर्पादिकका) व्याप्त विष स्वयमेव उतर जाता है, स्त्रियाँ स्वयमेव विडम्बनाको प्राप्त होती हैं और बंधन स्वयमेव टूट जाते हैं; इसीप्रकार यह आत्मा अज्ञानके कारण मिथ्यादर्शनादिभावरूप स्वयं ही परिणमित होता हुआ मिथ्यादर्शनादिभावका कर्ता होता है और वह मिथ्यादर्शनादिभाव पुद्गलद्रव्यको (कर्मरूप परिणमित होनेमें) अनुकूल होनेसे निमित्तमात्र होनेपर, आत्माके कर्ता हुए बिना पुद्गलद्रव्य मोहनीय आदि कर्मरूप स्वयमेव परिणमित होते हैं ।

भावार्थः—आत्मा तो अज्ञानरूप परिणमित होता है, किसीके साथ ममत्व करता है, किसीके साथ राग करता है, और किसीके साथ द्वेष करता है; उन भावोंका स्वयं कर्ता होता है । उन भावोंके निमित्तमात्र होने पर, पुद्गलद्रव्य स्वयं अपने भावसे ही कर्मरूप परिणमित होता है । परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव मात्र है । कर्ता तो दोनों अपने अपने भावके हैं यह निश्चय है ।

अब, यह तात्पर्य कहते हैं कि अज्ञानसे ही कर्म उत्पन्न होता है:—

गाथा ९२

अन्वयार्थः—[परम्] जो परको [आत्मानं] अपनेरूप [कुर्वन्] करता है [च] और [आत्मानम् अपि] अपनेको भी [परं] पर [कुर्वन्]

परको करे निजरूप अरु, निज आत्मको भी पर करे ।
अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्मका कारक बने ॥९२॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणा-

---

करता है, [सः] वह [अज्ञानमयः जीवः] अज्ञानमय जीव [कर्मणां] कर्मोंका [कारकः] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः—यह आत्मा अज्ञानसे अपना और परका परस्पर भेद (अन्तर) नहीं जानता हो तब वह परको अपनेरूप और अपनेको पररूप करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका कर्ता प्रतिभासित होता है । यह स्पष्टतासे समझाते हैं:—जैसे शीत-उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, इसीप्रकार ऐसा अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है । जब आत्मा अज्ञानके कारण उस राग-द्वेष-सुख-दुःखादिका और उसके अनुभवका परस्पर विशेष नहीं जानता हो तब एकत्वके अध्यासके कारण, शीत-उष्णकी भाँति (अर्थात् जैसे शीत-उष्णरूपसे आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिस रूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे रागद्वेषसुखदुःखादिरूप अज्ञानात्माके द्वारा परिणमित होता हुआ (परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं अज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं रागी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ)' इत्यादि विधिसे रागादि कर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थः—रागद्वेषसुखदुःखादि अवस्था पुद्गलकर्मके उदयका स्वाद है, इसलिये वह, शीत-उष्णताकी भाँति, पुद्गलकर्मसे अभिन्न है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है । अज्ञानके कारण आत्माको उसका भेदज्ञान न होनेसे वह यह जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है;

ज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणः कर्ता प्रतिभाति ।

ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलाद-

---

क्योंकि ज्ञानकी स्वच्छताके कारण रागद्वेषादिका स्वाद, शीत-उष्णताकी भाँति, ज्ञानमें प्रतिबिम्बित होने पर, मानों ज्ञान ही रागद्वेष होगया हो इसप्रकार अज्ञानीको भासित होता है। इसलिये वह यह मानता है कि 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ' इत्यादि । इसप्रकार अज्ञानी जीव रागद्वेषादिका कर्ता होता है ।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानसे कर्म उत्पन्न नहीं होता:—

गाथा- ९३

अन्वयार्थः—[**परम्**] जो परको [**आत्मानम्**] अपनेरूप [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**च**] और [**आत्मानम् अपि**] अपनेको भी [**परम्**] पर [**अकुर्वन्**] नहीं करता [**सः**] वह [**ज्ञानमयः जीवः**] ज्ञानमय जीव [**कर्मणाम्**] कर्मोंका [**अकारकः भवति**] अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नहीं होता ।

टीकाः—यह आत्मा जब ज्ञानसे परका और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) जानता है तब परको अपनेरूप और अपनेको पर नहीं करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ कर्मोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसीको स्पष्टतया समझाते हैं:—जैसे शीत-उष्णका अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी शीत-उष्ण पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण

परको नहीं निजरूप अरु, निज आत्मको नहिं पर करे ।
यह ज्ञानमय आत्मा अकारक कर्मका ऐसे बने ॥९३॥

भिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्तं तथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोऽहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है, उसीप्रकार वैसा अनुभव करानेमें समर्थ ऐसी रागद्वेषसुखदुःखादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नताके कारण आत्मासे सदा ही अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उस प्रकारका अनुभव आत्मासे अभिन्नताके कारण पुद्गलसे सदा ही अत्यन्त भिन्न है। जब ज्ञानके कारण आत्मा उस रागद्वेषसुखदुःखादिका और उसके अनुभवका परस्पर अन्तर जानता है तब, वे एक नहीं किन्तु भिन्न हैं ऐसे विवेक (भेद-ज्ञान) के कारण, शीत-उष्णकी भाँति (जैसे शीत-उष्णरूप आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है उसीप्रकार) जिनके रूपमें आत्माके द्वारा परिणमन करना अशक्य है ऐसे रागद्वेषसुखदुःखादिरूपसे अज्ञानात्माके द्वारा किंचित्मात्र परिणमित न होता हुआ, ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वयं ज्ञानमय होता हुआ, 'यह मैं (रागको) जानता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है (अर्थात् राग तो पुद्गल करता है)' इत्यादि विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध समस्त रागादि कर्मका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ.—जब आत्मा रागद्वेषसुखदुःखादि अवस्थाको ज्ञानसे भिन्न जानता है अर्थात् 'जैसे शीत-उष्णता पुद्गलकी अवस्था है उसीप्रकार रागद्वेषादि भी पुद्गलकी अवस्था है' ऐसा भेदज्ञान होता है, तब अपनेको ज्ञाता जानता है और रागादिरूप पुद्गलको जानता है। ऐसा होनेपर, रागादिका कर्ता आत्मा नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।

अब यह प्रश्न करता है कि अज्ञानसे कर्म कैसे उत्पन्न होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—

'मैं क्रोध' आत्मविकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभावका कर्ता बने ॥९४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ।।९४।।

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामान्याधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

गाथा ९४

अन्वयार्थः—[त्रिविधः] तीन प्रकारका [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [अहम् क्रोधः] 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीकाः—वास्तवमें यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता)से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर, भाव्यभावकभावको प्राप्त चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरणसे (–मानों उनका एक आधार हो इसप्रकार) अनुभव करनेसे, 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है; इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सविकार (विकारयुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सविकार चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है। इसीप्रकार 'क्रोध' पदको बदलकर मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शनके सोलह सूत्र व्याख्यानरूपसे लेना चाहिये; और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये ।

भावार्थः—अज्ञानरूप अर्थात् मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका जो सविकार चैतन्यपरिणाम है वह अपना और परका भेद न जानकर 'मैं क्रोध हूँ, मैं मान हूँ' इत्यादि मानता है; इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९५॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः समानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोहमधर्मोहमाकाशमहं कालोहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति; ततोयमात्मा धर्मोहमधर्मोहमाकाशमहं कालोहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपा-

---

अब इसी बातको विशेषरूपसे कहते हैं:—

गाथा ९५

अन्वयार्थ:—[त्रिविधः] तीन प्रकारका [एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [धर्मादिकम्] 'मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ' ऐसा [आत्मविकल्पं] अपना विकल्प [करोति] करता है; इसलिये [सः] आत्मा [तस्य उपयोगस्य] उस उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका:—वास्तवमें यह सामान्यरूपसे अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन-अज्ञान-अविरतिरूप तीन प्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रति (लीनता) से स्व-परके समस्त भेदको छिपाकर ज्ञेयज्ञायकभावको प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतनका सामान्य अधिकरणसे अनुभव करनेसे, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है, इसलिये, 'मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ' ऐसी भ्रान्तिके कारण जो सोपाधिक (उपाधियुक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामसे परिणमित होता हुआ यह आत्मा उस सोपाधिक चैतन्यपरिणामरूप अपने भावका कर्ता होता है।

'मैं धर्म आदि' विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे ।
तब जीव उस उपयोगका, आत्मभावका कर्ता बने ॥९५॥

धिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् ।

ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

यत्किल क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मोहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि

भावार्थ:—धर्मादिके विकल्पके समय जो, स्वयं शुद्ध चैतन्यमात्र होनेका भान न रखकर, धर्मादिके विकल्पमें एकाकार हो जाता है वह अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है ।

इसप्रकार, अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है इसलिये अज्ञानी जीव उस अज्ञानरूप सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है ।

"इसलिये कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ" यह अब कहते हैं:—

गाथा ९६

अन्वयार्थ:—[एवं तु] इसप्रकार [मंदबुद्धिः] अज्ञानी [अज्ञानभावेन] अज्ञानभावसे [पराणि द्रव्याणि] पर द्रव्योंको [आत्मानं] अपनेरूप [करोति] करता है [अपि च] और [आत्मानम्] अपनेको [परं] पर [करोति] करता है ।

टीका:—वास्तवमें इसप्रकार, 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादिकी भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादिकी भाँति आत्मा परद्रव्योंको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है; इसलिये यह आत्मा, यद्यपि समस्त वस्तुओंके सम्बन्धसे रहित अनन्त शुद्ध चैतन्य-धातुमय है तथापि, अज्ञानके कारण ही सविकार और सोपाधिक किये गये चैतन्य परिणामवाला होनेसे उस प्रकारके अपने भावका कर्ता प्रतिभासित होता है । इसप्रकार, भूताविष्ट

यह मंदबुद्धि जीव यों, परद्रव्यको निजरूप करे ।
इस भाँतिसे निज आत्मको, अज्ञानसे पररूप करे ॥९६॥

परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोप्य-ज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्। तथा हि— यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भर-भयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभाव-कानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरंबितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा वापरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्याना-विष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युत-मानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति, तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नो-

---

(जिसके शरीरमें भूत प्रविष्ट हो ऐसे) पुरुषकी भाँति और ध्यानाविष्ट (ध्यान करनेवाले) पुरुषकी भाँति, आत्माके कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ। यह प्रगट दृष्टान्तसे समझाते हैं:—जैसे भूताविष्ट पुरुष अज्ञानके कारण भूतको और अपनेको एक करता हुआ, अमनुष्यो-चित विशिष्ट चेष्टाओंके अवलम्बन सहित भयंकर आरम्भ (कार्य) से युक्त अमानुषिक व्यवहारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है; इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ही भाव्य-भावकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, अविकार अनुभूतिमात्र भावकके लिये अनुचित विचित्र भाव्यरूप क्रोधादि विकारोंसे मिश्रित चैतन्य-परिणामविकारवाला होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेका ध्यान करता हुआ कोई भोला पुरुष अज्ञानके कारण भैंसेको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं गगनस्पर्शी सींगोंवाला बड़ा भैंसा हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनुष्योचित अपवरकके द्वारमेंसे बाहर निकलनेसे च्युत होता हुआ उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है, इसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ज्ञेयज्ञायकरूप परको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं परद्रव्य हूँ' ऐसे अध्यासके कारण मनके विषयभूत किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवके द्वारा (अपनी) शुद्ध चैतन्यधातु रुकी होनेसे तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थोंके द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) ढँका हुआ होनेसे और मृतक शरीरके द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वयं) मूर्छित हुआ होनेसे उस प्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है।

इन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेंद्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम्—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम् ॥९७॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति, यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति ततः स खल्वकर्ता

भावार्थः—यह आत्मा अज्ञानके कारण, अचेतन कर्मरूप भावकके क्रोधादि भाव्यको चेतन भावकके साथ एकरूप मानता है; और वह, जड़ ज्ञेयरूप धर्मादिद्रव्योंको भी ज्ञायकके साथ एकरूप मानता है। इसलिये वह सविकार और सोपाधिक चैतन्यपरिणामका कर्ता होता है।

यहाँ, क्रोधादिके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये भूताविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्यद्रव्योंके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये ध्यानाविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है।

'इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता है' यही अब कहते हैं:—

गाथा ९७

अन्वयार्थः—[एतेन तु] इसलिये [निश्चयविद्भिः] निश्चयके जाननेवाले ज्ञानियोंने [सः आत्मा] उस आत्माको [कर्ता] कर्ता [परिकथितः] कहा है— [एवं खलु] ऐसा निश्चयसे [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह (ज्ञानी होता हुआ) [सर्वकर्तृत्वम्] सर्व कर्तृत्वको [मुंचति] छोड़ता है।

टीकाः—क्योंकि यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका आत्मविकल्प करता है इसलिये वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है—जो ऐसा जानता है वह

इस हेतुसे परमार्थविद्, कर्त्ता कहें इस आत्मको ।
यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्वको ॥९७॥

प्रतिभाति। तथा हि—इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात्; ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति; ततः क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति; ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारम्वारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति। ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात्; ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति; ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति; ततः समस्त-

---

समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है इसलिये वह निश्चयसे अकर्ता प्रतिभासित होता है। इसे स्पष्ट समझाते हैं:—

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानके कारण अनादि संसारसे लेकर मिश्रित स्वादका स्वादन—अनुभवन होनेसे (अर्थात् पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकमेकरूपसे-मिश्र अनुभव होनेसे), जिसकी भेदसंवेदन (भेदज्ञान)की शक्ति संकुचित होगई है ऐसा अनादिसे ही है, इसलिये वह स्व-परको एकरूप जानता है; इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्म-विकल्प करता है, इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन (स्वभाव)से भ्रष्ट होता हुआ बारम्बार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

और जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञानके कारण ज्ञानके प्रारम्भसे लेकर पृथक् पृथक् स्वादका अनुभवन होनेसे (पुद्गलकर्मका और अपने स्वादका एकरूप नहीं किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभवन होनेसे), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट होगई है ऐसा होता है; इसलिये वह जानता है कि "अनादिनिधन, निरन्तर स्वादमें आनेवाला, समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्य रस ही एक जिसका रस है ऐसा आत्मा है और कषायें उससे भिन्न रसवाली हैं; उनके साथ जो एकत्वका विकल्प करना है वह अज्ञानसे है"; इसप्रकार परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है, इसलिये 'अकृत्रिम (नित्य), एक ज्ञान ही मैं हूँ किन्तु कृत्रिम (अनित्य), अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नहीं हूँ' ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित्मात्र भी नहीं करता, इसलिये समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है; अतः सदा ही उदासीन अवस्थावाला होता हुआ मात्र जानता ही रहता है, और इसलिये निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

मपि कर्तृत्वमपास्यति; ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते; ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति ।

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥५७॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥५८॥

भावार्थः—जो परद्रव्यके और परद्रव्यके भावोंके कर्तृत्वको अज्ञान जानता है वह स्वयं कर्ता क्यों बनेगा ? यदि अज्ञानी बना रहना हो तो परद्रव्यका कर्ता बनेगा । इसलिये ज्ञान होनेके बाद परद्रव्यका कर्तृत्व नहीं रहता ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—निश्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञानके कारण जो जीव, घासके साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजनको खानेवाले हाथी आदि पशुओंकी भाँति, राग करता है (रागका और अपना मिश्र स्वाद लेता है) वह, श्रीखंडके खट्टे-मीठे स्वादकी अति लोलुपतासे श्रीखण्डको पीता हुआ भी स्वयं गायका दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुषके समान है ।

भावार्थः—जैसे हाथीको घासके और सुन्दर आहारके भिन्न स्वादका भान नहीं होता उसीप्रकार अज्ञानीको पुद्गलकर्मका और अपने भिन्न स्वादका भान नहीं होता; इसलिये वह एकाकाररूपसे रागादिमें प्रवृत्त होता है । जैसे श्रीखण्डका स्वादलोलुप पुरुष, श्रीखंडके स्वाद-भेदको न जानकर, श्रीखण्डके स्वादको मात्र दूधका स्वाद जानता है उसीप्रकार अज्ञानी जीव स्व-परके मिश्र स्वादको अपना स्वाद समझता है ।५७।

अज्ञानसे ही जीव कर्ता होता है इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानके कारण मृगमरीचिकामें जलकी बुद्धि होनेसे हिरण उसे पीनेको दौड़ते हैं; अज्ञानके कारण ही अन्धकारमें पड़ी हुई रस्सीमें सर्पका अध्यास होनेसे लोग (भयसे) भागते हैं; और (इसीप्रकार) अज्ञानके कारण ये जीव, पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति विकल्पोंके समूहको करनेसे—यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि—आकुलित होते हुए अपने आप ही कर्ता होते हैं ।

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५६॥

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ॥६०॥

भावार्थः—अज्ञानसे क्या क्या नहीं होता ? हिरण बालूकी चमकको जल समझकर पीने दौड़ते हैं और इसप्रकार वे खेद खिन्न होते हैं। अन्धेरेमें पड़ी हुई रस्सीको सर्प मानकर लोग उससे डरकर भागते हैं। इसीप्रकार यह आत्मा, पवनसे क्षुब्ध हुये तरंगित समुद्रकी भाँति, अज्ञानके कारण अनेक विकल्प करता हुआ क्षुब्ध होता है और इसप्रकार—यद्यपि परमार्थसे वह शुद्धज्ञानघन है तथापि—अज्ञानसे कर्ता होता है।५८।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानसे आत्मा कर्ता नहीं होता :—

अर्थः—जैसे हंस दूध और पानीके विशेष (अन्तर)को जानता है उसीप्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होनेसे परके और अपने विशेषको जानता है वह (जैसे हंस मिश्रित हुये दूध और पानीको अलग करके दूधको ग्रहण करता है उसीप्रकार) अचल चैतन्यधातुमें आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) मात्र जानता ही है, किंचित् मात्र भी कर्ता नहीं होता।

भावार्थः—जो स्व-परके भेदको जानता है वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं।५६।

अब, यह कहते हैं कि जो कुछ ज्ञात होता है वह ज्ञानसे ही होता है:—

अर्थः (गर्म पानीमें) अग्निकी उष्णताका और पानीकी शीतलताका भेद, ज्ञानसे ही प्रगट होता है। व्यंजनके स्वादमें नमकके स्वादकी सर्वथा भिन्नता ज्ञानसे ही प्रगट होती है। निज रससे विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातुका और क्रोधादि भावका भेद, कर्तृत्वको भेदता हुआ, ज्ञानसे ही प्रगट होता है।६०।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भावको करता है किन्तु पुद्गलके भावको कभी नहीं करता—इस अर्थका, आगेकी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

(अनुष्टुभ्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

तथा हि—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥६८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥९८॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मक

अर्थः—इसप्रकार वास्तवमें अपनेको अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावका कर्ता है, परभावका (पुद्गलके भावोंका) कर्ता तो कदापि नहीं है ।६१।

इसी बातको दृढ़ करते हुये कहते हैं कि:—

अर्थः—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करे ? आत्मा परभावका कर्ता है ऐसा मानना (तथा कहना) सो व्यवहारी जीवोंका मोह (अज्ञान) है ।६२।

अब कहते हैं कि व्यवहारी जन ऐसा कहते हैं:—

गाथा ९८

अन्वयार्थः—[**व्यवहारेण तु**] व्यवहारसे अर्थात् व्यवहारी जन मानते हैं कि [**इह**] जगतमें [**आत्मा**] आत्मा [**घटपटरथान् द्रव्याणि**] घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओंको [**च**] और [**करणानि**] इन्द्रियोंको, [**विविधानि**] अनेक प्रकारके [**कर्माणि**] क्रोधादि द्रव्यकर्मोंको [**च नोकर्माणि**] और शरीरादिक नोकर्मोंको [**करोति**] करता है ।

टीकाः—जिससे अपने (इच्छारूप) विकल्प और (हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापारके द्वारा यह आत्मा घट आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्यकर्मको करता हुआ (व्यवहारी-जनोंको) प्रतिभासित होता है इसलिये उसीप्रकार (आत्मा) क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप समस्त

घट-पट-रथादिक वस्तुएँ, कर्मादि अरु सब इन्द्रियें ।
नोकर्म विधविध जगतमें, आत्मा करे व्यवहारसे ॥९८॥

बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ।

स न सन्—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥९९॥

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावा-

---

अन्तरंग कर्मको भी—(उपरोक्त) दोनों कर्म परद्रव्यस्वरूप हैं इसलिये उनमें अन्तर न होनेसे —करता है, ऐसा व्यवहारी जनोंका व्यामोह (भ्रान्ति, अज्ञान) है ।

भावार्थः—घट-पट, कर्म-नोकर्म इत्यादि परद्रव्योंको आत्मा करता है ऐसा मानना सो व्यवहारी जनोंका व्यवहार या अज्ञान है ।

अब यह कहते हैं कि व्यवहारी जनोंकी यह मान्यता यथार्थ नहीं हैः—

गाथा ९९

अन्वयार्थः—[यदि च] यदि [सः] आत्मा [परद्रव्याणि] परद्रव्योंको [कुर्यात] करे तो वह [नियमेन] नियमसे [तन्मयः] तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय [भवेत्] हो जाये; [यस्मात् न तन्मयः] किन्तु तन्मय नहीं है [तेन] इसलिये [सः] वह [तेषां] उनका [कर्ता] कर्ता [न भवति] नहीं है ।

टीकाः—यदि निश्चयसे यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्मको करे तो, अन्य किसी प्रकारसे परिणाम-परिणामी भाव न बन सकनेसे, वह (आत्मा) नियमसे तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये, परन्तु वह तन्मय नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाशकी आपत्ति (दोष) आ जायेगा । इसलिये आत्मा व्याप्य-व्यापकभावसे परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है ।

परद्रव्यको जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने ।
पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्त्ता जीव है ॥९९॥

न्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात्; न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ।

निमित्तनैमित्तकभावेनापि न कर्तास्ति—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तकभावेनापि न

भावार्थः—यदि एक द्रव्यका कर्ता दूसरा द्रव्य हो तो दोनों द्रव्य एक हो जायें, क्योंकि कर्ता-कर्मभाव अथवा परिणाम-परिणामीभाव एक द्रव्यमें ही हो सकता है। इसीप्रकार यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाये, तो उस द्रव्यका ही नाश हो जाये यह बड़ा दोष आ जायेगा। इसलिये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यका कर्ता कहना उचित नहीं है।

अब यह कहते हैं कि आत्मा (व्याप्यव्यापकभावसे ही नहीं किन्तु) निमित्तनैमित्तिकभावसे भी कर्ता नहीं है:—

गाथा १००

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [घटं] घटको [न करोति] नहीं करता, [पटं न एव] पटको नहीं करता, [शेषकानि] शेष कोई [द्रव्याणि] द्रव्योंको [न एव] नहीं करता; [च] परन्तु [योगोपयोगौ] जीवके योग और उपयोग [उत्पादकौ] घटादिको उत्पन्न करनेवाले निमित्त हैं [तयोः] उनका [कर्ता] कर्ता [भवति] जीव होता है।

टीकाः—वास्तवमें जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म हैं उन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभावसे नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसंग आ जाये; तथा वह निमित्तनैमित्तिकभावसे भी (उनको) नहीं करता क्योंकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्वका

जीव नहिं करे घट पट नहीं, नहिं शेष द्रव्यों जीव करे ।
उपयोगयोग निमित्तकर्ता, जीव तत्कर्ता बने ॥१००॥

तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ । योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि ।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०१॥

(सर्व अवस्थाओंमें कर्तृत्व होनेका) प्रसंग आजायेगा। अनित्य (जो सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त नहीं होते ऐसे) योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे उसके (-परद्रव्यस्वरूप कर्मके) कर्ता हैं। (रागादिविकारयुक्त चैतन्यपरिणामरूप) अपने विकल्पको और (आत्मप्रदेशोंके चलनरूप) अपने व्यापारको कदाचित् अज्ञानसे करनेके कारण योग और उपयोगका तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता तो (निमित्तरूपसे भी कदापि) नहीं है।

भावार्थः—योग अर्थात् आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन (चलन) और उपयोग अर्थात् ज्ञानका कषायोंके साथ उपयुक्त होना—जुड़ना। यह योग और उपयोग घटादिक और क्रोधादिकके निमित्त हैं इसलिये उन्हें घटादिक तथा क्रोधादिकका निमित्तकर्ता कहा जावे परन्तु आत्माको तो उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। आत्माको संसारअवस्थामें अज्ञानसे मात्र योग-उपयोगका कर्ता कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि—द्रव्यदृष्टिसे कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कर्ता नहीं है; परन्तु पर्यायदृष्टिसे किसी द्रव्यकी पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायकी निमित्त होती है इसलिये इस अपेक्षासे एक द्रव्यके परिणाम अन्य द्रव्यके परिणामोंके निमित्तकर्ता कहलाते हैं। परमार्थसे द्रव्य अपने ही परिणामोंका कर्ता है, अन्यके परिणामका अन्यद्रव्य कर्ता नहीं होता।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है:—

गाथा १०१

अन्वयार्थः—[ये] जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्गल-

ज्ञानावरणआदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है ॥१०१॥

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी, किन्तु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

द्रव्याणां] पुद्गलद्रव्योंके [परिणामाः] परिणाम [भवंति] हैं [तानि] उन्हें [यः आत्मा] जो आत्मा [न करोति] नहीं करता परंतु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीका:—जैसे दूध-दही जो कि गोरसके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरसके मीठे-खट्टे परिणाम हैं, उन्हें गोरसका तटस्थ दृष्टा पुरुष करता नहीं है, इसीप्रकार ज्ञानावरणादिक जो कि वास्तवमें पुद्गलद्रव्यके द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले पुद्गलद्रव्यके परिणाम हैं, उन्हें ज्ञानी करता नहीं है; किन्तु जैसे वह गोरसका दृष्टा, स्वतः (देखनेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाले गोरस-परिणामके दर्शनमें व्याप्त होकर, मात्र देखता ही है, इसीप्रकार ज्ञानी, स्वतः (जाननेवालेसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला, पुद्गलद्रव्य-परिणाम जिसका निमित्त है ऐसे ज्ञानमें व्याप्त होकर, मात्र जानता ही है । इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है ।

और इसीप्रकार 'ज्ञानावरण' पद पलटकर कर्म-सूत्रका (कर्मकी गाथाका) विभाग करके कथन करनेसे दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके सात सूत्र, तथा उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शनके सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना; और इसीप्रकार इस उपदेशसे अन्य भी विचार लेना ।

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उस हि का कर्ता बने ।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०२ ॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा यो यं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद्भवति कर्ता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद्भवति कर्म; स एव चात्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वाद्भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ।

अब यह कहते हैं कि अज्ञानी भी परद्रव्यके भावका कर्ता नहीं है :—

गाथा १०२

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [यं] जिस [शुभम् अशुभम्] शुभ या अशुभ [भावं] (अपने) भावको [करोति] करता है [तस्य] उस भावका [सः] वह [खलु] वास्तवमें [कर्ता] कर्ता होता है, [तत्] वह (भाव) [तस्य] उसका [कर्म] कर्म [भवति] होता है [सः आत्मा तु] और वह आत्मा [तस्य] उसका (उस भावरूप कर्मका) [वेदकः] भोक्ता होता है ।

टीकाः—अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होनेपर भी इस लोकमें जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वके अध्यास (निश्चय)से मंद और तीव्र स्वादयुक्त पुद्गलकर्मके विपाककी दो दशाओंके द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वादको भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भावको करता है, वह आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका व्यापक होनेसे उसका कर्ता होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका व्याप्य होनेसे उसका कर्म होता है; और वही आत्मा उस समय तन्मयतासे उस भावका भावक होनेसे उसका अनुभव करनेवाला (भोक्ता) होता है और वह भाव भी उस समय तन्मयतासे उस आत्माका भाव्य होनेसे उसका अनुभाव्य (भोग्य) होता है । इसप्रकार अज्ञानी भी परभावका कर्ता नहीं है ।

भावार्थः—पुद्गलकर्मका उदय होनेपर, ज्ञानी उसे जानता ही है अर्थात् वह ज्ञानका ही कर्ता होता है और अज्ञानी अज्ञानके कारण कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले अपने अज्ञानरूप शुभाशुभ भावोंका कर्ता होता है । इसप्रकार ज्ञानी अपने ज्ञानरूप भावका और अज्ञानी अपने अज्ञानरूप भावका कर्ता है; परभावका कर्ता तो ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई भी नहीं है ।

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः; स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तेत न पुनः द्रव्यांतरं गुणांतरं वा संक्रामेत । द्रव्यांतरं गुणांतरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् ? अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ।

अब यह कहते हैं कि परभावको कोई (द्रव्य) नहीं कर सकताः—

गाथा १०३

अन्वयार्थः—[यः] जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) [यस्मिन् द्रव्ये] जिस द्रव्यमें और [गुणे] गुणमें वर्तती है [सः] वह [अन्यस्मिन् तु] अन्य [द्रव्ये] द्रव्यमें तथा गुणमें [न संक्रामति] संक्रमणको प्राप्त नहीं होती (बदलकर अन्यमें नहीं मिल जाती); [अन्यत् असंक्रान्तः] अन्यरूपसे संक्रमणको प्राप्त न होती हुई [सः] वह (वस्तु), [तत् द्रव्यम्] अन्य वस्तुको [कथं] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकती है ।

टीकाः—जगतमें जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्यमें और गुणमें निज रससे ही अनादिसे ही वर्तती है वह, वास्तवमें अचलित वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोड़ना अशक्य होनेसे, उसीमें (अपने उतने द्रव्य-गुणमें ही) वर्तती है परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमणको प्राप्त नहीं होती; तब द्रव्यान्तर या गुणांतररूप संक्रमणको प्राप्त न होती हुई वह, अन्य वस्तुको कैसे परिणमित करा सकती है ? (कभी नहीं करा सकती ।) इसलिये परभाव किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता ।

भावार्थः—जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई भी नहीं बदल सकता, यह वस्तुकी मर्यादा है ।

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्यमें, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।
अनसंक्रमा किसभाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥१०३॥

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

यथा खलु मृण्मये कलशकर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः, द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमयज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते; द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणा-

---

उपरोक्त कारणसे आत्मा वास्तवमें पुद्गलकर्मका अकर्ता सिद्ध हुआ, यह कहते हैं:—

गाथा १०४

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलमये कर्मणि] पुद्गलमय कर्ममें [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्यको तथा गुणको [न करोति] नहीं करता; [तस्मिन्] उसमें [तद् उभयम्] उन दोनोंको [अकुर्वन्] न करता हुआ [सः] वह [तस्य कर्ता] उसका कर्ता [कथं] कैसे हो सकता है ?

टीका:—जैसे—मिट्टीमय घटरूपी कर्म जो कि मिट्टीरूपी द्रव्यमें और मिट्टीके गुणमें निजरससे ही वर्तता है उसमें कुम्हार अपनेको या अपने गुणको डालता या मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तुका) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपमें संक्रमण होनेका वस्तुस्थितिसे ही निषेध है, द्रव्यान्तररूपमें (अन्यद्रव्यरूपमें) संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे, अपने द्रव्य और गुण-दोनोंको उस घटरूपी कर्ममें न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थसे उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता । इसीप्रकार—पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्यमें और पुद्गलके गुणोंमें निज रससे ही वर्तता है उसमें आत्मा अपने द्रव्यको या अपने गुणको वास्तवमें डालता या मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तुका)

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण पुद्गलमयी कर्मों विषै ।
इन उभयको उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्त्ता बने-॥१०४॥

न्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् ? ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ।

अतोऽन्यस्तूपचारः—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम् ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना

द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपमें संक्रमण होना अशक्य है; द्रव्यान्तररूपमें संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे, अपने द्रव्य और गुण–दोनोंको ज्ञानावरणादि कर्मोंमें न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थसे उसका कर्ता कैसे हो सकता है ? (कभी नहीं हो सकता।) इसलिये वास्तवमें आत्मा पुद्गलकर्मोंका अकर्ता सिद्ध हुआ।

इसलिये इसके अतिरिक्त अन्य—अर्थात् आत्माको पुद्गलकर्मका कर्ता कहना सो—उपचार है, अब यह कहते हैं:—

गाथा १०५

अन्वयार्थः—[जीवे] जीव [हेतुभूते] निमित्तभूत होने पर [बंधस्य तु] कर्मबंधका [परिणामम्] परिणाम होता हुआ [दृष्ट्वा] देखकर, '[जीवेन] जीवने [कर्म कृतं] कर्म किया' इसप्रकार [उपचारमात्रेण] उपचारमात्रसे [भण्यते] कहा जाता है।

टीकाः—इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होनेपर भी, अनादि अज्ञानके कारण पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होते हुवे अज्ञानभावमें परिणमता होनेसे निमित्तभूत होनेपर, पौद्गलिक कर्म उत्पन्न होता है, इसलिये 'पौद्गलिक कर्म

जीव हेतुभूत हुआ अरे ! परिणाम देख जु बंधका ।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्माने किया ॥ १०५ ॥

कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः । स तूपचार एव न तु परमार्थः ।

कथमिति चेत्—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥ १०६ ॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥ १०६ ॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो, न परमार्थः । तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञाना-

---

आत्माने किया' ऐसा निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियोंका विकल्प है, वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नहीं ।"

भावार्थः—कदाचित् होनेवाले निमित्तनैमित्तिकभावमें कर्ताकर्मभाव कहना सो उपचार है ।

अब, यह उपचार कैसे है सो दृष्टांत द्वारा कहते हैं:—

गाथा १०६

अन्वयार्थः—[योधैः] योद्धाओंके द्वारा [युद्धे कृते] युद्ध किये जानेपर, '[राज्ञा कृतम्] राजाने युद्ध किया' [इति] इसप्रकार [लोकः] लोक [जल्पते] (व्यवहारसे) कहते हैं [तथा] उसीप्रकार '[ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेन कृतं] जीवने किया' [व्यवहारेण] ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ।

टीकाः—जैसे युद्धपरिणाममें स्वयं परिणमते हुवे योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर, युद्धपरिणाममें स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले राजामें ऐसा उपचार किया जाता है कि 'राजाने युद्ध किया', यह परमार्थसे नहीं है; इसीप्रकार ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामरूप स्वयं परिणमते हुवे पुद्गलद्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर, ज्ञानावरणादिकर्मपरि-

---

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहें ।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहारसे ॥ १०६ ॥

वरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो, न परमार्थः ।

अत एतत्स्थितम्—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म ।

णामरूप स्वयं परिणमित नहीं होनेवाले आत्मामें जो यह उपचार किया जाता है कि 'आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं,' वह परमार्थ नहीं है ।

भावार्थः—योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है कि 'राजाने युद्ध किया' इसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्यके द्वारा किये जानेपर भी उपचारसे यह कहा जाता है कि 'जीवने कर्म किये' ।

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतुसे यह सिद्ध हुआ कि:—

गाथा १०७

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**पुद्गलद्रव्यम्**] पुद्गलद्रव्यको [**उत्पादयति**] उत्पन्न करता है, [**करोति च**] करता है, [**बध्नाति**] बाँधता है, [**परिणामयति**] परिणमन कराता है [**च**] और [**गृह्णाति**] ग्रहण करता है–यह [**व्यवहारनयस्य**] व्यवहारनयका [**वक्तव्यम्**] कथन है ।

टीकाः—यह आत्मा वास्तवमें, व्याप्यव्यापकभावके अभावके कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (-पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्मको ग्रहण नहीं करता, परिणमित नहीं करता, उत्पन्न नहीं करता, और न उसे करता है न बाँधता है; तथा व्याप्यव्यापक-भावका अभाव होनेपर भी, "प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य-पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है" इत्यादिरूप

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे ।
पुद्गलदरवको आतमा—व्यवहारनयवक्तव्य है ॥१०७॥

यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ।

कथमिति चेत्—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद् दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः; तथा पुद्गलद्रव्यस्य

विकल्प वास्तवमें उपचार है।

भावार्थः—व्याप्यव्यापकभावके बिना कर्तृत्वकर्मत्व कहना सो उपचार है, इसलिये आत्मा पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है इत्यादि कहना सो उपचार है।

अब यहाँ प्रश्न करता है कि यह उपचार कैसे है ? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

गाथा १०८

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [राजा] राजाको [दोषगुणोत्पादकः इति] प्रजाके दोष और गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहारसे [आलपितः] कहा है, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीवको [द्रव्यगुणोत्पादकः] पुद्गलद्रव्यके द्रव्य-गुणोंको उत्पन्न करनेवाला [व्यवहारात्] व्यवहारसे [भणितः] कहा गया है।

टीकाः—जैसे प्रजाके गुणदोषोंमें और प्रजामें व्याप्यव्यापकभाव होनेसे स्व-भावसे ही (प्रजाके अपने भावसे ही) उन गुणदोषोंकी उत्पत्ति होनेपर भी—यद्यपि उन गुणदोषोंमें और राजामें व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तथापि—यह उपचारसे कहा जाता है कि 'उनका उत्पादक राजा है'; इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यके गुणदोषोंमें और पुद्गलद्रव्यमें व्याप्यव्यापक-

---

गुणदोषउत्पादक कहा ज्यों भूपको व्यवहारसे ।
त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्ता, जीव कहा व्यवहारसे ॥१०८॥

व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ।

(वसंततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥ ६३ ॥

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥

भाव होनेसे स्व-भावसे ही (पुद्गलद्रव्यके अपने भावसे ही) उन गुणदोषोंकी उत्पत्ति होने पर भी—यद्यपि गुणदोषोंमें और जीवमें व्याप्यव्यापकभावका अभाव है तथापि—'उनका उत्पादक जीव है' ऐसा उपचार किया जाता है ।

भावार्थः—जगत्में कहा जाता है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' । इस कहावतसे प्रजाके गुणदोषोंका उत्पन्न करनेवाला राजा कहा जाता है । इसीप्रकार पुद्गलद्रव्यके गुणदोषोंको उत्पन्न करनेवाला जीव कहा जाता है । परमार्थदृष्टिसे देखा जाये तो यह यथार्थ नहीं, किन्तु उपचार है ।

अब आगेकी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—'यदि पुद्गलकर्मको जीव नहीं करता तो फिर उसे कौन करता है ?' ऐसी आशंका करके, अब तीव्र वेगवाले मोहका (कर्तृत्वकर्मत्वके अज्ञानका) नाश करनेके लिये, यह कहते हैं कि—'पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है'; इसलिये (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषों !) इसे सुनो । ६३ ।

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे ।
—मिथ्यात्व अरु अविरमण, योगकषाय ये ही जानने ॥१०९॥
फिर उनहिका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकारका ।
—मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका ॥११०॥

एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिः यावत् सयोगिनश्चरमान्तः ॥ ११० ॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥ ११२ ॥

अब यह कहते हैं कि पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है:—

गाथा १०९-११२

अन्वयार्थः—[चत्वारः] चार [सामान्यप्रत्ययाः] सामान्य [1]प्रत्यय [खलु] निश्चयसे [बंधकर्तारः] बन्धके कर्ता [भण्यंते] कहे जाते है, वे—[मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण [च] तथा [कषाययोगौ] कषाय और योग [बोद्धव्याः] जानना। [पुनः अपि च] और फिर [तेषां] उनका, [अयं] यह [त्रयोदशविकल्पः] तेरह प्रकारका [भेदः तु] भेद [भणितः] कहा गया है जो कि—[मिथ्यादृष्ट्यादिः] मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर [सयोगिनः चरमांतः यावत्] सयोगकेवली (गुणस्थान) पर्यंत है।

१ प्रत्यय=कर्मबन्धके कारण अर्थात् आस्रव।

पुद्गलकरमके उदयसे, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है ॥१११॥
परमार्थसे 'गुण' नामके, प्रत्यय करें इन कर्म को।
तिससे अकर्ता जीव है, गुणथान करते कर्मको ॥ ११२ ॥

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः; ते एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादि-सयोगकेवल्यंतास्त्रयोदश कर्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव, किं जीवस्यात्रापतितम्? अथायं तर्कः—पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति। स किलाविवेकः, यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि, कथं

[एते] यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) [खलु] जो कि निश्चयसे [अचेतनाः] अचेतन हैं [यस्मात्] क्योंकि [पुद्गलकर्मोदयसंभवाः] पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं [ते] वे [यदि] यदि [कर्म] कर्म [कुर्वंति] करते हैं तो भले करें; [तेषां] उनका (कर्मोंका) [वेदकः अपि] भोक्ता भी [आत्मा न] आत्मा नहीं है। [यस्मात्] क्योंकि [एते] यह [गुणसंज्ञिताः तु] 'गुण' नामक [प्रत्ययाः] प्रत्यय [कर्म] कर्म [कुर्वंति] करते हैं [तस्मात्] इसलिये [जीवः] जीव तो [अकर्ता] कर्मोंका अकर्ता है [च] और [गुणाः] 'गुण' ही [कर्माणि] कर्मोंको [कुर्वंति] करते हैं।

टीका:—वास्तवमें पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है; उसके विशेष-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्धके सामान्य हेतु होनेसे चार कर्ता हैं; उन्हींके भेद करने पर मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह कर्ता हैं। अब, जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन हैं ऐसे यह तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्यव्यापकभावसे यदि कुछ भी पुद्गल-कर्मका करें तो भले करें; इसमें जीवका क्या आया? (कुछ भी नहीं।)

यहाँ यह तर्क है कि "पुद्गलमय मिथ्यात्वादिको भोगता हुआ, जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है।" (इसका समाधान यह है कि:—) यह तर्क वास्तवमें अविवेक है, क्योंकि भाव्यभावकभावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गलद्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नहीं है, तब फिर पुद्गलकर्मका कर्ता कैसे हो सकता है? इसलिये यह सिद्ध हुआ कि—जो पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययोंके भेदरूप तेरह विशेषप्रत्यय हैं जो कि 'गुण' शब्दसे (गुणस्थान नामसे) कहे जाते हैं वही मात्र कर्मोंको करते हैं, इसलिये जीव पुद्गलकर्मोंका अकर्ता है, किन्तु 'गुण' ही उनके कर्ता हैं; और वे 'गुण' तो पुद्गलद्रव्य ही हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मका, पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है।

पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम ? अथैतदायातम् यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वंति कर्माणि, ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारः। ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ।

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वम्—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्म णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥११३॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाऽजीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥११४॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥११५॥

भावार्थः—शास्त्रोंमें प्रत्ययोंको बंधका कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी विशेष प्रत्यय ही हैं इसलिये ये गुणस्थान बन्धके कर्ता हैं अर्थात् पुद्गलकर्मके कर्ता हैं। और मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय या गुणस्थानरूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मका कर्ता है; जीव नहीं। जीवको पुद्गलकर्मका कर्ता मानना अज्ञान है।

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीवका, क्रोध त्योंही जीवका।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीवके एकत्वका ॥११३॥
यों जगतमें जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुवे।
नोकर्म, प्रत्यय, कर्मके एकत्वमें भी दोष ये ॥११४॥
जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोगआत्मक अन्य है।
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं ॥११५॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि

अब यह कहते हैं कि—जीव और उन प्रत्ययोंमें एकत्व नहीं है:—

गाथा ११३-११५

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**जीवस्य**] जीवके [**उपयोगः**] उपयोग [**अनन्यः**] अनन्य अर्थात् एकरूप है [**तथा**] उसीप्रकार [**यदि**] यदि [**क्रोधः अपि**] क्रोध भी [**अनन्यः**] अनन्य हो तो [**एवम्**] इसप्रकार [**जीवस्य**] जीवके [**च**] और [**अजीवस्य**] अजीवके [**अनन्यत्वम्**] अनन्यत्व [**आपन्नम्**] आ गया। [**एवम् च**] और ऐसा होनेसे, [**इह**] इस जगत्में [**यः तु**] जो [**जीवः**] जीव है [**सः एव**] वही [**नियमतः**] नियमसे [**तथा**] उसीप्रकार [**अजीवः**] अजीव सिद्ध हुआ; (दोनोंके अनन्यत्व होनेमें यह दोष आया;) [**प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्**] प्रत्यय, नोकर्म और कर्मके [**एकत्वे**] एकत्वमें भी [**अयम् दोषः**] यही दोष आता है। [**अथ**] अब यदि (इस दोषके भयसे) [**ते**] तेरे मतमें [**क्रोधः**] क्रोध [**अन्यः**] अन्य है और [**उपयोगात्मकः**] उपयोग स्वरूप [**चेतयिता**] आत्मा [**अन्यः**] अन्य [**भवति**] है, तो [**यथा क्रोधः**] जैसे क्रोध है [**तथा**] वैसे ही [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय, [**कर्म**] कर्म [**नोकर्म अपि**] और नोकर्म भी [**अन्यत्**] आत्मासे अन्य ही हैं।

टीका:—जैसे जीवके उपयोगमयत्वके कारण जीवसे उपयोग अनन्य (अभिन्न) है उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है यदि ऐसी [1]प्रतिपत्ति की जाये, तो चिद्रूप (जीव) और जड़के अनन्यत्वके कारण जीवके उपयोगमयताकी भाँति जड़ क्रोधमयता भी आ जायेगी। और ऐसा होने पर जो जीव है वही अजीव सिद्ध होगा,—इसप्रकार अन्य द्रव्यका लोप हो जायेगा। इसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जीवसे अनन्य हैं ऐसी प्रतिपत्तिमें भी

---

१ प्रतिपत्ति=प्रतीति, प्रतिपादन।

यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषात् । नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वम् ।

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥

यही दोष आता है । इसलिये यदि इस दोषके भयसे यह स्वीकार किया जाये कि उपयोगात्मक जीव अन्य ही है और जड़स्वभाव क्रोध अन्य ही है, तो जैसे उपयोगात्मक जीवसे जड़स्वभाव क्रोध अन्य है उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं क्योंकि उनके जड़स्वभावत्वमें अन्तर नहीं है (अर्थात् जैसे क्रोध जड़ है उसीप्रकार प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी जड़ हैं)। इसप्रकार जीव और प्रत्ययमें एकत्व नहीं है ।

भावार्थः—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़स्वभाव हैं और जीव चैतन्यस्वभाव है । यदि जड़ और चेतन एक हो जायें तो भिन्न द्रव्योंके लोप होनेका महा दोष आता है । इसलिये निश्चयनयका यह सिद्धान्त है कि आस्रव और आत्मामें एकत्व नहीं है ।

---

१ णाणी इत्यपि पाठः ।

जीवमें स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे ।
तो वो हि पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ! ॥११६॥
जो वर्गणा कार्माणकी, नहिं कर्मभावों परिणमे ।
संसार का हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ! ॥११७॥
जो कर्मभावों परिणमावे जीव पुद्गलद्रव्यको ।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ? ॥११८॥
स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे ।
जीव परिणमावे कर्मको, कर्मत्वमें—मिथ्या बने ॥११९॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥११८॥
अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यम् ।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यम् ।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

अब सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध करते हैं (अर्थात् सांख्यमतवाले प्रकृति और पुरुषको अपरिणामी मानते हैं उन्हें समझाते हैं):—

गाथा ११६–१२०

अन्वयार्थः—[**इदम् पुद्गलद्रव्यम्**] यह पुद्गलद्रव्य [**जीवे**] जीवमें [**स्वयं**] स्वयं [**बद्धं न**] नहीं बँधा [**कर्मभावेन**] और कर्मभावसे [**स्वयं**] स्वयं [**न परिणमते**] नहीं परिणमता [**यदि**] यदि ऐसा माना जाये [**तदा**] तो वह [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] सिद्ध होता है; [**च**] और [**कार्मणवर्गणासु**] कार्मणवर्गणाएँ [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**अपरिणममानासु**] नहीं परिणमती होनेसे, [**संसारस्य**] संसारका [**अभावः**] अभाव [**प्रसजति**] सिद्ध होता है [**वा**] अथवा [**सांख्यसमयः**] सांख्य मतका प्रसंग आता है ।

और [**जीवः**] जीव [**पुद्गलद्रव्याणि**] पुद्गलद्रव्योंको [**कर्मभावेन**] कर्मभावसे [**परिणामयति**] परिणमाता है ऐसा माना जाये तो यह प्रश्न होता है

पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियमसे कर्म हि बने ।
ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका

कि [स्वयम् अपरिणममानानि] स्वयं नहीं परिणमती हुई [तानि] उन वर्गणाओंको [चेतयिता] चेतन आत्मा [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकता ? [अथ] अथवा यदि [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयमेव हि] अपने आप ही [कर्मभावेन] कर्मभावसे [परिणमते] परिणमन करता है ऐसा माना जाये, तो [जीवः] जीव [कर्म] कर्मको अर्थात् पुद्गलद्रव्यको [कर्मत्वम्] कर्मरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है ।

[नियमात्] इसलिये जैसे नियमसे [कर्मपरिणतं] कर्मरूप (कर्ताके कार्यरूपसे) परिणमित [पुद्गलम् द्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [कर्म चैव] कर्म ही [भवति] है [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानावरणादिपरिणतं] ज्ञानावरणादिरूप परिणमित [तत्] पुद्गलद्रव्य [तत् चैव] ज्ञानावरणादि ही है [जानीत] ऐसा जानो ।

टीका:—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें स्वयं न बँधकर कर्मभावसे स्वयमेव परिणमता न हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा । और ऐसा होनेसे, संसारका अभाव होगा । (क्योंकि यदि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप नहीं परिणमे तो जीव कर्मरहित सिद्ध होवे; तब फिर संसार किसका ?) यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणमाता है इसलिये संसारका अभाव नहीं होगा," तो उसका निराकरण दो पक्षोंको लेकर इस प्रकार किया जाता है कि—क्या जीव स्वयं अपरिणमते हुए पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुएको ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुएको दूसरेके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । (इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है ।) और स्वयं परिणमते हुएको अन्य परिणमाने

स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

वालेकी अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखतीं । (इसलिये दूसरा पक्ष भी असत्य है ।) अतः पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो । ऐसा होनेसे, जैसे घटरूप परिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है उसी प्रकार, जड़ स्वभाववाले ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है । इसप्रकार पुद्गलद्रव्यका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार पुद्गलद्रव्यकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई । और उसके सिद्ध होने पर, पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है ।

भावार्थः—सर्व द्रव्य परिणमनस्वभाववाले हैं इसलिये वे अपने अपने भावके स्वयं ही कर्ता हैं । पुद्गलद्रव्य भी अपने जिस भावको करता है उसका वह स्वयं ही कर्ता है । ६४ ।

अब जीवका परिणामित्व सिद्ध करते हैं:—

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे ।
तो जीव यह तुझ मतविषैं परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥
क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे ।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२२॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वम् ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥
अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

गाथा १२१-१२५

अन्वयार्थः—सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! [एषः] यह [जीवः] जीव [कर्मणि] कर्ममें [स्वयं] स्वयं [बद्धः न] नहीं बँधा है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादिभावसे [स्वयं] स्वयं [न परिण-

---

जो क्रोध-पुद्गलकर्म-जीवको, परिणमावे क्रोधमें ।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥
अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे-तुझ बुद्धिसे ।
तो क्रोध जीवको परिणमावे क्रोधमें-मिथ्या बने ॥१२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है ।
मायोपयुत माया अरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणमयितुं पार्येत; न हि स्वतोऽसती शक्तिः

मते] नहीं परिणमता [यदि तव] यदि तेरा यह मत है [तदा] तो वह (जीव) [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] सिद्ध होता है; [जीवे] और जीव [स्वयं] स्वयं [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादिभावरूप [अपरिणममाने] नहीं परिणमता होनेसे, [संसारस्य] संसारका [अभावः] अभाव [प्रसजति] सिद्ध होता है [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्य मतका प्रसंग आता है ।

[पुद्गलकर्म क्रोधः] और पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह [जीवं] जीवको [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है ऐसा तू माने तो यह प्रश्न होता है कि [स्वयम् अपरिणममानं] स्वयं नहीं परिणमते हुए [तं] उस जीवको [क्रोधः] क्रोध [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमन करा सकता है ? [अथ] अथवा यदि [आत्मा] आत्मा [स्वयम्] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभावसे [परिणमते] परिणमता है [एषा ते बुद्धिः] ऐसी तेरी बुद्धि हो, तो [क्रोधः] क्रोध [जीवं] जीवको [क्रोधत्वम्] क्रोधरूप [परिणामयति] परिणमन कराता है [इति] यह कथन [मिथ्या] मिथ्या सिद्ध होता है ।

इसलिये यह सिद्धान्त है कि [क्रोधोपयुक्तः] क्रोधमें उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकार परिणमित हुआ है ऐसा) [आत्मा] आत्मा [क्रोधः] क्रोध ही है, [मानोपयुक्तः] मानमें उपयुक्त आत्मा [मानः एव] मान ही है, [मायोपयुक्तः] मायामें उपयुक्त आत्मा [माया] माया है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभमें उपयुक्त आत्मा [लोभः] लोभ [भवति] है ।

टीकाः—यदि जीव कर्ममें स्वयं न बँधता हुआ क्रोधादिभावमें स्वयमेव नहीं परिणमता हो तो वह वास्तवमें अपरिणामी ही सिद्ध होगा । और ऐसा होनेसे संसारका अभाव होगा । यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "पुद्गलकर्म जो क्रोधादिक हैं वे

कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत; न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु । तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यात् । इति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

तथा हि—

जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाते हैं इसलिये संसारका अभाव नहीं होता," तो उसका निराकरण दो पक्ष लेकर इसप्रकार किया जाता है कि:—पुद्गलकर्म क्रोधादिक है वह स्वयं अपरिणमते हुए जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुएको ? प्रथम, स्वयं अपरिणमते हुएको परके द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता । और स्वयं परिणमते हुएको तो अन्य परिणमानेवालेकी अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती । (इसप्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं ।) इसलिये जीव परिणमनस्वभाववाला स्वयमेव हो । ऐसा होनेसे, जैसे गरुड़के ध्यानरूप परिणमित मंत्रसाधक स्वयं गरुड़ है उसीप्रकार, अज्ञानस्वभावयुक्त क्रोधादिरूप जिसका उपयोग परिणमित हुआ है ऐसा जीव ही स्वयं क्रोधादि है । इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावत्व सिद्ध हुआ ।

भावार्थः—जीव परिणामस्वभाव है । जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है तब स्वयं क्रोधादिरूप ही होता है ऐसा जानना ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार जीवकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई । यह सिद्ध होने पर, जीव अपने जिस भावको करता है उसका वह कर्ता होता है ।

भावार्थ.—जीव भी परिणामी है; इसलिये स्वयं जिस भावरूप परिणमता है उसका कर्ता होता है । ६५ ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञानमय भावका और अज्ञानी अज्ञानमय भावका कर्ता है:—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनः तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ।

गाथा १२६

अन्वयार्थः—[**आत्मा**] आत्मा [**यं भावम्**] जिस भावको [**करोति**] करता है [**तस्य कर्मणः**] उस भावरूप कर्मका [**सः**] वह [**कर्ता**] कर्ता [**भवति**] होता है; [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीको तो [**सः**] वह भाव [**ज्ञानमयः**] ज्ञानमय है और [**अज्ञानिनः**] अज्ञानीको [**अज्ञानमयः**] अज्ञानमय है ।

टीकाः—इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है तथापि अपने जिस भावको करता है उस भावका ही—कर्मत्वको प्राप्त हुएका ही—कर्ता वह होता है (अर्थात् वह भाव आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है) । वह भाव ज्ञानीको ज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्वपरके विवेकसे (सर्व परद्रव्यभावोंसे भिन्न) आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है । और वह भाव अज्ञानीको तो अज्ञानमय ही है क्योंकि उसे सम्यक् प्रकारसे स्वपरका विवेक न होनेसे भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त होगई है ।

भावार्थ—ज्ञानीको तो स्वपरका भेदज्ञान हुवा है इसलिये उसके अपने ज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है; और अज्ञानीको स्वपरका भेदज्ञान नहीं है इसलिये उसके अज्ञानमय भावका ही कर्तृत्व है ।

जिस भावको आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्मका ।
वो ज्ञानमय है ज्ञानिका, अज्ञानमय अज्ञानिका ॥१२६॥

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥१२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च, तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञा-

---

अब यह कहते हैं कि ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है:—

गाथा १२७

अन्वयार्थः—[अज्ञानिनः] अज्ञानीके [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है [तेन] इसलिये वह [कर्माणि] कर्मोंको [करोति] करता है, [ज्ञानिनः तु] और ज्ञानीके तो [ज्ञानमयः] ज्ञानमय (भाव) है [तस्मात् तु] इसलिये ज्ञानी [कर्माणि] कर्मोंको [न करोति] नहीं करता।

टीका:—अज्ञानीके, सम्यक् प्रकारसे स्वपरका विवेक न होनेके कारण भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई होनेसे, अज्ञानमय भाव ही होता है, और उसके होनेसे, स्वपरके एकत्वके अध्यासके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमेंसे (आत्मस्वरूपमेंसे) भ्रष्ट हुआ, पर ऐसे रागद्वेषके साथ एक होकर जिसके अहंकार प्रवर्त्त रहा है ऐसा स्वयं 'यह मैं वास्तवमें रागी हूँ, द्वेषी हूँ (अर्थात् यह मैं राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ)' इसप्रकार (मानता हुआ) रागी और द्वेषी होता है, इसलिये अज्ञानमय भावके कारण अज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप करता हुआ कर्मोंको करता है।

अज्ञानमय अज्ञानिका, जिससे करे वो कर्म को ।
पर ज्ञानमय है ज्ञानिका, जिससे करे नहिं कर्म वो ॥१२७॥

नेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति, तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि ।

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥

ज्ञानीके तो, सम्यक् प्रकारसे स्वपरविवेकके द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई होनेसे ज्ञानमय भाव ही होता है; और ऐसा होने पर, स्वपरके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र ऐसे निजमें सुनिविष्ट (सम्यक् प्रकारसे स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेषसे भिन्नत्वके कारण निजरससे ही जिसका अहंकार निवृत्त हुआ है ऐसा स्वयं वास्तवमें मात्र जानता ही है, रागी और द्वेषी नहीं होता (अर्थात् रागद्वेष करता नहीं) इसलिये ज्ञानमय भावके कारण ज्ञानी अपनेको पर ऐसे रागद्वेषरूप न करता हुआ कर्मोंको नहीं करता ।

भावार्थ:—इस आत्माके क्रोधादिक मोहनीय कर्मकी प्रकृतिका (अर्थात् रागद्वेषका) उदय आने पर, अपने उपयोगमें उसका रागद्वेषरूप मलिन स्वाद आता है । अज्ञानीके स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे वह यह मानता है कि "यह रागद्वेषरूप मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है—वही मैं हूँ ।" इसप्रकार रागद्वेष में अहंबुद्धि करता अज्ञानी अपनेको रागीद्वेषी करता है; इसलिये वह कर्मोंको करता है । इसप्रकार अज्ञानमय भावसे कर्मबन्ध होता है ।

ज्ञानीके भेदज्ञान होनेसे वह ऐसा जानता है कि "ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग है वही मेरा स्वरूप है—वही मैं हूँ; रागद्वेष कर्मोंका रस है, वह मेरा स्वरूप नहीं है ।" इसप्रकार रागद्वेषमें अहंबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपनेको रागीद्वेषी नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है; इसलिये वह कर्मोंको नहीं करता । इसप्रकार ज्ञानमय भावसे कर्मबन्ध नहीं होता ।

अब आगेकी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं ।

अर्थ:—यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानीको ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है और अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता ? तथा अज्ञानीके सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं तथा अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ? । ६६ ।

ज्यों ज्ञानमय को भावमेंसे ज्ञानभाव हि उपजते ।
यों नियत ज्ञानीजीवके सब भाव ज्ञानमयी बनें ॥१२८॥

अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माद्भावा अज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः । यतश्च

इसी प्रश्नके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १२८–१२९

अन्वयार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमय भावमेंसे [ज्ञानमयः एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके [सर्वे भावाः] समस्त भाव [खलु] वास्तवमें [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय ही होते हैं । [च] और, [यस्मात्] क्योंकि [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भावमेंसे [अज्ञानः एव] अज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है [तस्मात्] इसलिये [अज्ञानिनः] अज्ञानियोंके [भावाः] भाव [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही होते हैं ।

टीका:—वास्तवमें अज्ञानमय भावमेंसे जो कोई भी भाव होता है वह सब ही अज्ञानमयताका उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय ही होता है, इसलिये अज्ञानियोंके सभी भाव अज्ञानमय होते हैं । और ज्ञानमय भावमेंसे जो कोई भी भाव होता है वह सब ही ज्ञानमयताका उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है, इसलिये ज्ञानियोंके सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं:—

भावार्थ:—ज्ञानीका परिणमन अज्ञानीके परिणमनसे भिन्न ही प्रकारका है । अज्ञानीका परिणमन अज्ञानमय और ज्ञानीका ज्ञानमय है, इसलिये अज्ञानीके क्रोध, मान, व्रत, तप

अज्ञानमय को भावसे, अज्ञानभाव हि ऊपजे ।
इस हेतुसे अज्ञानिके, अज्ञानमय भाव हि बने ॥१२९॥

ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात्, ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः ।

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अथैतदेव दृष्टांतेन समर्थयते—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ॥१३०॥
अज्ञानमया भावा अज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमयाः सर्वे भावास्तथा भवंति ॥१३१॥

इत्यादि समस्त भाव अज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय ही हैं और ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेसे ज्ञानमय ही हैं ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते हैं ।६७।

अब इसी अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

गाथा १३०–१३१

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**कनकमयात् भावात्**] स्वर्णमय भावमेंसे [**कुण्डलादयः भावाः**] स्वर्णमय कुण्डल इत्यादि भाव [**जायन्ते**] होते हैं [**तु**] और [**अयोमयकात् भावात्**] लोहमय भावमेंसे [**कटकादयः**] लोहमय

ज्यों कनकमय को भावमेंसे, कुण्डलादिक ऊपजे ।
पर लोहमय को भावसे, कटकादि भावो नीपजे ॥१३०॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके ।
पर ज्ञानिके तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने ॥१३१॥

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमाना जांबूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयः, कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुर्न पुनर्जांबूनदकुण्डलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा

कड़ा इत्यादि भाव [जायन्ते] होते हैं, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानियोंके (अज्ञानमय भावमेंसे) [बहुविधाः अपि] अनेक प्रकारके [अज्ञानमयाः भावाः] अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके (ज्ञानमय भावमेंसे) [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव [भवंति] होते हैं।

टीकाः—जैसे पुद्गल स्वयं परिणामस्वभावी है तथापि, कारण जैसे कार्य होते हैं इसलिये, सुवर्णमय भावमेंसे सुवर्णजातिका उल्लंघन न करते हुए सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव ही होते हैं किन्तु लौहमय कड़ा इत्यादि भाव नहीं होते, और लौहमय भावमेंसे, लौहजातिको उल्लंघन न करते हुये लौहमय कड़ा इत्यादि भाव ही होते हैं किन्तु सुवर्णमय कुण्डल आदि भाव नहीं होते; इसीप्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी, कारण जैसे ही कार्य होनेसे, अज्ञानीके—जो कि स्वयं अज्ञानमय भाव हैं उसके—अज्ञानमय भावोंमेंसे, अज्ञानजातिका उल्लंघन न करते हुए अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु ज्ञानमय भाव नहीं होते, तथा ज्ञानीके—जो कि स्वयं ज्ञानमय भाव हैं उसके—ज्ञानमय भावोंमेंसे, ज्ञानकी जातिका उल्लंघन न करते हुए समस्त ज्ञानमय भाव ही होते हैं किन्तु अज्ञानमय भाव नहीं होते।

भावार्थः—'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्यायसे जैसे लोहेमेंसे लौहमय कड़ा इत्यादि वस्तुएं होती हैं और सुवर्णमेंसे सुवर्णमय आभूषण होते हैं, इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं अज्ञानमय भाव होनेसे उसके (अज्ञानमय भावमेंसे) अज्ञानमय भाव ही होते हैं और ज्ञानी स्वयं ज्ञानमय भाव होनेसे उसके (ज्ञानमय भावमेंसे) ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

अज्ञानीके शुभाशुभ भावोंमें आत्मबुद्धि होनेसे उसके समस्त भाव अज्ञानमय ही हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि (-ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोहके उदय होने पर क्रोधादिक भाव प्रवर्तते हैं तथापि उसके उन भावोंमें आत्मबुद्धि नहीं है, वह उन्हें परके निमित्तसे उत्पन्न उपाधि मानता है। उसके क्रोधादिक कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं—वह भविष्यका ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार परिभ्रमण बढ़े; क्योंकि (ज्ञानी) स्वयं उद्यमी होकर

भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ।

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥

क्रोधादिभावरूप परिणमता नहीं है यद्यपि *उदयकी बलवत्तासे परिणमता है तथापि ज्ञातृत्वका उल्लंघन करके परिणमता नहीं है; ज्ञानीका स्वामित्व निरन्तर ज्ञानमें ही वर्तता है इसलिये वह क्रोधादिभावोंका अन्य ज्ञेयोंकी भाँति ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं। इसप्रकार ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं।

अब आगेकी गाथाका सूचक अर्थरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानी (अपने) अज्ञानमय भावोंकी भूमिकामें व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्मके निमित्त (अज्ञानादि) भावोंके हेतुत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्मके निमित्त-रूप भावोंका हेतु बनता है) ।६८।

---

*सम्यग्दृष्टिकी रुचि सर्वदा शुद्धात्मद्रव्यके प्रति ही होती है; उनको कभी रागद्वेषादि भावोंकी रुचि नहीं होती, उसको जो रागद्वेषादि भाव होते हैं वे भाव, यद्यपि उसकी स्वयंकी निर्बलतासे ही एवं उसके स्वयंके अपराधसे ही होते हैं, फिर भी वे रुचिपूर्वक नहीं होते इस कारण उन भावोंको 'कर्मकी बलवत्तासे होनेवाले भाव' कहनेमें आता है, इससे ऐसा नहीं समझना कि 'जड़ द्रव्यकर्म आत्माके ऊपर लेशमात्र-भी जोर कर सकते हैं,' परन्तु ऐसा समझना कि 'विकारी भावोंके होने पर भी सम्यग्दृष्टि महात्माकी शुद्धात्मद्रव्यरुचिमें किंचित् भी कमी नहीं है, मात्र चारित्रादि सम्बन्धी निर्बलता है—ऐसा आशय बतलानेके लिये ऐसा कहा है।' जहाँ जहाँ 'कर्मकी बलवत्ता,' 'कर्मकी जबरदस्ती,' 'कर्मका जोर' इत्यादि कथन होवे वहाँ वहाँ ऐसा आशय समझना।

जो तत्त्वका अज्ञान जीवके, उदय वो अज्ञानका ।
अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥१३२॥
जीवका जु अविरतभाव है, वो उदय अनसंयम हि का ।
जीवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषायका ॥१३३॥

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम् ॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥१३६॥

इसी अर्थको पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा १३२–१३६

अन्वयार्थः—[जीवानाम्] जीवोंके [या] जो [अतत्त्वोपलब्धिः] तत्त्वका अज्ञान है (-वस्तुस्वरूपसे अयथार्थ-विपरीतज्ञान) [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञानका [उदयः] उदय है [तु] और [जीवस्य] जीवके [अश्रद्दधानत्वम्] जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है वह

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का ।
उत्साह करते जीवके वो उदय जानो योगका ॥१३४॥
जब होय हेतूभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके ।
वे अष्टविध ज्ञानावरणइत्यादिभावों परिणमे ॥१३५॥
कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें ।
आत्मा हि जीव परिणाम भावोंका तभी हेतू बने ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं

[मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्वका [उदयः] उदय है; [तु] और [जीवानां] जीवोंके [यद्] जो [अविरमणम्] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह [असंयमस्य] असंयमका [उदयः] उदय [भवेत्] है [तु] और [जीवानां] जीवोंके [यः] जो [कलुषोपयोगः] मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है [सः] वह [कषायोदयः] कषायका उदय है; [तु] तथा [जीवानां] जीवोंके [यः] जो [शोभनः अशोभनः वा] शुभ या अशुभ [कर्तव्यः विरतिभावः वा] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [चेष्टोत्साहः] (मनवचनकाया-आश्रित) चेष्टाका उत्साह है [तं] उसे [योगोदयं] योगका उदय [जानीहि] जानो।

[एतेषु] इनको (उदयोंको) [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होनेपर [यद् तु] जो [कार्मणवर्गणागतं] कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं] ज्ञानावरणादिभावरूपसे आठ प्रकार [परिणमते] परिणमता है, [तद् कार्मणवर्गणागतं] वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [यदा] जब [खलु] वास्तवमें [जीवनिबद्धं] जीवमें बँधता है [तदा तु] तब [जीवः] जीव [परिणामभावानाम्] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका [हेतुः] हेतु [भवति] होता है।

टीकाः—तत्त्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय—जो कि (नवीन) कर्मोंके हेतु हैं वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुवा मिथ्यात्वका उदय है; अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुवा असंयमका उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ कषायका उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप

तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्धानत्वम् ॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥१३६॥

इसी अर्थको पाँच गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा १३२–१३६

अन्वयार्थः—[जीवानाम्] जीवोंके [या] जो [अतत्त्वोपलब्धिः] तत्त्वका अज्ञान है (-वस्तुस्वरूपसे अयथार्थ-विपरीतज्ञान) [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञानका [उदयः] उदय है [तु] और [जीवस्य] जीवके [अश्रद्धानत्वम्] जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है वह

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तन रूप जो चेष्टा हि का ।
उत्साह करते जीवके वो उदय जानो योगका ॥१३४॥
जब होय हेतुभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके ।
वे अष्टविध ज्ञानावरणइत्यादिभावों परिणमे ॥१३५॥
कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें ।
आत्मा हि जीव परिणाम भावोंका तभी हेतू बने ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः। मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः, अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं

[मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्वका [उदयः] उदय है; [तु] और [जीवानां] जीवोंके [यद्] जो [अविरमणम्] अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह [असंयमस्य] असंयमका [उदयः] उदय [भवेत्] है [तु] और [जीवानां] जीवोंके [यः] जो [कलुषोपयोगः] मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है [सः] वह [कषायोदयः] कषायका उदय है; [तु] तथा [जीवानां] जीवोंके [यः] जो [शोभनः अशोभनः वा] शुभ या अशुभ [कर्तव्यः विरतिभावः वा] प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप [चेष्टोत्साहः] (मनवचनकाया–आश्रित) चेष्टाका उत्साह है [तं] उसे [योगोदयं] योगका उदय [जानीहि] जानो।

[एतेषु] इनको (उदयोंको) [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होनेपर [यद् तु] जो [कार्मणवर्गणागतं] कार्मणवर्गणागत (कार्मणवर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य [ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं] ज्ञानावरणादिभावरूपसे आठ प्रकार [परिणमते] परिणमता है, [तद् कार्मणवर्गणागतं] वह कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य [यदा] जब [खलु] वास्तवमें [जीवनिबद्धं] जीवमें बँधता है [तदा तु] तब [जीवः] जीव [परिणामभावानाम्] (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका [हेतुः] हेतु [भवति] होता है।

टीका:—तत्त्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय—जो कि (नवीन) कर्मोंके हेतु हैं वे अज्ञानमय चार भाव हैं। तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुवा मिथ्यात्वका उदय है; अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमें स्वादरूप होता हुवा असंयमका उदय है; कलुष (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमें स्वादरूप होता हुआ कषायका उदय है; शुभाशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमें स्वादरूप

जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ।

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः—

जइ जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३७॥

होता हुवा योगका उदय है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदय हेतुभूत होनेपर जो कार्मण-वर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादिभावसे आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मण-वर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब जीवमें निबद्ध होवे तब स्वयमेव अज्ञानसे स्वपरके एकत्वके अध्यासके कारण तत्त्व-अश्रद्धान आदि अपने अज्ञानमय परिणामभावोंका हेतु होता है।

भावार्थः—अज्ञानभावके भेदरूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगके उदय पुद्गलके परिणाम हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धानादिरूपसे ज्ञानमें आता है। वे उदय निमित्त-भूत होनेपर, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमते हैं और जीवके साथ बँधते हैं; और उस समय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञानभावसे अतत्त्व-श्रद्धानादि भावरूप परिणमता है और इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावोंका कारण स्वयं ही होता है।

मिथ्यात्वादिका उदय होना, नवीन पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमना तथा बँधना, और जीवका अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावरूप परिणमना—यह तीनों ही एक समयमें ही होते हैं; सब स्वतंत्रतया अपने आप ही परिणमते हैं, कोई किसीका परिणमन नहीं कराता।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि पुद्गलद्रव्यका परिणाम जीवसे भिन्न ही है:—

जो कर्मरूप परिणाम, जीवके साथ पुद्गलका बने ।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ! ॥१३७॥
पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्यके ।
जीवभावहेतूसे अलग, तब, कर्मके परिणाम हैं ॥१३८॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१३८॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः, ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

गाथा १३७-१३८

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका [जीवेन सह चैव] जीवके साथ ही [कर्मपरिणामः] कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा माना जाये तो [एवं] इसप्रकार [पुद्गलजीवौ द्वौ अपि] पुद्गल और जीव दोनों [खलु] वास्तवमें [कर्मत्वम् आपन्नौ] कर्मत्वको प्राप्त हो जायें। [तु] परन्तु [कर्मभावेन] कर्मभावसे [परिणामः] परिणाम तो [पुद्गलद्रव्यस्य एकस्य] पुद्गलद्रव्यके एकके ही होता है [तत्] इसलिये [जीवभावहेतुभिः विना] जीवभावरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [कर्मणः] कर्मका [परिणामः] परिणाम है ।

टीका:—यदि पुद्गलद्रव्यके, कर्मपरिणामके निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञानपरिणामसे परिणत जीवके साथ ही (अर्थात् दोनों मिलकर ही), कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा तर्क उपस्थित किया जावे तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोंका लाल रंगरूप परिणाम होता है उसीप्रकार, पुद्गल और जीवद्रव्य-दोनोंके कर्मरूप परिणामकी आपत्ति आजावे। परन्तु एक पुद्गलद्रव्यके ही कर्मत्वरूप परिणाम तो होता है; इसलिये जीवका रागादिअज्ञानपरिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे भिन्न ही पुद्गलकर्मका परिणाम है ।

भावार्थ:—यदि यह माना जाये कि पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य दोनों मिलकर कर्मरूप परिणमते हैं तो दोनोंके कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो । परन्तु जीव तो कभी भी जड़ कर्मरूप नहीं परिणम सकता; इसलिये जीवका अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मका निमित्त है उससे अलग ही पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम है ।

अब यह प्रतिपादन करते हैं कि जीवका परिणाम पुद्गल द्रव्यसे भिन्न ही है:—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥१४०॥

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः, तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्य-

गाथा १३९–१४०

अन्वयार्थः—[जीवस्य तु] यदि जीवके [कर्मणा च सह] कर्मके साथ ही [रागादयः परिणामाः] रागादि परिणाम [खलु भवंति] होते हैं (अर्थात् दोनों मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं) ऐसा माना जाये [एवं] तो इसप्रकार [जीवः कर्म च] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों [रागादित्वम् आपन्ने] रागादिभावको प्राप्त हो जायें [तु] परन्तु [रागादिभिः परिणामः] रागादिभावसे परिणाम तो [जीवस्य एकस्य] जीवके एकके ही [जायते] होता है [तत्] इसलिये [कर्मोदयहेतुभिः विना] कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही [जीवस्य] जीवका [परिणामः] परिणाम है।

टीकाः—यदि जीवके, रागादि–अज्ञानपरिणामके निमित्तभूत उदयागत पुद्गलकर्मके साथ ही (दोनों एकत्रित होकर ही), रागादि-अज्ञानपरिणाम होता है—ऐसा तर्क उपस्थित किया जाये तो, जैसे मिली हुई फिटकरी और हल्दीका—दोनोंका लाल रंगरूप परिणाम

जीवके करमके साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे। ॥१३९॥
पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एकके।
इससे हि कर्मोदयनिमित्तसे, अलग जीव परिणाम है ॥१४०॥

ज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः, ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ।

किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम् ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४१॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदतिव्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं

होता है उसीप्रकार, जीव और पुद्गलकर्म दोनोंके रागादि-अज्ञानपरिणामकी आपत्ति आ जावे, परन्तु एक जीवके ही रागादि-अज्ञानपरिणाम तो होता है; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि-अज्ञानपरिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

भावार्थः—यदि यह माना जाये कि जीव और पुद्गलकर्म मिलकर रागादिरूप परिणमते हैं तो दोनोंके रागादिरूप परिणाम सिद्ध हों । किन्तु पुद्गलकर्म तो रागादिरूप (जीव-रागादिरूप) कभी नहीं परिणम सकता; इसलिये पुद्गलकर्मका उदय जो कि रागादिपरिणामका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है ।

अब यहाँ नयविभागसे यह कहते हैं कि 'आत्मामें कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट है'—

गाथा १४१

अन्वयार्थः—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धं] (उसके प्रदेशोंके साथ) बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टं] स्पर्शित है [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितम्] व्यवहारनयका कथन है [तु] और [जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्ध और अस्पर्शित [भवति] है ऐसा [शुद्धनयस्य] शुद्धनयका कथन है ।

टीकाः—जीवको और पुद्गलकर्मको एकबंधपर्यायपनेसे देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नताका अभाव है इसलिये जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है । जीवको

है कर्म जीवमें बद्धस्पृष्ट—जु कथन यह व्यवहारका ।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीवमें—कथन है नय शुद्धका ॥१४१॥

कर्मेति निश्चयनयपक्षः ।

ततः किम्—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम् ।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न

तथा पुद्गलकर्मको अनेकद्रव्यपनेसे देखने पर उनमें अत्यन्त भिन्नता है इसलिये जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है, यह निश्चयनयका पक्ष है ।१४१।

किन्तु इससे क्या ? जो आत्मा उन दोनों नयपक्षोंको पार कर चुका है वही समयसार है,—यह अब गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा १४२

अन्वयार्थः—[जीवे] जीवमें [कर्म] कर्म [बद्धम्] बद्ध है अथवा [अबद्धं] अबद्ध है–[एवं तु] इसप्रकार तो [नयपक्षम्] नयपक्ष [जानीहि] जानो; [पुनः] किन्तु [यः] जो [पक्षातिक्रांतः] पक्षातिक्रांत (पक्षको उल्लंघन करने वाला) [भण्यते] कहलाता है [सः] वह [समयसारः] समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है ।

टीकाः—'जीवमें कर्म बद्ध है' ऐसा जो विकल्प तथा 'जीवमें कर्म अबद्ध है', ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं । जो उस नयपक्षका अतिक्रम करता है (-उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है । यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि)-जो 'जीवमें

हैं कर्म जीवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है ।
पर पक्षसे अतिक्रान्त भाषित, वो समयका सार है ॥१४२॥

विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति । यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ?

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥६६॥

कर्म बद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह 'जीवमें कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीवमें कर्म अबद्ध है' ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीवमें कर्म बद्ध है' ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता हुआ भी विकल्पका अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीवमें कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्षका अतिक्रम न करता हुआ, विकल्पका अतिक्रम नहीं करता । इसलिये जो समस्त नय पक्षका अतिक्रम करता है वही समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्पका अतिक्रम करता है वही समयसारको प्राप्त करता है—उसका अनुभव करता है ।

भावार्थः—जीव कर्मसे 'बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है'—यह दोनों नयपक्ष हैं । उनमेंसे किसीने बंधपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसीने अबन्धपक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसीने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्पका ही ग्रहण किया । परन्तु ऐसे विकल्पोंको छोड़कर जो कोई भी पक्षको ग्रहण नहीं करता वही शुद्ध पदार्थका स्वरूप जानकर उस-रूप समयसारको—शुद्धात्माको—प्राप्त करता है । नयपक्षको ग्रहण करना राग है, इसलिये समस्त नयपक्षको छोड़नेसे वीतराग समयसार हुआ जाता है ।

अब, 'यदि ऐसा है तो नयपक्षके त्यागकी भावनाको वास्तवमें कौन नहीं नचायेगा ?' ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव नयपक्षके त्यागकी भावना वाले २३ कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो नयपक्षपातको छोड़कर सदा (अपने) स्वरूपमें गुप्त होकर निवास करते हैं वे ही, जिनका चित्त विकल्पजालसे रहित शांत होगया है ऐसे होते हुए, साक्षात् अमृतपान करते हैं ।

भावार्थः—जबतक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्तका क्षोभ नहीं मिटता ।

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिचिदेव ॥७०॥

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिचिदेव ॥७१॥

जब नयोंका सब पक्षपात दूर हो जाता है तब वीतराग दशा होकर स्वरूपकी श्रद्धा निर्विकल्प होती है, स्वरूपमें प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुखका अनुभव होता है।६६।

अब २० कलशों द्वारा नयपक्षका विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो ऐसे समस्त नयपक्षोंको छोड़ देता है वह तत्त्ववेत्ता (तत्त्वज्ञानी) स्वरूपको प्राप्त करता है:—

अर्थः—जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है ऐसा एक नयका पक्ष है और नहीं बँधा हुआ है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूपका ज्ञाता) पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है)।

भावार्थः—इस ग्रंथमें पहलेसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्यके परिणाम परनिमित्तसे अनेक होते हैं उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीवको शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव-पदार्थको शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्ध स्वरूपके स्वादको प्राप्त नहीं करेगा। अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है? किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नहीं मिटेगा इसलिये वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपातको छोड़कर चिन्मात्र स्वरूपमें लीन होने पर ही समयसारको प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनयको जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर शुद्ध स्वरूपका अनुभव करके, स्वरूपमें प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करनी चाहिये।७०।

अर्थ:—जीव मूढ़ (मोही) है ऐसा एक नयका पक्ष है और वह मूढ़ नहीं है ऐसा

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७२।।

(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७३।।

(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७४।।

दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है) ।७१।

अर्थः—जीव रागी है ऐसा एक नयका पक्ष है, और वह रागी नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित हैं उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।७२।

अर्थः—जीव द्वेषी है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव द्वेषी नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।७३।

अर्थः—जीव कर्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कर्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।७४।

(उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

(उपजाति)

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

(उपजाति)

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

अर्थः—जीव भोक्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भोक्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।७५।

अर्थः—जीव जीव है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव जीव नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।७६।

अर्थः—जीव सूक्ष्म है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सूक्ष्म नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।७७।

अर्थः—जीव हेतु (कारण) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव हेतु (कारण) नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।७८।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

(उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

(उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

अर्थः—जीव कार्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कार्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।७९।

अर्थ—जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है) ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भाव नहीं (अर्थात् अभावरूप है) ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।८०।

अर्थः—जीव एक है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव एक नहीं है (-अनेक है) ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।८१।

(उपजाति)

एकस्य सांतो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

अर्थः—जीव सांत (-अन्त सहित) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सांत नहीं ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है, उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।८२।

अर्थः—जीव नित्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नित्य नहीं ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।८३।

अर्थः—जीव वाच्य (अर्थात् वचनसे कहा जा सके ऐसा) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वाच्य (-वचनगोचर) नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।८४।

अर्थः—जीव नानारूप है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नानारूप नहीं ऐसा

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।८५।

अर्थः—जीव चेत्य (-जाननेयोग्य) है, ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव चेत्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।८६।

अर्थः—जीव दृश्य (-देखनेयोग्य) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव दृश्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।८७।

अर्थः—जीव वेद्य (-वेदनेयोग्य, ज्ञातहोनेयोग्य) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वेद्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।८८।

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अर्थः—जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव 'भात' नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

भावार्थः—बद्ध अबद्ध, मूढ़ अमूढ़, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त अनन्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ता है उसे चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूपरूप अनुभव होता है।

जीवमें अनेक साधारण धर्म हैं परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है।८९।

अब उपरोक्त २० कलशोंके कथनका उपसंहार करते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार जिसमें बहुतसे विकल्पोंका जाल अपने आप उठता है ऐसी बड़ी नयपक्षकक्षाको (नयपक्षकी भूमिको) उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) भीतर और बाहर समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भावको (-स्वरूपको) प्राप्त करता है।९०।

अब नयपक्षके त्यागकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते हैं:—

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

पक्षातिक्रान्तस्य किं स्वरूपमिति चेत्—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥१४३॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति, न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवल-

---

अर्थः—विपुल, महान, चंचल विकल्परूपी तरंगोंके द्वारा उड़ते हुए इस समस्त इन्द्रजालको जिसका स्फुरण मात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ।

भावार्थः—चैतन्यका अनुभव होने पर समस्त नयोंका विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलयको प्राप्त होता है; ऐसा चित्प्रकाश मैं हूँ ।९१।

'पक्षातिक्रान्तका स्वरूप क्या है ?' इसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १४३

अन्वयार्थः—[नयपक्षपरिहीनः] नयपक्षसे रहित जीव, [**समयप्रतिबद्धः**] समयसे प्रतिबद्ध होता हुआ (अर्थात् चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता हुआ), [**द्वयोः अपि**] दोनों ही [**नययोः**] नयोंके [**भणितं**] कथनको [**केवलं तु**] मात्र [**जानाति**] जानता ही है [**तु**] परन्तु [**नयपक्षं**] नयपक्षको [**किंचित् अपि**] किंचित्मात्र भी [**न गृह्णाति**] ग्रहण नहीं करता ।

टीकाः—जैसे केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही मात्र जानते हैं परन्तु, निरन्तर प्रकाशमान सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा सदा स्वयं ही विज्ञानघन हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानकी भूमिका

नयद्वयकथन जाने हि केवल समयमें प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ॥१४३॥

ज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति, न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति, स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः ।

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम् ।

की अतिक्रान्तताके द्वारा (अर्थात् श्रुतज्ञानकी भूमिकाको पार कर चुकनेके कारण) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, इसीप्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा), क्षयोपशमसे जो उत्पन्न होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे, श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार निश्चयनयपक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं परन्तु, तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किये गये निर्मल, नित्य-उदित, चिन्मय समयसे प्रतिबद्धताके द्वारा (अर्थात् चैतन्यमय आत्माके अनुभवन द्वारा) अनुभवके समय स्वयं ही विज्ञानघन हुवे होनेसे, श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाकी अतिक्रान्तताके द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुवे होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करता, वह (आत्मा) वास्तवमें समस्त विकल्पोंसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है ।

भावार्थः—जैसे केवली भगवान सदा नयपक्षके स्वरूपके साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा) हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी जब समस्त नयपक्षोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभवन करते हैं तब वे नयपक्षके स्वरूपके ज्ञाता ही हैं, यदि एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण किया जाये तो मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग होता है; प्रयोजनवश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त मात्र चारित्रमोहका राग रहता है, और जब नयपक्षको छोड़कर वस्तुस्वरूपको मात्र जानते ही हैं तब श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीतराग जैसे ही होते हैं ऐसा जानना ।

अब इस कलशमें यह कहते हैं कि वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है:—

अर्थः—चित्स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य किये जाते हैं, ऐसा

बंधपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेष लभत इति केवलं व्यपदेशम् ।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥१४४॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते । यः खल्वखिल-नयपक्षाक्षुण्णतया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः । यतः प्रथमतः

जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे अपार समयसारको मैं, समस्त बंधपद्धतिको दूर करके अर्थात् कर्मोदयसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर, अनुभव करता हूँ ।

भावार्थ:—निर्विकल्प अनुभव होने पर, जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नहीं है ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्तता है, 'मैं अनुभव करता हूँ' ऐसा भी विकल्प नहीं होता—ऐसा जानना ।९२।

अब, यह कहते हैं कि नियमसे यह सिद्ध है कि पक्षातिक्रान्त ही समयसार है:—

गाथा १४४

अन्वयार्थ:—[यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सर्व नयपक्षोंसे रहित [भणितः] कहा गया है [सः] वह [समयसारः] समयसार है; [एषः] इसी (—समयसार को ही) [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान [इति] ऐसी [व्यपदेशम्] संज्ञा (नाम) [लभते] मिलती है, (नामोंके भिन्न होने पर भी वस्तु एक ही है ।)

टीका:—वास्तवमें समस्त नयपक्षोंके द्वारा खण्डित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है, ऐसा समयसार है; वास्तवमें इस एकको ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम प्राप्त है । (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे अलग नहीं है, एक ही है ।)

सम्यक्त्व और सुज्ञानकी, जिस एकको संज्ञा मिले ।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समयका सार है ॥१४४॥

श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्याति-हेतूनखिला एवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधार्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंतीः श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधार्य श्रुतज्ञान-तत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंत-मादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रति-भासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ।

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

प्रथम, श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करके, और फिर आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, पर पदार्थकी प्रसिद्धिकी कारणभूत इन्द्रियों और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियोंको मर्यादामें लेकर जिसने मतिज्ञान—तत्त्वको (-मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्मसन्मुख किया है, तथा जो नानाप्रकारके नयपक्षोंके आलंबनसे होनेवाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञानकी बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्वको भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रगट होता हुआ, आदि-मध्य और अन्तसे रहित, अनाकुल, केवल एक, सम्पूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो ऐसे अखण्ड प्रतिभासमय, अनन्त विज्ञानघन परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है तब उसी समय आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् उसकी श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है इसलिये समयसार ही सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है ।

भावार्थः—पहले आत्माका आगमज्ञानसे ज्ञानस्वरूप निश्चय करके फिर इन्द्रिय-बुद्धिरूप मतिज्ञानको ज्ञानमात्रमें ही मिलाकर, तथा श्रुतज्ञानरूपी नयोंके विकल्पोंको मिटाकर श्रुतज्ञानको भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभासका अनुभव करना ही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' के नामको प्राप्त करता है; सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहीं अनुभवसे भिन्न नहीं हैं ।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—नयोंके पक्षोंसे रहित; अचल निर्विकल्पभावको प्राप्त होता हुआ जो समयका (आत्माका) सार प्रकाशित करता है वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)—जो कि निभृत

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

* अनुष्टुभ् *

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

(निश्चल, आत्मलीन) पुरुषोंके द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (-अनुभवमें आता है) वह—विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान है, पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे ज्ञान कहो या दर्शन वह यही (समयसार) ही है; अधिक क्या कहें ? जो कुछ है सो यह एक ही है (-मात्र भिन्न भिन्न नामसे कहा जाता है) ।९३।

अब यह कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुआ था सो ज्ञानमें ही आ मिलता है:—

अर्थः—जैसे पानी अपने समूहसे च्युत होता हुआ दूर गहन वनमें बह रहा हो उसे दूरसे ही ढालवाले मार्गके द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी, पानीको पानीके समूहकी ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूहमें आ मिलता है; इसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालोंके गहन वनमें दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे दूरसे ही विवेकरूपी ढालवाले मार्गद्वारा अपने विज्ञानघनस्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिये केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोंको जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभवमें आता है ऐसा वह आत्मा, आत्माको आत्मामें खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), सदा विज्ञानघन-स्वभावमें आ मिलता है ।

भावार्थः—जैसे पानी, अपने पानीके निवासस्थलसे किसी मार्गसे बाहर निकलकर वनमें अनेक स्थानों पर बह निकले; और फिर किसी ढालवाले मार्गद्वारा, ज्योंका त्यों अपने निवास-स्थानमें आ मिले; इसीप्रकार आत्मा भी मिथ्यात्वके मार्गसे स्वभावसे बाहर निकलकर विकल्पोंके वनमें भ्रमण करता हुआ किसी भेदज्ञानरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा स्वयं ही अपनेको खींचता हुआ अपने विज्ञानघनस्वभावमें आ मिलता है ।९४।

अब कर्ताकर्म अधिकारका उपसंहार करते हुए, कुछ कलशरूप काव्य कहते हैं, उनमेंसे प्रथम कलशमें कर्ता और कर्मका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं:—

अर्थः—विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

कोई कर्ता-कर्म नहीं है;) जो जीव विकल्पसहित है उसका कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता।

भावार्थः—जबतक विकल्पभाव है तबतक कर्ताकर्मभाव है; जब विकल्पका अभाव हो जाता है तब कर्ताकर्मभावका भी अभाव हो जाता है।९५।

अब कहते हैं कि जो करता है सो करता ही है, और जो जानता है सो जानता ही है—

अर्थः—जो करता है सो मात्र करता ही है और जो जानता है सो मात्र जानता ही है; जो करता है वह कभी जानता नहीं और जो जानता है वह कभी करता नहीं।

भावार्थः—जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं और जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं।९६।

इसीप्रकार अब यह कहते हैं कि करने और जाननेरूप दोनों क्रियाएँ भिन्न हैं:—

अर्थः—करनेरूप क्रियाके भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती और जाननेरूप क्रियाके भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।

भावार्थः—जब आत्मा इसप्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्य को करता हूँ' तब तो वह कर्ताभावरूप परिणमनक्रियाके करनेसे अर्थात् 'करोति' क्रियाके करनेसे कर्ता ही है और जब वह इस प्रकार परिणमन करता है कि 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ' तब ज्ञाताभावरूप परिणमन करनेसे अर्थात् ज्ञप्तिक्रियाके करनेसे ज्ञाता ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि अविरत-सम्यक्दृष्टि आदिको जबतक चारित्रमोहका उदय रहता है तबतक वह कषायरूप परिणमन करता है इसलिये उसका वह कर्ता कहलाता है या नहीं ? उसका समाधानः—अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके श्रद्धा-ज्ञानमें परद्रव्यके स्वामित्व-रूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है; जो कषायरूप परिणमन है वह उदयकी बलवत्ताके कारण है; वह उसका ज्ञाता है, इसलिये उसके अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं है। निमित्तकी बलवत्तासे

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अथवा नानट्यतां तथापि—

(मंदाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥९९॥

होनेवाले परिणमनका फल किंचित् होता है वह संसारका कारण नहीं है। जैसे वृक्षकी जड़ काट देनेके बाद वह वृक्ष कुछ समय तक रहे अथवा न रहे—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना ।९७।

पुनः इसी बातको दृढ़ करते हैं:—

अर्थः—निश्चयसे न तो कर्ता कर्ममें है, और न कर्म कर्तामें ही है—यदि इस प्रकार परस्पर दोनोंका निषेध किया जाये तो कर्ता-कर्मकी क्या स्थिति होगी ? (अर्थात् जीव-पुद्गलके कर्ताकर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा ।) इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञातामें ही है और कर्म सदा कर्ममें ही है ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है तथापि अरे ! नेपथ्यमें यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्यको खेद और आश्चर्य होता है ।)

भावार्थः—कर्म तो पुद्गल है, जीवको उसका कर्ता कहना असत्य है। उन दोनोंमें अत्यन्त भेद है, न तो जीव पुद्गलमें है और न पुद्गल जीवमें; तब फिर उनमें कर्ताकर्मभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, वह पुद्गलकर्मोंका कर्ता नहीं है; और पुद्गलकर्म हैं वे पुद्गल ही हैं; ज्ञाताका कर्म नहीं हैं। आचार्यदेवने खेदपूर्वक कहा है कि—इसप्रकार प्रगट भिन्न द्रव्य हैं तथापि 'मैं कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' इसप्रकार अज्ञानीका यह मोह (-अज्ञान) क्यों नाच रहा है ? ।९८।

अब यह कहते हैं कि यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है:—

अर्थः—अचल, व्यक्त और चित्शक्तियोंके (-ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंके) समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में उग्रतासे ऐसी जाज्वल्यमान हुई

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोंकः ॥

कि—आत्मा अज्ञानमें कर्ता होता था सो अब वह कर्ता नहीं होता और अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं होता; और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है ।

भावार्थ:—जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमित होता है, पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं होता; और पुद्गल पुद्गल ही रहता है, कर्मरूप परिणमित नहीं होता। इसप्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दोनों द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तनैमित्तिकभाव नहीं होता। ऐसा ज्ञान सम्यक्दृष्टिके होता है ।१६।

टीका:—इसप्रकार जीव और अजीव कर्ताकर्मका वेष त्यागकर बाहर निकल गये ।

भावार्थ:—जीव और अजीव दोनों कर्ता-कर्मका वेष धारण करके एक होकर रंगभूमिमें प्रविष्ट हुए थे । जब सम्यक्दृष्टिने अपने यथार्थ दर्शक ज्ञानसे उन्हें भिन्न भिन्न लक्षणसे यह जान लिया कि वे एक नहीं किन्तु दो अलग अलग हैं, तब वे वेषका त्याग करके रंगभूमिसे बाहर निकल गये । बहुरूपियाकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि जबतक देखनेवाले उसे पहिचान नहीं लेते तबतक वह अपनी चेष्टाएं किया करता है, किन्तु जब कोई यथार्थरूपसे पहिचान लेता है तब वह निज रूपको प्रगट करके चेष्टा करना छोड़ देता है । इसीप्रकार यहाँ भी समझना ।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वर्णै करता सो,
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो,
ज्ञान भये करता न बनै तब बन्ध न होय खुलै परपासो,
आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहै निति थासो ।

॥ द्वितीय कर्ताकर्म अधिकार समाप्त ॥

पुण्य-पाप अधिकार

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

(द्रुतविलंबित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

—::: दोहा :::—

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर् मानि ।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब एक ही कर्म दो पात्ररूप होकर पुण्य-पापरूपसे प्रवेश करता है।'

जैसे नृत्यमंच पर एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखाकर नाच रहा हो तो उसे यथार्थ ज्ञाता पहिचान लेता है और उसे एक ही जान लेता है, इसीप्रकार यद्यपि कर्म एक ही है तथापि वह पुण्य-पापके भेदसे दो प्रकारके रूप धारण करके नाचता है उसे, सम्यक्दृष्टिका यथार्थज्ञान एकरूप जान लेता है। उस ज्ञानकी महिमाका काव्य इस अधिकारके प्रारम्भमें टीकाकार आचार्य कहते हैं:—

अर्थः—अब (कर्ताकर्म अधिकारके पश्चात्), शुभ और अशुभके भेदसे द्वित्वको प्राप्त उस कर्मको एकरूप करता हुआ, जिसने अत्यन्त मोहरजको दूर कर दिया है ऐसा यह (प्रत्यक्ष—अनुभवगोचर) ज्ञानसुधांशु (सम्यक्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) स्वयं उदयको प्राप्त होता है।

(मंदाक्रांता)

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

कर्म अशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीथ सुशीलम् ।
कथं तद्भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

भावार्थः—अज्ञानसे एक ही कर्म दो प्रकार दिखाई देता था उसे सम्यक्ज्ञानने एक प्रकारका बताया है। ज्ञान पर जो मोहरूपी रज चढ़ी हुई थी उसे दूर कर देनेसे यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है; जैसे बादल या कुहरेके पटलसे चन्द्रमाका यथार्थ प्रकाश नहीं होता किन्तु आवरणके दूर होने पर वह यथार्थ प्रकाशमान होता है, इसीप्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।१००।

अब पुण्य-पापके स्वरूपका दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा उसी शूद्राके यहाँ पला उनमेंसे) एक तो 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे दूरसे ही मदिराका त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, तब दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरासे ही स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है। यद्यपि ये दोनों शूद्राके पेटसे एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं इसलिये (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, तथापि वे जातिभेदके भ्रम सहित प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं। (इसीप्रकार पुण्य और पापके सम्बन्धमें समझना चाहिये।)

भावार्थः—पुण्य-पाप दोनों विभावपरिणतिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये दोनों बन्धरूप ही हैं। व्यवहारदृष्टिसे भ्रमवश उनकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न भासित होनेसे, वे अच्छे और बुरे रूपसे दो प्रकार दिखाई देते हैं। परमार्थदृष्टि तो उन्हें एकरूप ही, बन्धरूप ही, बुरा ही जानती है ।१०१।

अब शुभाशुभ कर्मके स्वभावका वर्णन गाथामें करते हैं:—

है कर्म अशुभ कुशील अरु जानो सुशील शुभकर्मको !
किस रीत होय सुशील जो संसारमें दाखिल करे ? ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्, शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्, शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात्, शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः। स तु सप्रतिपक्षः। तथाहि—शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः

गाथा १४५

अन्वयार्थः—[अशुभं कर्म] अशुभ कर्म [कुशीलं] कुशील है (-बुरा है) [अपि च] और [शुभकर्म] शुभ कर्म [सुशीलम्] सुशील है (-अच्छा है) ऐसा [जानीथ] तुम जानते हो ! (किन्तु) [तत्] वह [सुशीलं] सुशील [कथं] कैसे [भवति] हो सकता है [यत्] जो [संसारं] (जीवको) संसारमें [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है ?

टीका:—किसी कर्ममें शुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे और किसीमें अशुभ जीवपरिणाम निमित्त होनेसे कर्मके कारणोंमें भेद होता है; कोई कर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय और कोई अशुभ पुद्गलपरिणाममय होनेसे कर्मके स्वभावमें भेद होता है; किसी कर्मका शुभ फलरूप और किसीका अशुभ फलरूप विपाक होनेसे कर्मके अनुभवमें (-स्वादमें) भेद होता है; कोई कर्म (शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्गके) आश्रित होनेसे और कोई कर्म अशुभ (-बुरे) बन्धमार्गके आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमें भेद होता है। (इसलिये) यद्यपि (वास्तवमें) कर्म एक ही है तथापि कई लोगोंका ऐसा पक्ष है कि कोई कर्म शुभ है और कोई अशुभ है। परन्तु वह (पक्ष) प्रतिपक्ष सहित है। वह प्रतिपक्ष (अर्थात् व्यवहारपक्षका निषेध करनेवाला निश्चयपक्ष) इसप्रकार है:—

शुभ या अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं; और उनके एक होनेसे कर्मके कारणोंमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके स्वभावमें भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ या अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय होनेसे एक है; उसके एक होनेसे कर्मके अनुभवमें (-स्वादमें) भेद नहीं होता; इसलिये कर्म एक ही है। शुभ (-अच्छे) मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और अशुभ (-बुरे) बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय है इसलिये वे अनेक (-भिन्न भिन्न, दो) हैं; और उनके अनेक होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय-बन्धमार्गके ही आश्रित होनेसे कर्मके आश्रयमें भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक ही है।

केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवल-पुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म।

भावार्थः—कोई कर्म तो अरहन्तादिमें भक्ति-अनुराग, जीवोंके प्रति अनुकम्पाके परिणाम और मन्द कषायसे चित्तकी उज्ज्वलता इत्यादि शुभ परिणामोंके निमित्तसे होते हैं और कोई कर्म तीव्र क्रोधादिक अशुभ लेश्या, निर्दयता विषयासक्ति, और देव, गुरु आदि पूज्य पुरुषोंके प्रति विनयभावसे नहीं प्रवर्तना इत्यादि अशुभपरिणामोंके निमित्तसे होते हैं; इसप्रकार हेतु भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हो जाते हैं। सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र—इन कर्मोंके परिणामों (-प्रकृति) इत्यादिमें तथा चार घातीयकर्म, असाता-वेदनीय, अशुभ-आयु, अशुभनाम और अशुभगोत्र—इन कर्मोंके परिणामोंमें भेद है; इसप्रकार स्वभावभेद होनेसे कर्मोंके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। किसी कर्मके फलका अनुभव सुखरूप और किसीका दुःखरूप है; इसप्रकार अनुभवका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। कोई कर्म मोक्षमार्गके आश्रित है और कोई कर्म बन्धमार्गके आश्रित है; इसप्रकार आश्रयका भेद होनेसे कर्मके शुभ और अशुभ दो भेद हैं। इसप्रकार हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय—ऐसे चार प्रकारसे कर्ममें भेद होनेसे कोई कर्म शुभ और कोई अशुभ है, ऐसा कुछ लोगोंका पक्ष है।

अब इस भेदपक्षका निषेध किया जाता है:—जीवके शुभ और अशुभ परिणाम दोनों अज्ञानमय हैं इसलिये कर्मका हेतु एक अज्ञान ही है; अतः कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम दोनों पुद्गलमय ही हैं इसलिये कर्मका स्वभाव एक पुद्गलपरिणामरूप ही है; अतः कर्म एक ही है। सुख-दुःखरूप दोनों अनुभव पुद्गलमय ही हैं इसलिये कर्मका अनुभव एक पुद्गलमय ही है; अतः कर्म एक ही है। मोक्षमार्ग और बन्धमार्गमें, मोक्षमार्ग तो केवल जीवके, और बन्धमार्ग केवल पुद्गलके परिणाममय ही है इसलिये कर्मका आश्रय मात्र बंधमार्ग ही है (अर्थात् कर्म एक बन्धमार्गके आश्रयसे ही होता है—मोक्षमार्गमें नहीं होता); अतः कर्म एक ही है।

इसप्रकार कर्मके शुभाशुभ भेदके पक्षको गौण करके उसका निषेध किया है, क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, और यदि अभेदपक्षसे देखा जाये तो कर्म एक ही है—दो नहीं।

अब इसी अर्थका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥ १४६ ॥

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायस-निगलवत् ।

अर्थः—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय—इन चारोंका सदा ही अभेद होनेसे कर्ममें निश्चयसे भेद नहीं है; इसलिये, समस्त कर्म स्वयं निश्चयसे बन्धमार्गके आश्रित हैं और बंधका कारण हैं, अतः कर्म एक ही माना गया है—उसे एक ही मानना योग्य है । १०२ ।

अब यह सिद्ध करते हैं कि—दोनों—शुभाशुभकर्म, बिना किसी अन्तरके बंधके कारण हैं:—

गाथा १४६

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [सौवर्णिकम्] सोनेकी [निगलं] बेड़ी [अपि] भी [पुरुषम्] पुरुषको [बध्नाति] बाँधती है और [कालायसम्] लोहेकी [अपि] भी बाँधती है, [एवं] इसीप्रकार [शुभम् वा अशुभम्] शुभ तथा अशुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवं] जीवको [बध्नाति] (अविशेषतया) बाँधता है ।

टीकाः—जैसे सोनेकी और लोहेकी बेड़ी बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको बाँधती है क्योंकि बन्धनभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है, इसीप्रकार शुभ और अशुभ कर्म बिना किसी भी अन्तरके पुरुषको (–जीवको) बाँधते हैं क्योंकि बन्धभावकी अपेक्षासे उनमें कोई अन्तर नहीं है ।

ज्यों लोहकी त्यों कनककी जंजीर जकड़े पुरुषको ।
इस रीतसे शुभ या अशुभ कृत, कर्म बांधे जीवको ॥१४६॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत् ।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टांतेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

अब दोनों कर्मोंका निषेध करते हैं:—

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[तस्मात् तु] इसलिये [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशीलोंके साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनताका नाश होता है (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है) ।

टीकाः—जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसीप्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है ।

इनसे करो नहि राग वा संसर्ग उभय कुशीलका ।
इस कुशीलके संसर्गसे है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ॥१४७॥
जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके ।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥
यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके ।
निज भावमें रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१४९॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टांतपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:—

गाथा १४८–१४९

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [कुत्सितशीलं] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [जनं] पुरुषको [विज्ञाय] जानकर [तेन समकं] उसके साथ [संसर्गं च रागकरणं] संसर्ग और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है, [एवम् एव च] इसीप्रकार [स्वभावरताः] स्वभावमें रत पुरुष [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृतिके शील–स्वभावको [कुत्सितं] कुत्सित अर्थात् खराब [ज्ञात्वा] जानकर [तत्संसर्गं] उसके साथ संसर्ग [वर्जयंति] छोड़ देते हैं [परिहरंति च] और राग छोड़ देते हैं।

टीकाः—जैसे कोई जंगलका कुशल हाथी अपने बन्धनके लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीको परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्धके लिये समीप आनेवाली (उदयमें आनेवाली) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ)—सभी कर्मप्रकृतियोंको परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

भावार्थः—हाथीको पकड़नेके लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ राग तथा संसर्ग करता है इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है, जो हाथी चतुर होता है वह उस हथिनीके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता; इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिको अच्छा समझकर उसके साथ

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तम्हा दु कुसीलेहि य रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां च रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत् ।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टांतेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडीसीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥

अब दोनों कर्मोंका निषेध करते हैं:—

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[तस्मात् तु] इसलिये [कुशीलाभ्यां] इन दोनों कुशीलोंके साथ [रागं] राग [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गम् च] संसर्ग भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [कुशीलसंसर्गरागेण] कुशीलके साथ संसर्ग और राग करनेसे [स्वाधीनः विनाशः] स्वाधीनताका नाश होता है (अर्थात् अपने द्वारा ही अपना घात होता है) ।

टीकाः—जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसीप्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है ।

इमसे करो नहि राग वा संसर्ग उभय कुशीलका ।
इस कुशीलके संसर्गसे है, नाश तुझ स्वातंत्र्यका ॥१४७॥
जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जनको जानके ।
संसर्ग उसके साथ त्योंही, राग करना परितजे ॥१४८॥
यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव कुत्सित जानके ।
निज भावमें रत राग अरु संसर्ग उसका परिहरे ॥१४९॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१४९॥

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति, तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं ही दृष्टांतपूर्वक यह समर्थन करते हैं कि दोनों कर्म निषेध्य हैं:—

गाथा १४८–१४९

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि पुरुषः] कोई भी पुरुष [कुत्सितशीलं] कुशील अर्थात् खराब स्वभाववाले [जनं] पुरुषको [विज्ञाय] जानकर [तेन समकं] उसके साथ [संसर्गं च रागकरणं] संसर्ग और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है, [एवम् एव च] इसीप्रकार [स्वभावरताः] स्वभावमें रत पुरुष [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृतिके शील-स्वभावको [कुत्सितं] कुत्सित अर्थात् खराब [ज्ञात्वा] जानकर [तत्संसर्गं] उसके साथ संसर्ग [वर्जयंति] छोड़ देते हैं [परिहरंति च] और राग छोड़ देते हैं।

टीकाः—जैसे कोई जंगलका कुशल हाथी अपने बन्धनके लिये निकट आती हुई सुन्दर मुखवाली मनोरम अथवा अमनोरम हथिनीरूपी कुट्टनीको परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसीप्रकार आत्मा अरागी ज्ञानी होता हुआ अपने बन्धके लिये समीप आनेवाली (उदयमें आनेवाली) मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ)—सभी कर्मप्रकृतियोंको परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।

भावार्थः—हाथीको पकड़नेके लिये हथिनी रखी जाती है, हाथी कामान्ध होता हुआ उस हथिनीरूपी कुट्टनीके साथ राग तथा संसर्ग करता है इसलिये वह पकड़ा जाता है और पराधीन होकर दुःख भोगता है, जो हाथी चतुर होता है वह उस हथिनीके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता; इसीप्रकार अज्ञानी जीव कर्मप्रकृतिको अच्छा समझकर उसके साथ

मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ।

अथोभयं कर्म बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

रत्तो बन्धदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः ।
एषो जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति ।

राग तथा संसर्ग करते हैं इसलिये वे बन्धमें पड़कर पराधीन बनकर संसारके दुःख भोगते हैं, और जो ज्ञानी होता है वह उसके साथ कभी भी राग तथा संसर्ग नहीं करता ।

अब, आगमसे यह सिद्ध करते हैं कि दोनों कर्म बन्धके कारण हैं और निषेध्य हैं:—

गाथा १५०

अन्वयार्थः—[रक्तः जीवः] रागी जीव [कर्म] कर्म [बध्नाति] बाँधता है [विरागसंप्राप्तः] और वैराग्यको प्राप्त जीव [मुच्यते] कर्मसे छूटता है—[एषः] यह [जिनोपदेशः] जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है; [तस्मात्] इसलिये (हे भव्य जीव!) तू [कर्मसु] कर्मोंमें [मा रज्यस्व] प्रीति—राग मत कर ।

टीका:—"रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्मसे छूटता है" ऐसा जो यह आगमवचन है सो, सामान्यतया रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभाशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिये दोनों कर्मोंका निषेध करता है ।

इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

जीव रागी बांधे कर्मको, वैराग्यगत मुक्ती लहे ।
—ये जिनप्रभू उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्मसे ॥१५०॥

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्
बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं
ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

अर्थः—क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्धका साधन (कारण) कहते हैं इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) समस्त कर्मका निषेध किया है और ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है ।१०३।

जब कि समस्त कर्मोंका निषेध कर दिया गया तब फिर मुनियोंको किसकी शरण रही सो अब कहते हैं:—

अर्थः—शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म—ऐसे समस्त कर्मोंका निषेध कर देने पर निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्थामें प्रवर्तमान, मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब ज्ञानमें आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ-परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियोंको शरण है; वे उस ज्ञानमें लीन होते हुए परम अमृतका स्वयं अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं ।

भावार्थः—किसीको यह शंका हो सकती है कि-जब सुकृत और दुष्कृत—दोनोंको निषेध कर दिया गया है तब फिर मुनियोंको कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिये वे किसके आश्रयसे या किस आलम्बनके द्वारा मुनित्वका पालन कर सकेंगे ? आचार्यदेवने उसके समाधानार्थ कहा है कि:—समस्त कर्मोंका त्याग होजाने पर ज्ञानका महा शरण है । उस ज्ञानमें लीन होनेपर सर्व आकुलतासे रहित परमानन्दका भोग होता है—जिसके स्वादको ज्ञानी ही जानते हैं । अज्ञानी कषायी जीव कर्मोंको ही सर्वस्व जानकर उन्हींमें लीन हो रहे हैं, वे ज्ञानानन्दके स्वादको नहीं जानते ।१०४।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान मोक्षका कारण है:—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥१५१॥

ज्ञानं मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः । तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत् । स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्रभावतया मुनिः,

---

गाथा १५१

अन्वयार्थः—[खलु] निश्चयसे [यः] जो [परमार्थः] परमार्थ (परम पदार्थ) है, [समयः] समय है, [शुद्धः] शुद्ध है, [केवली] केवली है, [मुनिः] मुनि है, [ज्ञानी] ज्ञानी है, [तस्मिन् स्वभावे] उस स्वभावमें [स्थिताः] स्थित [मुनयः] मुनि [निर्वाणं] निर्वाणको [प्राप्नुवंति] प्राप्त होते हैं ।

टीका:—ज्ञान मोक्षका कारण है, क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मोंके बन्धका कारण नहीं होनेसे उसके इसप्रकार मोक्षका कारणपना बनता है । वह ज्ञान, समस्त कर्म आदि अन्य जातियोंसे भिन्न चैतन्य-जातिमात्र परमार्थ (-परम पदार्थ) है—आत्मा है । वह (आत्मा) एक ही साथ एकरूपसे प्रवर्तमान ज्ञान और गमन (परिणमन) स्वरूप होनेसे समय है, समस्त नयपक्षोंसे अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होनेसे शुद्ध है, केवल चिन्मात्र वस्तुस्वरूप होनेसे केवली है, केवल मननमात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होनेसे मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानी है, 'स्व' का [1]भवनमात्रस्वरूप होनेसे स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्यका भवनमात्रस्वरूप होनेसे सद्भाव है (क्योंकि जो स्वतः होता है वह सत्-स्वरूप ही होता है) । इसप्रकार शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है (यद्यपि नाम भिन्न भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है) ।

---

१ भवन=होना;

परमार्थ है निश्चय, समय, शुध, केवली, मुनि, ज्ञानि है ।
तिष्ठे जु उसमहि स्वभाव मुनिवर, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥१५१॥

स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ।

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं विदंति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ।

भावार्थः—मोक्षका उपादान तो आत्मा ही है। परमार्थसे आत्माका ज्ञानस्वभाव है; जो ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। इसलिये ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहना योग्य है।

अब, यह बतलाते हैं कि आगममें भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है:—

गाथा १५२

अन्वयार्थः—[परमार्थे तु] परमार्थमें [अस्थितः] अस्थित [यः] जो जीव [तपः करोति] तप करता है [च] और [व्रतं धारयति] व्रत धारण करता है, [तत्सर्वं] उसके उन सब तप और व्रतको [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [बालतपः] बालतप और [बालव्रतं] बालव्रत [विदंति] कहते हैं।

टीकाः—आगममें भी ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है (ऐसा सिद्ध होता है); क्योंकि जो जीव परमार्थभूत ज्ञानसे रहित है उसके, अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप आदि कर्म बन्धके कारण हैं इसलिये उन कर्मोंको 'बाल' संज्ञा देकर उनका निषेध किया जानेसे ज्ञान ही मोक्षका कारण सिद्ध होता है।

भावार्थः—ज्ञानके बिना किये गये तप, व्रतादिको सर्वज्ञदेवने बालतप तथा बालव्रत (अज्ञानतप तथा अज्ञानव्रत) कहा है, इसलिये मोक्षका कारण ज्ञान ही है।

परमार्थमें नहिं तिष्ठकर, जो तप करें व्रतको धरें ।
तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवरने कहे ॥१५२॥

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वंतः ।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति ॥१५३॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशील-तपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ।

अब यह कहते हैं कि ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और अज्ञान ही बन्धका हेतु है यह नियम है:—

गाथा १५३

अन्वयार्थः—[व्रतनियमान्] व्रत और नियमोंको [धारयन्तः] धारण करते हुए भी [तथा] तथा [शीलानि च तपः] शील और तप [कुर्वन्तः] करते हुए भी [ये] जो [परमार्थबाह्याः] परमार्थसे बाह्य हैं (अर्थात् परम पदार्थरूप ज्ञानका-ज्ञानस्वरूप आत्माका जिसको श्रद्धान नहीं है) [ते] वे [निर्वाणं] निर्वाणको [न विंदंति] प्राप्त नहीं होते ।

टीकाः—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है; क्योंकि ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होने वाले अज्ञानियोंके अन्तरंगमें व्रत, नियम, शील तप इत्यादि शुभ कर्मोंका सद्भाव होने पर भी मोक्षका अभाव है । अज्ञान ही बन्धका कारण है; क्योंकि उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञान-रूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोंका असद्भाव होने पर भी मोक्षका सद्भाव है ।

भावार्थः—ज्ञानरूप परिणमन ही मोक्षका कारण है और अज्ञानरूप परिणमन ही बन्धका कारण है; व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ भावरूप शुभ कर्म कहीं मोक्षके कारण नहीं हैं; ज्ञानरूप परिणमित ज्ञानीके वे शुभ कर्म न होने पर भी वह मोक्षको प्राप्त करता है; तथा अज्ञानरूप परिणमित अज्ञानीके वे शुभ कर्म होनेपर भी, वह बन्धको प्राप्त करता है ।

व्रतनियमको धारे भले, तपशीलको भी आचरे ।
परमार्थसे जो बाह्य वो, निर्वाणप्राप्ती नहिं करे ॥१५३॥

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुमपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥१५४॥

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनमात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूपसे और अचलरूपसे ज्ञानस्वरूप होता हुआ—परिणमता हुआ भासित होता है, वही मोक्षका हेतु है, क्योंकि वह स्वयमेव मोक्षस्वरूप है; उसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ है वह बन्धका हेतु है क्योंकि वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है। इसलिये आगममें ज्ञानस्वरूप होनेका (–ज्ञानस्वरूप परिणमित होनेका) अर्थात् अनुभूति करनेका ही विधान है।१०५।

अब फिर भी, पुण्यकर्मके पक्षपातीको समझानेके लिये उसका दोष बतलाते हैं:—

गाथा १५४

अन्वयार्थः—[**ये**] जो [**परमार्थबाह्याः**] परमार्थसे बाह्य हैं [**ते**] वे [**मोक्षहेतुम्**] मोक्षके हेतुको [**अजानन्तः**] न जानते हुए—[**संसारगमनहेतुम् अपि**] संसारगमनका हेतु होने पर भी—[**अज्ञानेन**] अज्ञानसे [**पुण्यम्**] पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) [**इच्छंति**] चाहते हैं।

टीकाः—समस्त कर्मोंके पक्षका नाश करनेसे उत्पन्न होनेवाले (निजस्वरूपकी प्राप्ति) आत्मलाभस्वरूप मोक्षको इस जगत्में कितने ही जीव चाहते हुए भी, मोक्षकी कारणभूत

परमार्थबाहिर जीवगण, जानें न हेतू मोक्षका ।
अज्ञानसे वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसारका ॥१५४॥

सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रं सामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवृत्त-मानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतु-मध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्म बंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युप-गच्छंति ।

अथ परमार्थमोक्षहेतुस्तेषां दर्शयति —

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

सामायिककी—जो (सामायिक) सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वभाववाले परमार्थभूत ज्ञानकी भवनमात्र है, एकाग्रतालक्षणयुक्त है, और समयसारस्वरूप है—उसकी प्रतिज्ञा लेकर भी, दुरंत कर्मचक्रको पार करनेकी नपुंसकताके कारण परमार्थभूत ज्ञानके अनुभवनमात्र सामायिकस्वरूप आत्मस्वभावको न प्राप्त होते हुए, जिनके अत्यन्त स्थूल संक्लेशपरिणामरूप कर्म निवृत्त हुए हैं और अत्यन्त स्थूल विशुद्धपरिणामरूप कर्म प्रवर्त रहे हैं ऐसे वे, कर्मके अनुभवके गुरुत्व-लघुत्वकी प्राप्तिमात्रसे ही सन्तुष्ट चित्त होते हुए भी, स्वयं स्थूललक्ष वाले होकर (संक्लेशपरिणामको छोड़ते हुए भी) समस्त कर्मकाण्डको मूलसे नहीं उखाड़ते। इसप्रकार वे, स्वयं अपने अज्ञानसे केवल अशुभकर्मको ही बन्धका कारण मानकर, व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभ कर्मोंको बन्धका कारण होने पर भी उन्हें बन्धका कारण न जानते हुए मोक्षके कारणरूपमें अंगीकार करते हैं,—मोक्षके कारणरूपमें उनका आश्रय करते हैं।

भावार्थः—कितने ही अज्ञानीजन दीक्षा लेते समय सामायिककी प्रतिज्ञा लेते हैं, परन्तु सूक्ष्म ऐसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा, लक्ष्य तथा अनुभव न कर सकनेसे, स्थूल लक्ष्यवाले वे जीव स्थूल संक्लेशपरिणामोंको छोड़कर ऐसे ही स्थूल विशुद्धपरिणामोंमें (शुभ परिणामोंमें) प्रसन्न होते हैं। (संक्लेशपरिणाम तथा विशुद्धपरिणाम दोनों अत्यन्त स्थूल हैं, आत्मस्वभाव ही सूक्ष्म है।) इसप्रकार वे—यद्यपि वास्तविकतया सर्वकर्मरहित आत्मस्वभावका अनुभवन ही मोक्षका कारण है तथापि—कर्मानुभवके अल्प-बहुत्वको ही बन्ध-मोक्षका कारण मानकर व्रत, नियम, शील, तप इत्यादि शुभकर्मोंका मोक्षके हेतुके रूपमें आश्रय करते हैं।

अब जीवोंको परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण बतलाते हैं:—

जीवादिका श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये हि मुक्ती पंथ है ॥१५५॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम् ।
रागादिपरिहरणं चरणं एषस्तु मोक्षपथः ॥१५५॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादि-श्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम् । रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम् । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रा-ण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ।

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६॥

गाथा १५५

अन्वयार्थः—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है, [तेषां अधिगमः] उन जीवादि पदार्थोंका अधिगम [ज्ञानम्] ज्ञान है और [रागादिपरिहरणं] रागादिका त्याग [चरणं] चारित्र है;—[एषः तु] यही [मोक्षपथः] मोक्षका मार्ग है ।

टीका:—मोक्षका कारण वास्तवमें सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है । उसमें, सम्यक्-दर्शन तो जीवादि पदार्थोंके श्रद्धानस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना है; जीवादि पदार्थोंके ज्ञानस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना ज्ञान है; रागादिके त्यागस्वभावरूप ज्ञानका होना—परिणमन करना सो चारित्र है । अतः इसप्रकार सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक ज्ञानका ही भवन (-परिणमन) है । इसलिये ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्षका कारण है ।

भावार्थः—आत्माका असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है । और इस प्रकरणमें ज्ञानको ही प्रधान करके विवेचन किया है । इसलिये 'सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों स्वरूप ज्ञान ही परिणमित होता है' यह कहकर ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है । ज्ञान है वह अभेद विवक्षामें आत्मा ही है—ऐसा कहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है, इसीलिये टीकामें कई स्थानोंपर आचार्यदेवने ज्ञानस्वरूप आत्माको 'ज्ञान' शब्दसे कहा है ।

अब, परमार्थ मोक्षकारणसे अन्य जो कर्म उनका निषेध करते हैं:—

विद्वान् जन भूतार्थ तज, व्यवहारमें वर्तन करे ।
पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ-आश्रित संतके ॥१५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते ।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥१५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्, परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।

(अनुष्टुभ्)
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

(अनुष्टुभ्)
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

गाथा १५६

अन्वयार्थः—[निश्चयार्थं] निश्चयनयके विषयको [मुक्त्वा] छोड़कर [विद्वांसः] विद्वान [व्यवहारेण] व्यवहारके द्वारा [प्रवर्तंते] प्रवर्तते हैं; [तु] परन्तु [परमार्थम् आश्रितानां] परमार्थके (–आत्मस्वरूपके) आश्रित [यतीनां] यतीश्वरोंके ही [कर्मक्षयः] कर्मोंका नाश [विहितः] आगममें कहा गया है । (केवल व्यवहारमें प्रवर्तन करनेवाले पण्डितोंके कर्मक्षय नहीं होता ।)

टीकाः—कुछ लोग परमार्थ मोक्षहेतुसे अन्य, जो व्रत, तप इत्यादि शुभकर्मस्वरूप मोक्षहेतु मानते हैं, उस समस्तहीका निषेध किया गया है; क्योंकि वह (मोक्षहेतु) अन्य द्रव्यके स्वभाववाला (पुद्गलस्वभाववाला) है इसलिये उसके स्व-भावसे ज्ञानका भवन (होना) नहीं बनता,—मात्र परमार्थ मोक्षहेतु ही एक द्रव्यके स्वभाववाला (जीवस्वभाववाला) है इसलिये उसके स्वभावके द्वारा ज्ञानका भवन (होना) बनता है ।

भावार्थः—क्योंकि आत्माका मोक्ष होता है इसलिये उसका कारण भी आत्मस्वभावी ही होना चाहिये । जो अन्य द्रव्यके स्वभाववाला है उससे आत्माका मोक्ष कैसे हो सकता है ? शुभ कर्म पुद्गलस्वभाववाले हैं इसलिये उनके भवनसे परमार्थ आत्माका भवन नहीं बन सकता; इसलिये वे आत्माके मोक्षके कारण नहीं होते । ज्ञान आत्मस्वभावी है इसलिये उसके भवनसे आत्माका भवन बनता है, अतः वह आत्माके मोक्षका कारण होता है । इसप्रकार ज्ञान ही वास्तविक मोक्षहेतु है ।

अब इसी अर्थके कलशरूप दो श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञान एकद्रव्यस्वभावी (–जीवस्वभावी–) होनेसे ज्ञानके स्वभावसे सदा

(अनुष्टुभ्)

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वाच्चन्निषिध्यते ॥१०८॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदी मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णायव्वं ॥१५९॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥१५७॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥१५८॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

ज्ञानका भवन बनता है; इसलिये ज्ञान ही मोक्षका कारण है ।१०६।

अर्थः—कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (-पुद्गलस्वभावी-) होनेसे कर्मके स्वभावसे ज्ञानका भवन नहीं बनता; इसलिये कर्म मोक्षका कारण नहीं है ।१०७।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है, और वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है तथा मोक्षके कारणोंका तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है इसीलिये उसका निषेध किया गया है ।१०८।

मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
मिथ्यात्वमलके लेपसे, सम्यक्त्व त्यों ही जानना ॥१५७॥
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
अज्ञानमलके लेपसे, सद्ज्ञान त्यों ही जानना ॥१५८॥
मलमिलनलिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्रका ।
चारित्र पावे नाश लिप्त कषायमलसे जानना ॥१५९॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत्। ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते, परभावभूत-

---

अब पहले, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म मोक्षके कारणोंका तिरोधान करनेवाला है:—

गाथा १५७-१५९

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नष्ट हो जाता है—तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [मिथ्यात्वमलावच्छन्नं] मिथ्यात्वरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ—लिप्त होता हुआ [सम्यक्त्वं खलु] सम्यक्त्व वास्तवमें तिरोभूत होता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये। [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [अज्ञानमलावच्छन्नं] अज्ञानरूपी मैलसे व्याप्त होता हुआ—लिप्त होता हुआ [ज्ञानं भवति] ज्ञान तिरोभूत हो जाता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये। [यथा] जैसे [वस्त्रस्य] वस्त्रका [श्वेतभावः] श्वेतभाव [मलमेलनासक्तः] मैलके मिलनेसे लिप्त होता हुआ [नश्यति] नाशको प्राप्त होता है—तिरोभूत हो जाता है, [तथा] उसीप्रकार [कषायमलावच्छन्नं] कषायरूपी मैलसे व्याप्त—लिप्त होता हुआ [चारित्रम् अपि] चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये।

टीकाः—ज्ञानका सम्यक्त्व जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप मिथ्यात्व नामक कर्मरूपी मैलके द्वारा व्याप्त होनेसे, तिरोभूत होजाता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानका ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है वह, परभावस्वरूप अज्ञान नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत हो जाता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्रका स्वभावभूत श्वेतस्वभाव तिरोभूत हो जाता है। ज्ञानका चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव

मलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम् ।

अथ कर्मणः स्वयं बन्धत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥१६०॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषा-

---

है वह, परभावस्वरूप कषाय नामक कर्ममलके द्वारा व्याप्त होनेसे तिरोभूत होता है—जैसे परभावस्वरूप मैलसे व्याप्त हुआ श्वेतवस्त्रका स्वभावभूत श्वेत स्वभाव तिरोभूत हो जाता है। इसलिये मोक्षके कारणका (-सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रका-) तिरोधान करनेवाला होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—सम्यक्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है। ज्ञानका सम्यक्त्वरूप परिणमन मिथ्यात्वकर्मसे तिरोभूत होता है; ज्ञानका ज्ञानरूप परिणमन अज्ञानकर्मसे तिरोभूत होता है; और ज्ञानका चारित्ररूप परिणमन कषायकर्मसे तिरोभूत होता है। इसप्रकार मोक्षके कारणभावोंको कर्म तिरोभूत करता है इसलिये उसका निषेध किया गया है।

अब, यह सिद्ध करते हैं कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है:—

गाथा १६०

अन्वयार्थः—[**सः**] वह आत्मा [**सर्वज्ञानदर्शी**] (स्वभावसे) सर्वको जानने-देखनेवाला है तथापि [**निजेन कर्मरजसा**] अपने कर्ममलसे [**अवच्छन्नः**] लिप्त होता हुआ—व्याप्त होता हुआ [**संसार समापन्नः**] संसारको प्राप्त हुआ वह [**सर्वतः**] सब प्रकारसे [**सर्वं**] सर्वको [**न विजानाति**] नहीं जानता।

टीकाः—जो स्वयं ही ज्ञान होनेके कारण विश्वको (-सर्व पदार्थोंको) सामान्य-विशेषतया जाननेके स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि कालसे अपने

यह सर्वज्ञानी-दर्शि भी, निजकर्म रज आच्छादसे।
संसारप्राप्त, न जानता वो सर्वको सब रीतसे ॥१६०॥

पराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानद-ज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते, ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्धः। अतः स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम्।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होनेसे ही, बन्ध-अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपनेको अर्थात् सर्व प्रकारसे सर्व ज्ञेयोंको जाननेवाले अपनेको न जानता हुआ, इसप्रकार प्रत्यक्ष अज्ञानभावसे (-अज्ञानदशामें) रह रहा है; इससे यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। इसलिये, स्वयं बन्धस्वरूप होनेसे कर्मका निषेध किया गया है।

भावार्थः—यहाँ भी 'ज्ञान' शब्दसे आत्मा समझना चाहिये। ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य स्वभावसे तो सबको जानने-देखनेवाला है परन्तु अनादिसे स्वयं अपराधी होनेके कारण कर्मोंसे आच्छादित है, इसलिये वह अपने सम्पूर्ण स्वरूपको नहीं जानता; यों अज्ञानदशामें रह रहा है। इसप्रकार केवलज्ञानस्वरूप अथवा मुक्तस्वरूप आत्मा कर्मोंसे लिप्त होनेसे अज्ञानरूप अथवा बद्धरूप वर्तता है, इसलिये यह निश्चित हुआ कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है। अतः कर्मोंका निषेध किया गया है।

सम्यक्त्वप्रतिबन्धक कर्म, मिथ्यात्व जिनवरने कहा।
उसके उदयसे जीव मिथ्यात्वी बने यह जानना ॥१६१॥
त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक कर्म, अज्ञान जिनवरने कहा।
उसके उदयसे जीव अज्ञानी बने यह जानना ॥१६२॥
चारित्रप्रतिबन्धक कर्म, जिनने कषायोंको कहा।
उसके उदयसे जीव चारित्रहीन हो यह जानना ॥१६३॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम् ।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः ।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम् । ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं

अब, यह बतलाते हैं कि कर्म मोक्षके कारणके तिरोधायिभावस्वरूप (अर्थात् मिथ्यात्वादि भावस्वरूप) हैं:—

गाथा १६१-१६३

अन्वयार्थः—[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्वको रोकनेवाला [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि होता है [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञानको रोकनेवाला [अज्ञानं] अज्ञान है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितम्] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [चारित्रप्रतिनिबद्धः] चारित्रको रोकनेवाला [कषायः] कषाय है ऐसा [जिनवरैः] जिनवरोंने [परिकथितः] कहा है; [तस्य उदयेन] उसके उदयसे [जीवः] जीव [अचारित्रः] अचारित्रवान [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—सम्यक्त्व जो कि मोक्षके कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला मिथ्यात्व है; वह (मिथ्यात्व) तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके मिथ्यादृष्टिपना होता है। ज्ञान जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव है उसे रोकनेवाला अज्ञान है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके अज्ञानीपना होता है। चारित्र जो कि मोक्षका कारणरूप स्वभाव

किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव, तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानित्वम् ।
स्वभावस्य प्रतिबन्धकः किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव,
त्वम् । अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०६॥

है उसे रोकनेवाली कषाय है; वह तो स्वयं कर्म ही है, उसके उदयसे ही ज्ञानके
होता है । इसलिये, स्वयं मोक्षके कारणका तिरोधायिभावस्वरूप होनेसे
गया है ।

भावार्थः—सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षके कारणरूप भाव हैं
रीत मिथ्यात्वादि भाव हैं; कर्म मिथ्यात्वादि भाव-स्वरूप हैं । इसप्रकार कर्म मोक्षके
भावोंसे विपरीत भाव-स्वरूप हैं ।

पहले तीन गाथाओंमें कहा था कि कर्म मोक्षके कारणरूप
घातक है । बादकी एक गाथामें यह कहा है कि कर्म स्वयं ही बन्धस्वरूप है । और इन
तीन गाथाओंमें कहा है कि कर्म मोक्षके कारणरूप भावोंसे विरोधी भावस्वरूप
त्वादिस्वरूप है । इसप्रकार यह बताया है कि कर्म मोक्षके कारणका घातक है,
और बन्धका कारणस्वरूप है, इसलिये निषिद्ध है ।

अशुभ कर्म तो मोक्षका कारण है ही नहीं, प्रत्युत बाधक ही है; इसलिये निषिद्ध
है; परन्तु शुभ कर्म भी कर्म सामान्यमें आजाता है इसलिये वह भी बाधक ही है
निषिद्ध ही है ऐसा समझना चाहिये ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है । जहाँ
कर्मोंका त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पापकी क्या बात है ? (कर्ममात्र त्याज्य है
फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है—ऐसी बातको अवकाश ही कहाँ है ? कर्म
दोनों आगये हैं ।) समस्त कर्मका त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप
परिणमन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ, निष्कर्म अवस्थाके साथ
(उत्कट) रस प्रतिबद्ध है ऐसा ज्ञान, अपने आप दौड़ा चला आता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति यन्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः ।

भावार्थः—कर्मको दूर करके, अपने सम्यक्त्वादिस्वभावरूप परिणमन करनेसे मोक्षका कारणरूप होनेवाला ज्ञान अपने आप प्रगट होता है, तब फिर उसे कौन रोक सकता है ? ।१०६।

अब आशंका उत्पन्न होती है कि—जबतक अविरत सम्यक्दृष्टि इत्यादिके कर्मका उदय रहता है तब तक ज्ञान मोक्षका कारण कैसे हो सकता है ? और कर्म तथा ज्ञान दोनों (-कर्मके निमित्तसे होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञानपरिणति) एक ही साथ कैसे रह सकते हैं ? इसके समाधानार्थ काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जबतक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णताको प्राप्त नहीं होती तबतक कर्म और ज्ञानका एकत्रितपना शास्त्रमें कहा है; उसके एकत्रित रहनेमें कोई भी क्षति या विरोध नहीं है। किन्तु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मामें अवशपनें जो कर्म प्रगट होता है वह तो बन्धका कारण है, और जो एक परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका कारण है—जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनोंकाल परद्रव्य-भावोंसे भिन्न है।)

भावार्थः—जबतक यथाख्यात चारित्र नहीं होता तबतक सम्यक्दृष्टिके दो धाराएँ रहती हैं,—शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनोंके एक साथ रहनेमें कोई भी विरोध नहीं है। जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यक्ज्ञानके परस्पर विरोध है वैसे कर्मसामान्य और ज्ञानके विरोध नहीं है।) ऐसी स्थितिमें कर्म अपना कार्य करता है, और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंशमें शुभाशुभ कर्मधारा है उतने अंशमें कर्मबन्ध होता है और जितने अंशमें ज्ञानधारा है उतने अंशमें कर्मका नाश होता जाता है। विषय कषायके विकल्प या व्रत नियमके विकल्प—अथवा शुद्ध स्वरूपका विचार तक भी—कर्मबन्धका कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्षका कारण है।११०।

अब कर्म और ज्ञानका नयविभाग बतलाते हैं:—

विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च

अर्थः—कर्मनयके आलम्बनमें तत्पर (कर्मनयके पक्षपाती) पुरुष वे ज्ञानको नहीं जानते। ज्ञाननयके इच्छुक (पक्षपाती पुरुष भी डूबे) स्वच्छन्दतासे अत्यन्त मन्द-उद्यमी हैं (—वे स्वरूपप्राप्तिका पुरुषार्थ नहीं करते, विषयकषायमें वर्तते हैं)। वे जीव विश्वके ऊपर तैरते हैं जो कि स्वयं निरन्तर हुए—परिणमते हुए कर्म नहीं करते और कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (रहते हैं)।

भावार्थः—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्रायका निषेध किया है क्योंकि सर्वथा अभिप्राय ही मिथ्यात्व है।

कितने ही लोग परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते नहीं और व्यवहार ज्ञानचारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको मोक्षका कारण जानकर उसमें तत्पर उसका पक्षपात करते हैं। ऐसे कर्मनयके पक्षपाती लोग—जो कि ज्ञानको तो नहीं जानते कर्मनयमें ही खेदखिन्न हैं वे—संसार में डूबते हैं।

और कितने ही लोग आत्मस्वरूपको यथार्थ नहीं जानते तथा सर्वथा मिथ्यादृष्टियोंके उपदेशसे अथवा अपने आप ही अन्तरंगमें ज्ञानका स्वरूप मिथ्या कल्पित करके उसमें पक्षपात करते हैं। वे अपनी परिणतिमें किंचित्मात्र भी परिवर्तन अपनेको सर्वथा अबन्ध मानते हैं और व्यवहार दर्शनज्ञानचारित्रके क्रियाकाण्डको जानकर छोड़ देते हैं। ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती लोग जो कि स्वरूपका कोई पुरुषार्थ और शुभ परिणामोंको छोड़कर स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायोंमें वर्तते हैं वे भी डूबते हैं।

मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए शुभाशुभ कर्मोंको (अर्थात् शुभाशुभ भावोंको) हेय जानते हैं और शुद्ध परिणतिको ही उपादेय जानते हैं। वे मात्र अशुभ ही नहीं किंतु शुभ कर्मोंको भी छोड़कर, स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थित होने तक पुरुषार्थ करते ही रहते हैं। जबतक, पुरुषार्थकी कारण, शुभाशुभ परिणामोंसे छूटकर स्वरूपमें सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता यद्यपि स्वरूपस्थिरताका आन्तरिक-आलम्बन तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है

(मंदाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ।।११२।।

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् ।

आलम्बन लेनेवालेको जो वाह्य आलम्बनरूप होते हैं ऐसे (शुद्ध स्वरूपके विचार आदि) शुभ परिणामोंमें वे जीव हेयबुद्धिसे प्रवर्तते हैं, किन्तु शुभ कर्मोंको निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छन्दतया अशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी बुद्धि कभी नहीं होती। ऐसे एकान्त अभिप्राय रहित जीव कर्मोंका नाश करके, संसारसे निवृत्त होते हैं।१११।

अब पुण्य-पाप अधिकारको पूर्ण करते हुए आचार्यदेव ज्ञानकी महिमा करते हैं:—

अर्थः—मोहरूपी मदिराके पीनेसे, भ्रमरसके भारसे (अतिशयपनेसे) शुभाशुभ कर्मके भेदरूपी उन्मादको जो नचाता है ऐसे समस्त कर्मको अपने बलद्वारा समूल उखाड़कर अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश कर दिया है, जो लीलामात्रसे (—सहज पुरुषार्थसे) विकसित होती जाती है और जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है (जबतक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तबतक ज्ञानज्योति केवलज्ञानके साथ शुद्धनयके बलसे परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होनेपर साक्षात् होती है।)

भावार्थः—आपको (ज्ञानज्योतिको) प्रतिबन्धक कर्म (भावकर्म) जो कि शुभाशुभ भेदरूप होकर नाचता था और ज्ञानको भुला देता था उसे अपनी शक्तिसे उखाड़कर ज्ञानज्योति सम्पूर्ण सामर्थ्य सहित प्रकाशित हुई। वह ज्ञानज्योति अथवा ज्ञानकला केवलज्ञानरूपी परम-कलाका अंश है तथा वह केवलज्ञानके सम्पूर्ण स्वरूपको जानती है और उस ओर प्रगति करती है, इसलिये यह कहा है कि 'ज्ञानज्योतिने केवलज्ञानके साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है।' ज्ञानकला सहजरूपसे विकासको प्राप्त होती जाती है और अन्तमें वह परमकला अर्थात् केवलज्ञान हो जाती है।

टीकाः—पुण्य-पापरूपसे दो पात्रोंके रूपमें नाचनेवाला कर्म एक पात्ररूप होकर (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां
प्ररूपकः तृतीयोंकः ॥

भावार्थः—यद्यपि कर्म सामान्यतया एक ही है तथापि उसने पात्रोंका स्वांग धारण करके रंगभूमिमें प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञानने लिया तब वह एक पात्ररूप होकर रंगभूमिसे बाहर निकल गया, कर दिया।

आश्रय, कारण, रूप, सवादसु भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे,
पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि बन्धभये सुखदुःखकरा रे।
ज्ञान भये दोउ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बन्धके कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे।

॥ तृतीय पुण्य पाप अधिकार समाप्तः ॥

४

आस्रव अधिकार

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

(द्रुतविलंबित)

अथ महामदनिर्भरमंथरं
समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो
जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

—::: दोहा :::—

द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।
भये सिद्ध परमातमा, नमूँ तिनहिं, सुख आस ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि—'अब आस्रव प्रवेश करता है'। जैसे नृत्यमंच पर नृत्यकार स्वांग धारण कर प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ आस्रवका स्वांग है। उस स्वांगको यथार्थतया जाननेवाला सम्यक्ज्ञान है उसकी महिमारूप मंगल करते हैं:—

अर्थः—अब समरांगणमें आये हुए, महामदसे भरे हुए मदोन्मत्त आस्रवको यह दुर्जय ज्ञान-धनुर्धर जीत लेता है, जिसका (-ज्ञानरूपी बाणावलीका) महान् उदय उदार है (अर्थात् आस्रवको जीतनेके लिये जितना पुरुषार्थ चाहिये उतना वो पूरा करता है) और गम्भीर है, (अर्थात् छद्मस्थ जीव जिसका पार नहीं पा सकते) ।

भावार्थः—यहाँ आस्रवने नृत्यमंच पर प्रवेश किया है। नृत्यमें अनेक रसोंका वर्णन होता है इसलिये यहाँ रसवत् अलंकारके द्वारा शांत रसमें वीर रसको प्रधान करके वर्णन किया है कि 'ज्ञानरूपी धनुर्धर आस्रवको जीतता है।' समस्त विश्वको जीतकर मदोन्मत्त हुआ आस्रव संग्रामभूमिमें आकर खड़ा हो गया; किन्तु ज्ञान तो उससे भी अधिक बलवान

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिं पि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति ।
तेषामपि भवति जीवश्च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

योद्धा है इसलिये वह आस्रवको जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश केवलज्ञान उत्पन्न करता है। ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है। ११३।

अब आस्रवका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १६४–१६५

अन्वयार्थः—[मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अविरमणं] अविरमण, [कषाययोगौ च] कषाय और योग—यह आस्रव [संज्ञासंज्ञाः तु] संज्ञ (विकार) भी हैं और असंज्ञ (पुद्गलके विकार) भी हैं। [बहुविधभेदाः] विविध वाले संज्ञ आस्रव–[जीवे] जो कि जीवमें उत्पन्न होते हैं वे–[तस्य एव] [अनन्यपरिणामाः] अनन्य परिणाम हैं। [ते तु] और असंज्ञ आस्रव [ज्ञानावरणाद्यस्य कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मके [कारणं] कारण (निमित्त [भवंति] होते हैं [च] और [तेषाम् अपि] उनका भी (असंज्ञ आस्रवोंके कर्मबन्धका निमित्त होनेमें) [रागद्वेषादिभावकरः जीवः] रागद्वेषादि भाव जीव [भवति] कारण (निमित्त) होता है।

मिथ्यात्व अविरत अरु कषायें, योग संज्ञ असंज्ञ हैं।
ये विविध भेद जु जीवमें, जीवके अनन्य हि भाव हैं ॥१६४॥
अरु वे हि ज्ञानावरनआदिक, कर्मके कारण बनें।
उनका भि कारण जीव बने, जो रागद्वेषादिक करे ॥१६५॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः। मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तं अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवाः। ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते।

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधन्तो ॥१६६॥

टीका:—इस जीवमें राग, द्वेप और मोह—यह आस्रव अपने परिणामके कारणसे होते हैं इसलिये वे जड़ न होनेसे चिदाभास हैं (-अर्थात् जिसमें चैतन्यका आभास है ऐसे हैं, चिद्विकार हैं)।

मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग—यह पुद्गलपरिणाम, ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके आस्रवणके निमित्त होनेसे, वास्तवमें आस्रव हैं; और उनके (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोंके) कर्म-आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्त रागद्वेपमोह हैं—जो कि अज्ञानमय आत्मपरिणाम हैं। इसलिये (मिथ्यात्वादि पुद्गलपरिणामोंके) आस्रवणके निमित्तत्वके निमित्तभूत होनेसे राग-द्वेप-मोह ही आस्रव हैं। और वे तो (-रागद्वेषमोह) अज्ञानीके ही होते हैं यह अर्थमेंसे ही स्पष्ट ज्ञात होता है। (यद्यपि गाथामें यह स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा है तथापि गाथाके ही अर्थमेंसे यह आशय निकलता है।)

भावार्थ:—ज्ञानावरणादि कर्मोके आस्रवणका (-आगमनका) निमित्तकारण तो मिथ्यात्वादिकर्मके उदयरूप पुद्गल-परिणाम हैं, इसलिये वे वास्तवमें आस्रव हैं। और उनके कर्मास्रवणके निमित्तभूत होनेका निमित्त जीवके रागद्वेषमोहरूप (अज्ञानमय) परिणाम हैं इसलिये रागद्वेषमोह ही आस्रव हैं। उन रागद्वेषमोहको चिद्विकार भी कहा जाता है। वे रागद्वेषमोह जीवकी अज्ञान-अवस्थामें ही होते हैं। मिथ्यात्व सहित ज्ञान ही अज्ञान कहलाता है। इसलिये मिथ्यादृष्टिके अर्थात् अज्ञानीके ही रागद्वेषमोहरूप आस्रव होते हैं।

अब यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके उन आस्रवोंका (भावास्रवोंका) अभाव है:—

सद्दृष्टिको आस्रव नहीं, नहिं बन्ध, आस्रवरोध है।
नहिं बाँधता जाने हि पूर्वनिबद्ध जो सत्ताविषैं ॥ १६६ ॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः ।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥ १६६ ॥

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनोऽवश्यमेव निरुध्यंते, ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति,

---

गाथा १६६

अन्वयार्थः—[सम्यग्दृष्टेः तु] सम्यग्दृष्टिके [आस्रवबंधः] आस्रव जिसका निमित्त है ऐसा बन्ध [नास्ति] नहीं है, [आस्रवनिरोधः] (क्योंकि) आस्रवका (भावास्रवका) निरोध है; [तानि] नवीन कर्मोंको [अबध्नन्] नहीं बाँधता हुआ [सः] वह, [संति] सत्तामें रहे हुए [पूर्वनिबद्धानि] पूर्वबद्ध कर्मोंको [जानाति] जानता ही है ।

टीकाः—वास्तवमें ज्ञानीके ज्ञानमय भावोंसे अज्ञानमय भाव अवश्य ही निरुद्ध—अभावरूप होते हैं क्योंकि परस्पर विरोधी भाव एकसाथ नहीं रह सकते; इसलिये अज्ञानमय भावरूप राग-द्वेष-मोह जो कि आस्रवभूत (आस्रवस्वरूप) हैं उनका निरोध होनेसे, ज्ञानीके आस्रवका निरोध होता ही है । इसलिये ज्ञानी, आस्रव जिनका निमित्त है ऐसे (ज्ञानावरणादि) पुद्गलकर्मोंको नहीं बाँधता,—सदा अकर्तृत्व होनेसे नवीन कर्मोंको न बाँधता हुआ सत्तामें रहे हुए पूर्वबद्ध कर्मोंको, स्वयं ज्ञानस्वभाववान् होनेसे, मात्र जानता ही है । (ज्ञानीका ज्ञान ही स्वभाव है, कर्तृत्व नहीं; यदि कर्तृत्व हो तो कर्मको बाँधे, ज्ञातृत्व होनेसे कर्म बन्ध नहीं करता ।)

भावार्थः—ज्ञानीके अज्ञानमय भाव नहीं होते, और अज्ञानमय भाव न होनेसे (अज्ञानमय) रागद्वेषमोह अर्थात् आस्रव नहीं होते और आस्रव न होनेसे नवीन बन्ध नहीं होता । इसप्रकार ज्ञानी सदा ही अकर्ता होनेसे नवीन कर्म नहीं बाँधता और जो पूर्वबद्ध कर्म सत्तामें विद्यमान हैं उनका मात्र ज्ञाता ही रहता है ।

अविरतसम्यग्दृष्टिके भी अज्ञानमय रागद्वेषमोह नहीं होता । जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है वही अज्ञानके पक्षमें माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञानके पक्षमें नहीं है । सम्यग्दृष्टिके सदा ज्ञानमय परिणमन ही होता है । उसको चारित्रमोहके उदयकी बलवत्तासे जो रागादि होता है उसका स्वामित्व उसके नहीं है, वह रागादिको रोग समान जानकर प्रवर्तता है और अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें काटता जाता है । इसलिये

नित्यमेवाकर्तृकत्वान्नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ।

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१६७॥

भावो रागादियुतो जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः ।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायकः केवलम् ॥ १६७ ॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं, कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपल-

---

ज्ञानीके जो रागादि होता है वह विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा ही है । वह आगामी सामान्य संसारका बन्ध नहीं करता, मात्र अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध करता है । ऐसे अल्प बन्धको यहाँ नहीं गिना है ।

इसप्रकार ज्ञानीके आस्रव न होनेसे बन्ध नहीं होता ।

अब, रागद्वेषमोह ही आस्रव है ऐसा नियम करते हैं:—

गाथा १६७

अन्वयार्थः—[जीवेन कृतः] जीवकृत [रागादियुतः] रागादियुक्त [भावः तु] भाव [बंधकः भणितः] बन्धक (नवीन कर्मोंका बन्ध करनेवाला) कहा गया है । [रागादिविप्रमुक्तः] रागादिसे रहित भाव [अबंधकः] बंधक नहीं है, [केवलम् ज्ञायकः] वह मात्र ज्ञायक ही है ।

टीकाः—जैसे लोहचुम्बक-पाषाणके साथ संसर्गसे (लोहेकी सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति करनेके लिये) प्रेरित करता है उसीप्रकार रागद्वेषमोहके साथ मिश्रित होनेसे (आत्मामें) उत्पन्न हुआ अज्ञानमय भाव ही आत्माको कर्म करनेके लिये प्रेरित करता है, और जैसे लोहचुम्बक-पाषाणके असंसर्गसे (सुईमें) उत्पन्न हुआ भाव लोहेकी सुईको (गति न करनेरूप) स्वभावमें ही स्थापित करता है उसीप्रकार रागद्वेषमोहके साथ

रागादियुत जो भाव जीवकृत उसहिको बन्धक कहा ।
रागादिसे प्रविमुक्त ज्ञायक मात्र, बंधक नहिं रहा ॥ १६७ ॥

विवेकज इव आत्मस्वभावमात्रः, अकर्मकरणौत्सुक्यमात्मानं
रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः ।
द्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ।

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥ १६८ ॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्तैः ।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १६८ ॥

यथा खलु पक्वं फलं वृंतात्सकृद्विश्लिष्टं सत् न पुनर्वृंतसंबंधमुपैति

मिश्रित नहीं होनेसे (आत्मामें) उत्पन्न हुआ ज्ञानमय भाव, जिसे कर्म करनेकी उत्सुकता है (अर्थात् कर्म करनेका जिसका स्वभाव नहीं है) ऐसे आत्माको स्वभावमें ही स्थापित है; इसलिये रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही कर्तृत्वमें प्रेरित करता है बन्धक है और रागादिके साथ अमिश्रित भाव स्वभावका प्रकाशक होनेसे मात्र ज्ञायक ही किंचित्मात्र भी बन्धक नहीं है।

भावार्थः—रागादिके साथ मिश्रित अज्ञानमय भाव ही बन्धका कर्ता है रागादिके साथ अमिश्रित ज्ञानमय भाव बन्धका कर्ता नहीं है,—यह नियम है।

अब, रागादिके साथ अमिश्रित भावकी उत्पत्ति बतलाते हैं:—

गाथा १६८

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [पक्वे फले] पके हुए फलके [पतिते] गिरने पर [पुनः] फिरसे [फलं] वह फल [वृन्तैः] उस डंठलके साथ [न बध्यते] नहीं जुड़ता, उसीप्रकार [जीवस्य] जीवके [कर्मभावे] कर्मभाव [पतिते] खिर जानेपर वह [पुनः] फिरसे [उदयम् न उपैति] उत्पन्न नहीं होता (अर्थात् वह कर्मभाव जीवके साथ पुनः नहीं जुड़ता)।

टीकाः—जैसे पका हुआ फल एक बार डंठलसे गिर जाने पर फिर वह उसके साथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं होता, इसीप्रकार कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाला भाव जीवभावसे एकबार

फल पक्व खिरता, पुनः सो संबंध फिर पाता नहीं।
त्यों कर्मभाव खिरा, पुनः जीवमें उदय पाता नहीं॥ १६८॥

कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन् न पुनर्जीवभावमुपैति । एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति ।

* शालिनी *

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ ११४ ॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति—

अलग होने पर फिर जीवभावको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमयभाव उत्पन्न होता है।

भावार्थः—यदि ज्ञान एकबार (अप्रतिपाती भावसे) रागादिकसे भिन्न परिणमित हो तो वह पुनः कभी भी रागादिके साथ मिश्रित नहीं होता। इसप्रकार उत्पन्न हुआ, रागादिके साथ न मिला हुआ ज्ञानमय भाव सदा रहता है। फिर जीव अस्थिरतारूपसे रागादिमें युक्त होता है वह निश्चयदृष्टिसे युक्तता है ही नहीं और उसके जो अल्प बंध होता है वह भी निश्चयदृष्टिसे बंध है ही नहीं, क्योंकि अबद्धस्पृष्टरूपसे परिणमन निरंतर वर्तता ही रहता है। तथा उसे मिथ्यात्वके साथ रहनेवाली प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता और अन्य प्रकृतियाँ सामान्य संसारका कारण नहीं हैं; मूलसे कटे हुए वृक्षके हरे पत्तोंके समान वे प्रकृतियाँ शीघ्र ही सूखनेयोग्य हैं।

अब, 'ज्ञानमय भाव ही भावास्रवका अभाव है' इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जीवका जो रागद्वेषमोह रहित, ज्ञानसे ही रचित भाव है और जो सर्व द्रव्यकर्मके आस्रव समूहको (–अर्थात् थोकबंध द्रव्यकर्मके प्रवाहको) रोकनेवाला है, वह (ज्ञानमय) भाव सर्व भावास्रवके अभावस्वरूप है।

भावार्थः—मिथ्यात्व रहित भाव ज्ञानमय है। वह ज्ञानमय भाव रागद्वेषमोह रहित है और द्रव्यकर्मके प्रवाहको रोकनेवाला है; इसलिये वह भाव ही भावास्रवके अभावस्वरूप है।

संसारका कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिये मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिका अभाव होनेपर, सर्व भावास्रवोंका अभाव हो जाता है यह यहाँ कहा गया है। ११४।

अब, यह बतलाते हैं कि ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः॥ १६९॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः; ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संबद्धा, न तु जीवेन। अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः।

गाथा १६९

अन्वयार्थः—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानीके [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [सर्वे अपि] समस्त [प्रत्ययाः] प्रत्यय [पृथ्वीपिण्डसमानाः] मिट्टीके ढेलेके समान हैं [तु] और [ते] वे [कर्मशरीरेण] (मात्र) कार्मण शरीरके साथ [बद्धाः] बँधे हुए हैं।

टीकाः—जो पहले अज्ञानसे बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं इसलिये ज्ञानीके लिये मिट्टीके ढेलेके समान हैं (—जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); वे तो समस्त ही, स्वभावसे ही मात्र कार्मण शरीरके साथ बंधे हुए हैं—सम्बन्धयुक्त हैं, जीवके साथ नहीं; इसलिये ज्ञानीके स्वभावसे ही द्रव्यास्रवका अभाव सिद्ध है।

भावार्थः—ज्ञानीके जो पहले अज्ञानदशामें बंधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव हैं वे तो मिट्टीके ढेलेकी भाँति पुद्गलमय हैं इसलिये वे स्वभावसे ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप जीवसे भिन्न हैं। उनका बन्ध अथवा संबंध पुद्गलमय कार्मणशरीरके साथ ही है, चिन्मय जीवके साथ नहीं। इसलिये ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव तो स्वभावसे ही है। (और ज्ञानीके भावास्रवका अभाव होनेसे, द्रव्यास्रव नवीन कर्मोंके आस्रवणके कारण नहीं होते इसलिये इस अपेक्षासे भी ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं॥ १६९॥

(उपजाति)

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो
द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो
निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ११५ ॥

कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समए समए जम्हा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥ १७० ॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम् ।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥ १७० ॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु तस्यापि द्रव्य-

---

अर्थः—भावास्रवोंके अभावको प्राप्त और द्रव्यास्रवोंसे तो स्वभावसे ही भिन्न ज्ञानी—जो कि सदा एक ज्ञानमय भाववाला है—निरास्रव ही है, मात्र एक ज्ञायक ही है।

भावार्थः—ज्ञानीके रागद्वेषमोहस्वरूप भावास्रवका अभाव हुआ है और वह द्रव्यास्रवसे तो सदा ही स्वयमेव भिन्न ही है क्योंकि द्रव्यास्रव पुद्गलपरिणामस्वरूप है और ज्ञानी चैतन्यस्वरूप है। इसप्रकार ज्ञानीके भावास्रव तथा द्रव्यास्रवका अभाव होनेसे वह निरास्रव ही है। ११५।

अब यह प्रश्न होता है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १७०

अन्वयार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [चतुर्विधाः] चार प्रकारके द्रव्यास्रव [ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम्] ज्ञानदर्शनगुणोंके द्वारा [समये समये] समय समय पर [अनेकभेदं] अनेक प्रकारका कर्म [बध्नंति] बाँधते हैं [तेन] इसलिये [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबंधः इति] अबन्ध है।

टीकाः—पहले, ज्ञानी तो आस्रवभावकी भावनाके अभिप्रायके अभावके कारण

चउविधास्रव समय समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहिंसे ।
बहु भेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानि बंधक नाहिं है ॥ १७० ॥

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १६९

ये खलु पूर्वमज्ञानेन बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्माणशरीरेणैव संबद्धा, न तु जीवेन । अतः एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः ।

गाथा १६९

अन्वयार्थः—[तस्य ज्ञानिनः] उस ज्ञानीके [पूर्वनिबद्धाः तु] [सर्वे अपि] समस्त [प्रत्ययाः] प्रत्यय [पृथ्वीपिण्डसमानाः] मिट्टीके समान हैं [तु] और [ते] वे [कर्मशरीरेण] (मात्र) कार्मण शरीरके [बद्धाः] बंधे हुए हैं ।

टीकाः—जो पहले अज्ञानसे बँधे हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं, वे अन्यद्रव्यस्वरूप प्रत्यय अचेतन पुद्गलपरिणामवाले हैं इसलिये लिये मिट्टीके ढेलेके समान हैं (—जैसे मिट्टी आदि पुद्गलस्कन्ध हैं वैसे ही यह प्रत्यय हैं); तो समस्त ही, स्वभावसे ही मात्र कार्मण शरीरके साथ बंधे हुए हैं—सम्बन्धयुक्त हैं, साथ नहीं; इसलिये ज्ञानीके स्वभावसे ही द्रव्यास्रवका अभाव सिद्ध है ।

भावार्थः—ज्ञानीके जो पहले अज्ञानदशामें बंधे हुए मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रवभूत [illegible] हैं वे तो मिट्टीके ढेलेकी भाँति पुद्गलमय हैं इसलिये वे स्वभावसे ही अमूर्तिक चैतन्यस्वरूप [illegible] भिन्न हैं । उनका बन्ध अथवा संबंध पुद्गलमय कार्मणशरीरके साथ ही है, चिन्मय जीवके नहीं । इसलिये ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव तो स्वभावसे ही है । (और ज्ञानीके [illegible] अभाव होनेसे, द्रव्यास्रव नवीन कर्मोंके आस्रवणके कारण नहीं होते इसलिये इस [illegible] ज्ञानीके द्रव्यास्रवका अभाव है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानिके ।
वे पृथ्विपिंड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं ॥ १६९ ॥

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १७२ ॥

यो हि ज्ञानी स [1]बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमाना-

---

वह विपरिणामको प्राप्त होता है। इसलिये ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्प दशामें हो या निर्विकल्प अनुभवदशामें हो—उसे यथाख्यातचारित्र-अवस्था होनेसे पूर्व अवश्य ही रागभावका सद्भाव होता है; और राग होनेसे बंध भी होता है। इसलिये ज्ञानगुणके जघन्य भावको बन्धका हेतु कहा गया है।

अब पुनः प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुणका जघन्य भाव बन्धका कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है ? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[यत्] क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन–ज्ञान–चारित्र [जघन्यभावेन] जघन्य भावसे [परिणमते] परिणमन करते हैं [तेन तु] इसलिये [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्मणा] पुद्गलकर्मसे [बध्यते] बँधता है।

टीकाः—जो वास्तवमें ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावोंका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है। परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—वह ज्ञानी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्य भावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरण करता है तबतक उसे भी, जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा (जघन्य भाव अन्य प्रकारसे नहीं बनता इसलिये) जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे, पुद्गलकर्मका बन्ध

---

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्मसे बंधात है॥ १७२॥

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु वज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १७२ ॥

यो हि ज्ञानी स [1]बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमाना-

वह विपरिणामको प्राप्त होता है। इसलिये ऐसा अनुमान भी हो सकता है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा सविकल्प दशामें हो या निर्विकल्प अनुभवदशामें हो—उसे यथाख्यातचारित्र-अवस्था होनेसे पूर्व अवश्य ही रागभावका सद्भाव होता है; और राग होनेसे बंध भी होता है। इसलिये ज्ञानगुणके जघन्य भावको बन्धका हेतु कहा गया है।

अब पुनः प्रश्न होता है कि—यदि ऐसा है (अर्थात् ज्ञानगुणका जघन्य भाव बन्धका कारण है) तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे है? उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[यत्] क्योंकि [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [जघन्यभावेन] जघन्य भावसे [परिणमते] परिणमन करते हैं [तेन तु] इसलिये [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकारके [पुद्गलकर्मणा] पुद्गलकर्मसे [बध्यते] बँधता है।

टीकाः—जो वास्तवमें ज्ञानी है, उसके बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावोंका अभाव है, इसलिये वह निरास्रव ही है। परन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—वह ज्ञानी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्य भावसे ही ज्ञानको देखता, जानता और आचरण करता है तबतक उसे भी, जघन्यभावकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा (जघन्य भाव अन्य प्रकारसे नहीं बनता इसलिये) जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे, पुद्गलकर्मका बन्ध

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।

चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्य भाव जु परिणमे।
उससे हि ज्ञानी विविध पुद्गलकर्मसे बंधात है ॥ १७२ ॥

बुद्धिपूर्वककलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् ।
ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो
सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिंदन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-
न्नात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥

होता है। इसलिये तबतक ज्ञानको देखना, जानना और आचरण
ज्ञानका जितना पूर्ण भाव है उतना देखने, जानने और आचरणमें भली भाँति
लेकर साक्षात् ज्ञानी होता हुआ (वह आत्मा) सर्वथा निरास्रव ही होता है।

भावार्थः—ज्ञानीके बुद्धिपूर्वक (अज्ञानमय) रागद्वेषमोहका अभाव
निरास्रव ही है। परन्तु जबतक क्षायोपशमिक ज्ञान है तबतक वह ज्ञानी ज्ञानको
भावसे न तो देख सकता है, न जान सकता है और न आचरण कर सकता है;
भावसे देख सकता है, जान सकता है और आचरण कर सकता है; इससे
है कि उस ज्ञानीके अभी अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकका विपाक (चारित्रमोहसम्बन्धी
विद्यमान है और इससे उसके बंध भी होता है। इसलिये उसे यह उपदेश है
केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक निरंतर ज्ञानका ही ध्यान करना चाहिये, ज्ञानको ही
चाहिये, ज्ञानको ही जानना चाहिये और ज्ञानका ही आचरण करना चाहिये। इसी
दर्शन-ज्ञान-चारित्रका परिणमन बढ़ता जाता है और ऐसा करते करते केवलज्ञान प्रगट
है। जब केवलज्ञान प्रगटता है तबसे आत्मा साक्षात् ज्ञानी है और सर्व प्रकारसे

जबतक क्षायोपमिक ज्ञान है तबतक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोहका) राग
भी, बुद्धिपूर्वक रागके अभावकी अपेक्षासे ज्ञानीके निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक
रागका अभाव होनेपर तथा केवलज्ञान प्रगट होनेपर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह
विवक्षाकी विचित्रता है। अपेक्षासे समझनेपर यह सर्व कथन यथार्थ है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आत्मा जब ज्ञानी होता है तब, स्वयं अपने समस्त बुद्धिपूर्वक रागको
निरंतर छोड़ता हुआ अर्थात् न करता हुआ, और जो अबुद्धिपूर्वक राग है उसे भी जीतनेके लिये
बारंबार (ज्ञानानुभवनरूप) स्वशक्तिको स्पर्श करता हुआ और (इसप्रकार) समस्त परवृत्तिको—
परपरिणतिको—उखाड़ता हुआ ज्ञानके पूर्णभावरूप होता हुआ, वास्तवमें सदा निरास्रव है।

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥ १७३
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥ १७४
संता दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेह पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥ १७५
एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो भणिदो ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥ १७३ ॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानवरणादिभावैः ॥ १७४ ॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७५॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः ।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १७६ ॥

गाथा १७३–१७६

अन्वयार्थः—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [सर्वे] समस्त [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्वबद्ध [प्रत्ययाः] प्रत्यय (द्रव्यास्रव) [संति] सत्तारूपमें विद्यमान है

जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सद्दृष्टिके ।
उपयोगके प्रायोग्य बंधन, कर्मभावोंसे करे ॥ १७३ ॥
अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध होय उस विध बाँधते ।
ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु सप्त-अष्ट प्रकारके ॥ १७४ ॥
सत्ता विषैं वे निरुपभोग्य हि, बालिका ज्यों पुरुषको ।
उपभोग्य बनते वे हि बाँधें, यौवना ज्यों पुरुषको ॥१७५॥
इस हेतुसे सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबंधक कहे ।
आसरवभावअभावमें प्रत्यय नहीं बंधक कहे ॥ १७६ ॥

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात् उपभोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्य-

---

[**उपयोगप्रायोग्यं**] उपयोगके प्रयोगानुसार, [**कर्मभावेन**] कर्मभावके द्वारा (–रागादिके द्वारा) [**बध्नंति**] नवीन बंध करते हैं। वे प्रत्यय, [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य [**भूत्वा**] होकर फिर [**यथा**] जैसे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य [**भवंति**] होते हैं [**तथा**] उसीप्रकार, [**ज्ञानावरणादिभावैः**] ज्ञानावरणादि भावसे [**सप्ताष्टविधानि भूतानि**] सात-आठ प्रकारसे होनेवाले कर्मोंको [**बध्नाति**] बाँधते हैं [**संति तु**] सत्ता-अवस्थामें वे [**निरुपभोग्यानि**] निरुपभोग्य हैं अर्थात् भोगनेयोग्य नहीं हैं–[**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगतमें [**बाला स्त्री**] बाल स्त्री [**पुरुषस्य**] पुरुषके लिये निरुपभोग्य है। [**यथा**] जैसे [**तरुणी स्त्री**] तरुण स्त्री-युवती [**नरस्य**] पुरुषको [**बध्नाति**] बांध लेती है, उसीप्रकार [**तानि**] वे [**उपभोग्यानि**] उपभोग्य अर्थात् भोगने योग्य होनेपर बन्धन करते हैं। [**एतेन तु कारणेन**] इस कारणसे [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टिको [**अबंधकः**] अबन्धक [**भणितः**] कहा है, क्योंकि [**आस्रवभावाभावे**] आस्रवभावके अभावमें [**प्रत्ययाः**] प्रत्ययोंको [**बंधकाः**] (कर्मोंका) बन्धक [**न भणिताः**] नहीं कहा है।

टीकाः—जैसे पहले तो तत्कालकी परिणीत बाल स्त्री अनुपभोग्य है किन्तु यौवनको प्राप्त वह पहलेकी परिणीत स्त्री यौवनावस्थामें उपभोग्य होती है और जिसप्रकार उपभोग्य हो तदनुसार वह पुरुषके रागभावके कारण ही पुरुषको बंधन करती है—वशमें करती है, इसीप्रकार जो पहले तो सत्तावस्थामें अनुपभोग्य हैं किन्तु विपाक-अवस्थामें उपभोगयोग्य होते हैं ऐसे पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय होनेपर भी वे जिसप्रकार उपभोग्य हों तदनुसार (अर्थात् उपयोगके प्रयोगानुसार), कर्मोदयके कार्यरूप जीवभावके सद्भावके कारण ही, बन्धन करते हैं। इसलिये ज्ञानीके यदि पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय विद्यमान हैं, तो भले रहें; तथापि वह (ज्ञानी) तो निरास्रव ही है; क्योंकि कर्मोदयका कार्य जो रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव है उसके अभावमें द्रव्यप्रत्यय बंधके कारण नहीं हैं। (जैसे यदि पुरुषको रागभाव हो तो ही यौवनावस्थाको प्राप्त स्त्री उसे वश कर सकती है इसीप्रकार जीवके आस्रवभाव हो तब ही उदयप्राप्त द्रव्यप्रत्यय नवीन बंध कर सकते हैं।)

भावार्थः—द्रव्यास्रवोंके उदय और जीवके रागद्वेषमोहभावका निमित्त-नैमित्तिकभाव है। द्रव्यास्रवोंके उदयमें युक्त हुये बिना जीवके भावास्रव नहीं हो सकता और इसलिये बंध भी नहीं हो सकता। द्रव्यास्रवोंका उदय होने पर जीव जैसे उसमें युक्त हो अर्थात् जिस

प्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति, ततो द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति, संतु; तथापि स तु निरास्रव एव, रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् ।

प्रकार उसे भावास्रव हो उसीप्रकार द्रव्यास्रव नवीन बन्धके कारण होते हैं । स्रव न करे तो उसके नवीन बंध नहीं होता ।

सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्वका और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय न प्रकारके भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी भी नहीं होता । (क्षायिक सम्यक्दृष्टिके सत्तामेंसे मिथ्यात्वका क्षय होते समय ही बंधी कषायका तथा तत्सम्बन्धी अविरति और योगभावका भी क्षय होगया होता है उसे उस प्रकारका बन्ध नहीं होता; औपशमिक सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व तथा कषाय मात्र उपशममें—सत्तामें—ही होनेसे सत्तामें रहा हुआ द्रव्य उदयमें आवे उसप्रकारके बन्धका कारण नहीं होता, और क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टिको भी सम्यक्त्वमोह- नीयके अतिरिक्त छह प्रकृतियाँ विपाकमें (उदयमें) नहीं आतीं इसलिये उसप्रकारका बन्ध नहीं होता ।)

अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादिके जो चारित्रमोहका उदय विद्यमान है उसमें जिसप्रकार जीव युक्त होता है उसीप्रकार उसे नवीन बंध होता है; इसलिये गुणस्थानोंके वर्णनमें अविरत- सम्यक्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें अमुक अमुक प्रकृतियोंका बन्ध कहा है । किन्तु यह बन्ध अल्प है इसलिये उसे सामान्य संसारकी अपेक्षासे बन्धमें नहीं गिना जाता । सम्यक्दृष्टि चारित्रमोहके उदयमें स्वामित्वभावसे युक्त नहीं होता, वह मात्र अस्थिरतारूपसे युक्त होता है; और अस्थिरतारूप युक्तता निश्चयदृष्टिमें युक्तता ही नहीं है । इसलिये सम्यक्दृष्टिके राग- द्वेषमोहका अभाव कहा गया है । जबतक जीव कर्मका स्वामित्व रखकर कर्मोदयमें परिणमित होता है तबतक ही वह कर्मका कर्ता कहलाता है; उदयका ज्ञाताद्रष्टा होकर परके निमित्तसे मात्र अस्थिरतारूप परिणमित होता है तब कर्ता नहीं किन्तु ज्ञाता ही है । इस अपेक्षासे सम्यक्दृष्टि होनेके बाद चारित्रमोहके उदयरूप परिणमित होते हुए भी उसे ज्ञानी और अबन्धक कहा गया है । जबतक मिथ्यात्वका उदय है और उसमें युक्त होकर जीव रागद्वेषमोहभावसे परिणमित होता है तबतक ही उसे अज्ञानी और बन्धक कहा जाता है । इसप्रकार ज्ञानी-अज्ञानी और बंध-अबंधका यह भेद जानना । और शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेके अभ्यासद्वारा केवलज्ञान प्रगट होनेसे जब जीव साक्षात् सम्पूर्णज्ञानी होता है तब वह सर्वथा निरास्रव हो जाता है यह पहले कहा जा चुका है ।

* मालिनी *

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥ ११८ ॥

(अनुष्टुभ्)

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य ते हि बंधस्य कारणम् ॥ ११९ ॥

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यद्यपि अपने अपने समयका अनुसरण करनेवाले (अपने अपने समयमें उदयमें आनेवाले) पूर्वबद्ध (पहले अज्ञान-अवस्थामें बँधे हुवे) द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी सत्ताको नहीं छोड़ते (वे सत्तामें रहते हैं), तथापि सर्व रागद्वेषमोहका अभाव होनेसे ज्ञानीके कर्मबन्ध कदापि अवतार नहीं धरता—नहीं होते।

भावार्थः—ज्ञानीके भी पहले अज्ञान-अवस्थामें बाँधे हुए द्रव्यास्रव सत्ता-अवस्थामें विद्यमान हैं और वे अपने उदयकालमें उदयमें आते रहते हैं। किन्तु वे द्रव्यास्रव ज्ञानीके कर्म-बन्धके कारण नहीं होते, क्योंकि ज्ञानीके समस्त रागद्वेषमोहभावोंका अभाव है। यहाँ समस्त रागद्वेषमोहका अभाव बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोहकी अपेक्षासे समझना चाहिये। ११८।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेवाली आगामी दो गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—क्योंकि ज्ञानियोंके रागद्वेषमोहका असम्भव है इसलिये उनके बन्ध नहीं है; कारण कि वे (रागद्वेषमोह) ही बंधका कारण है। ११९।

अब इस अर्थकी समर्थक दो गाथाऐं कहते हैं:—

नहिं रागद्वेष, न मोह—ये आश्रव नहीं सद्दृष्टिके ।
इससे हि आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतू बने ॥ १७७ ॥
हेतू चतुर्विध कर्म अष्ट प्रकारका कारण कहा ।
उनका हि रागादिक कहा, रागादि नहिं वहाँ बंध ना ॥१७८॥

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः
न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति, द्रव्यप्रत्ययानां

गाथा १७७–१७८

अन्वयार्थः—[रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और
[आस्रवाः] यह आस्रव [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [न संति]
[तस्मात्] इसलिये [आस्रवभावेन विना] आस्रवभावके बिना [
द्रव्यप्रत्यय [हेतवः] कर्मबन्धके कारण [न भवंति] नहीं होते ।

[चतुर्विकल्पः हेतुः] (मिथ्यात्वादि) चार प्रकारके हेतु [
आठ प्रकारके कर्मोंको [कारणं] कारण [भणितम्] कहे गये हैं, [च]
[तेषाम् अपि] उनके भी [रागादयः] (जीवके) रागादि भाव कारण
[तेषाम् अभावे] इसलिये उनके अभावमें [न बध्यंते] कर्म नहीं बँधते । (
सम्यक्दृष्टिके बंध नही है ।)

टीका:—सम्यक्दृष्टिके रागद्वेषमोह नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टित्वकी
अनुपपत्ति है (अर्थात् रागद्वेषमोहके अभावके बिना सम्यक्दृष्टित्व नहीं हो
रागद्वेषमोहके अभावमें उसे (सम्यक्दृष्टिको) द्रव्यप्रत्यय पुद्गलकर्मका (
बंधनका) हेतुत्व धारण नहीं करते क्योंकि द्रव्यप्रत्ययोंके पुद्गलकर्मके हेतुत्वके हेतु
इसलिये हेतुके हेतुके अभावमें हेतुमान्‌का (अर्थात् कारणका जो कारण है उसके
कार्यका) अभाव प्रसिद्ध है इसलिये ज्ञानीके बंध नहीं है ।

भावार्थः—यहाँ, रागद्वेषमोहके अभावके बिना सम्यग्दृष्टित्व नहीं हो
ऐसा अविनाभावी नियम बताया है सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिका अभाव
चाहिये । यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिको ही रागादि माना गया है । सम्यक्दृष्टि
बाद जो कुछ चारित्रमोहसम्बन्धी राग रह जाता है उसे यहाँ नहीं लिया है; वह
है । इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके भावास्रवका अर्थात् रागद्वेषमोहका अभाव है । द्रव्यास्रवोंको
बन्धका हेतु होनेमें हेतुभूत जो रागद्वेषमोह हैं उनका सम्यक्दृष्टिके अभाव होनेसे

रागादिहेतुत्वात् । ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः ।

(वसंततिलका)

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-
मैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः
पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारम् ॥ १२० ॥

द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते, और द्रव्यास्रव बन्धके हेतु नहीं होते इसलिये सम्यक्दृष्टिके—ज्ञानीके—बन्ध नहीं होता ।

सम्यक्दृष्टिको ज्ञानी कहा जाता है वह योग्य ही है । 'ज्ञानी' शब्द मुख्यतया तीन अपेक्षाओंको लेकर प्रयुक्त होता है:—(१) प्रथम तो, जिसे ज्ञान हो वह ज्ञानी कहलाता है; इसप्रकार सामान्य ज्ञानकी अपेक्षासे सभी जीव ज्ञानी हैं । (२) यदि सम्यक् ज्ञान और मिथ्या ज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाये तो सम्यग्दृष्टिको सम्यग्ज्ञान होता है इसलिये उस अपेक्षासे वह ज्ञानी है, और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है । (३) सम्पूर्ण ज्ञान और अपूर्ण ज्ञानकी अपेक्षासे विचार किया जाये तो केवली भगवान ज्ञानी हैं और छद्मस्थ अज्ञानी हैं क्योंकि सिद्धान्तमें पाँच भावोंका कथन करने पर बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है । इसप्रकार अनेकान्तसे अपेक्षाके द्वारा विधिनिषेध निर्बाधरूपसे सिद्ध होता है; सर्वथा एकान्तसे कुछ भी सिद्ध नहीं होता ।

अब, ज्ञानीको बन्ध नहीं होता यह शुद्धनयका माहात्म्य है इसलिये शुद्धनयकी महिमा दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—उद्धत ज्ञान (—जो कि किसीके दबाये नहीं दब सकता ऐसा उन्नत ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे शुद्धनयमें रहकर अर्थात् शुद्धनयका आश्रय लेकर जो सदा ही एकाग्रताका अभ्यास करते हैं वे, निरन्तर रागादिसे रहित चित्तवाले वर्तते हुए, बन्धरहित समयके सारको (अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको) देखते हैं—अनुभव करते हैं ।

भावार्थः—यहाँ शुद्धनयके द्वारा एकाग्रताका अभ्यास करनेको कहा है । 'मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ'—ऐसा जो आत्मद्रव्यका परिणमन वह शुद्धनय । ऐसे परिणमनके कारण वृत्ति ज्ञानकी ओर उन्मुख होती रहे और स्थिरता बढ़ती जाये सो एकाग्रताका अभ्यास ।

शुद्धनय श्रुतज्ञानका अंश है और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है इसलिये इस अपेक्षासे शुद्धनयके द्वारा होनेवाला शुद्ध स्वरूपका अनुभव भी परोक्ष है । और वह अनुभव एकदेश शुद्ध है इस अपेक्षासे उसे व्यवहारसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है । साक्षात् शुद्धनय तो केवलज्ञान होनेपर होता है । १२० ।

(वसन्ततिलका)

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥ १२१ ॥

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो
मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९ ॥

अब यह कहते हैं कि जो शुद्धनयसे च्युत होते हैं वे कर्म बाँधते हैं:—

अर्थः—जगत्‌में जो शुद्धनयसे च्युत होकर पुनः रागादिके सम्बन्धको प्राप्त ऐसे जीव, जिन्होंने ज्ञानको छोड़ा है ऐसे होते हुए, पूर्वबद्ध द्रव्यास्रवोंके द्वारा धारण करते हैं (-कर्मोंको बांधते हैं)—जो कि कर्मबंध अनेक प्रकारके विकल्प जालको है (अर्थात् जो कर्मबन्ध अनेक प्रकारका है)।

भावार्थ:—शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे परिणमनसे छूटकर अशुद्धरूप परिणमित होना अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाना। ऐसा होनेपर, जीवके मिथ्यात्व संबंधी रागादिक उत्पन्न होते हैं, जिससे द्रव्यास्रव कर्मबन्धके कारण होते हैं और इसलिये कर्म बँधते हैं। इसप्रकार यहाँ शुद्धनयसे च्युत होनेका अर्थ शुद्धताकी प्रतीतिसे (सम्यक्त्वसे) च्युत होना समझना चाहिये। यहाँ उपयोगकी अपेक्षा गौण है, शुद्धनयसे च्युत होना अर्थात् शुद्ध उपयोगसे च्युत होना ऐसा अर्थ मुख्य नहीं है; क्योंकि शुद्धोपयोगरूप रहनेका समय अल्प रहता है इसलिये मात्र अल्प काल शुद्धोपयोगरूप रहकर और फिर उससे छूटकर ज्ञान अन्य ज्ञेयोंमें उपयुक्त हो तो भी मिथ्यात्वके बिना जो रागका अंश है वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है इसलिये ज्ञानीके मात्र अल्प बन्ध होता है और अल्प बन्ध संसारका कारण नहीं है। इसलिये यहाँ उपयोगकी अपेक्षा मुख्य नहीं है।

अब यदि उपयोगकी अपेक्षा ली जाये तो इसप्रकार अर्थ घटित होता है:—यदि जीव शुद्धस्वरूपके निर्विकल्प अनुभवसे छूटे परन्तु सम्यक्त्वसे न छूटे तो उसे चारित्रमोहके रागसे कुछ बन्ध होता है। यद्यपि वह बन्ध अज्ञानके पक्षमें नहीं है तथापि वह बन्ध तो है ही। इसलिये उसे मिटानेके लिये सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको शुद्धनयसे न छूटनेका अर्थात् शुद्धोपयोगमें लीन रहनेका उपदेश है। केवलज्ञान होनेपर साक्षात् शुद्धनय होता है। १२१।

जनसे ग्रसित आहार ज्यों, उदराग्निके संयोगसे।
बहुभेद मांस, वसा रु, रुधिरादि भावों परिणमे ॥ १७९ ॥

तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥ १८० ॥

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम् ।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥ १७९ ॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं ये बद्धाः प्रत्यया बहुविकल्पम् ।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ १८० ॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य *हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञाना-

---

अब इसी अर्थको दृष्टान्तद्वारा दृढ़ करते हैं:—

गाथा १७९–१८०

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**पुरुषेण**] पुरुषके द्वारा [**गृहीतः**] ग्रहण किया हुआ [**आहारः**] जो आहार है [**सः**] वह [**उदराग्निसंयुक्तः**] उदराग्निसे संयुक्त होता हुआ [**अनेकविधम्**] अनेक प्रकार [**मांसवसारुधिरादीन्**] मांस, चर्बी, रुधिर आदि [**भावान्**] भावरूप [**परिणमति**] परिणमन करता है, [**तथा तु**] इसीप्रकार [**ज्ञानिनः**] ज्ञानियोंके [**पूर्वं बद्धाः**] पूर्वबद्ध [**ये प्रत्ययाः**] जो द्रव्यास्रव हैं [**ते**] वे [**बहुविकल्पम्**] अनेक प्रकारके [**कर्म**] कर्म [**बध्नंति**] बाँधते हैं;—[**ते जीवाः**] ऐसे जीव [**नयपरिहीनाः तु**] शुद्धनयसे च्युत हैं। (ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत होवे तो उसके कर्म बँधते हैं।)

टीकाः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादिभावोंका सद्भाव होता है इसलिये, पूर्वबद्ध द्रव्यप्रत्यय, अपने कर्मबन्धके हेतुत्वके हेतुका सद्भाव होनेपर हेतुमान भावका (-कार्यभावका) अनिवार्यत्व होनेसे, ज्ञानावरणादि भावसे पुद्गलकर्मको बंधरूप परिणमित करते हैं। और यह अप्रसिद्ध भी नहीं है (अर्थात् इसका दृष्टान्त जगत्में प्रसिद्ध है—सर्व ज्ञात है); क्योंकि मनुष्यके द्वारा ग्रहण किये गये आहारको जठराग्नि रस, रुधिर, माँस इत्यादिरूपमें परिणमित करती है यह देखा जाता है।

---

* रागादिसद्भावे।

त्यों ज्ञानीके भी पूर्वकालनिबद्ध जो प्रत्यय रहे।
बहुभेद बांधे कर्म, जो जीव शुद्धनयपरिच्युत बने ॥ १८० ॥

वरणादिभावैः पुद्गलकर्म बंधं परिणमयंति । न चैतदप्रसिद्धं, राग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकारणस्य दर्शनात् ।

(अनुष्टुभ्)

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि ॥ १२२ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ॥ १२३ ॥

भावार्थः—जब ज्ञानी शुद्धनयसे च्युत हो तब उसके रागादिभावोंका सद्भाव है, रागादिभावोंके निमित्तसे द्रव्यास्रव अवश्य कर्मबन्धके कारण होते हैं कार्मणवर्गणा बंधरूप परिणमित होती है। टीकामें जो यह कहा है कि "द्रव्यप्रत्यय कर्मको बंधरूप परिणमित कराते हैं", सो निमित्तकी अपेक्षासे कहा है। वहाँ यह चाहिये कि "द्रव्यप्रत्ययोंके निमित्तभूत होनेपर कार्मणवर्गणा स्वयं बंधरूप परिणमित होती है।

अब इस सर्व कथनका तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागनेयोग्य नहीं है; क्योंकि उसके अत्यागसे (कर्मका) बन्ध नहीं होता और उसके त्यागसे बन्ध ही होता है। १२२।

'शुद्धनय त्याग करनेयोग्य नहीं है' इस अर्थको दृढ़ करनेवाला काव्य पुनः कहते हैं—

अर्थः—धीर (चलाचलता रहित) और उदार (सर्व पदार्थोंमें विस्तारयुक्त) जिसकी महिमा है ऐसे अनादिनिधन ज्ञानमें स्थिरताको बाँधता हुआ (अर्थात् ज्ञानमें परिणतिको स्थिर रखता हुआ) शुद्धनय—जो कि कर्मोंका समूल नाश करनेवाला है—पवित्र धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) पुरुषोंके द्वारा कभी भी छोड़नेयोग्य नहीं है। शुद्धनयमें स्थित वे पुरुष, बाहर निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणोंके समूहको (अर्थात् कर्मके निमित्तसे परोन्मुख जानेवाली ज्ञानकी विशेष व्यक्तियोंको) अल्पकालमें ही समेटकर, पूर्ण, ज्ञानघनके पुञ्जरूप, एक, अचल, शांत तेजको—तेजःपुञ्जको देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।

भावार्थः—शुद्धनय, ज्ञानके समस्त विशेषोंको गौण करके तथा परनिमित्तसे होनेवाले समस्त भावोंको गौण करके, आत्माको शुद्ध, नित्य अभेदरूप, एक चैतन्यमात्र ग्रहण

(मंदाक्रांता)

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।
स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४ ॥

करता है और इसलिये परिणति शुद्धनयके विषयस्वरूप चैतन्यमात्र शुद्ध आत्मामें एकाग्र—स्थिर—होती जाती है। इसप्रकार शुद्धनयका आश्रय लेनेवाले जीव बाहर निकलती हुई ज्ञानकी विशेष व्यक्तताओंको अल्पकालमें ही समेटकर, शुद्धनयमें (आत्माकी शुद्धताके अनुभवमें) निर्विकल्पतया स्थिर होनेपर अपने आत्माको सर्व कर्मोंसे भिन्न, केवलज्ञानस्वरूप, अमूर्तिक पुरुषाकार, वीतराग ज्ञानमूर्तिस्वरूप देखते हैं और शुक्लध्यानमें प्रवृत्ति करके अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रगट करते हैं। शुद्धनयका ऐसा माहात्म्य है। इसलिये श्री गुरुओंका यह उपदेश है कि जबतक शुद्धनयके अवलम्बनसे केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक सम्यग्दृष्टि जीवोंको शुद्धनयका त्याग नहीं करना चाहिये। १२३।

अब, आस्रवोंका सर्वथा नाश करनेसे जो ज्ञान प्रगट हुआ उस ज्ञानकी महिमाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसका उद्योत (प्रकाश) नित्य है ऐसी किसी परम वस्तुको अन्तरङ्गमें देखनेवाले पुरुषको, रागादि आस्रवोंका शीघ्र ही सर्व प्रकार नाश होनेसे, यह ज्ञान प्रगट हुआ—कि जो ज्ञान अत्यंतात्यंत (-अनन्तानन्त) विस्तारको प्राप्त निजरसके प्रसारसे लोकके अंततकके सर्व भावोंको व्याप्त कर देता है अर्थात् सर्व पदार्थोंको जानता है, वह ज्ञान प्रगट हुआ तभीसे सदाकाल अचल है अर्थात् प्रगट होनेके पश्चात् सदा ज्योंका त्यों ही बना रहता है—चलायमान नहीं होता, और वह ज्ञान अतुल है अर्थात् उसके समान दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थः—जो पुरुष अंतरंगमें चैतन्यमात्र परम वस्तुको देखता है और शुद्धनयके आलम्बन द्वारा उसमें एकाग्र होता जाता है उस पुरुषको तत्काल सर्व रागादिक आस्रवभावोंका सर्वथा अभाव होकर, सर्व अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थोंको जाननेवाला निश्चल, अतुल केवलज्ञान प्रगट होता है। वह ज्ञान सबसे महान् है, उसके समान दूसरा कोई नहीं है। १२४।

टीकाः—इसप्रकार आस्रव (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया।

इति आस्रवो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां
प्ररूपकः चतुर्थोंकः ॥

भावार्थः—रंगभूमिमें आस्रवका स्वांग आया था उसे ज्ञानने उसके जान लिया इसलिये वह बाहर निकल गया ।

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव अज्ञानमयी यह भाव जताये;
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थावे,
काय नवाय नमूं चित लाय कहूं जय पाय लहूं मन भावे ।

● चतुर्थ आस्रव अधिकार समाप्तः ●

संवर अधिकार

अथ प्रविशति संवरः ।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

—:: दोहा ::—

मोहरागरुष दूरि करि, समिति गुप्ति व्रत पारि ।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि, मन धारि ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब संवर प्रवेश करता है ।" आस्रवके रंगभूमिमेंसे बाहर निकल जानेके बाद अब संवर प्रवेश करता है ।

यहाँ पहले टीकाकार आचार्यदेव सर्व स्वांगको जाननेवाले सम्यक्ज्ञानका महिमा-दर्शक मंगलाचरण करते हैं:—

अर्थः—अनादि संसारसे लेकर अपने विरोधी संवरको जीतनेसे जो एकान्त-गर्वित (अत्यन्त अहंकारयुक्त) हुआ है ऐसे आस्रवका तिरस्कार करनेसे जिसने सदा विजय प्राप्त की है ऐसे संवरको उत्पन्न करती हुई, पररूपसे भिन्न (अर्थात् परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले भावोंसे भिन्न), अपने सम्यक् स्वरूपमें निश्चलतासे प्रकाश करती हुई, चिन्मय, उज्ज्वल (-निराबाध, निर्मल, दैदीप्यमान) और निजरसके (अपने चैतन्यरसके) भारसे युक्त—अतिशयतासे युक्त ज्योति प्रगट होती है, प्रसारित होती है ।

भावार्थः—अनादि कालसे जो आस्रवका विरोधी है ऐसे संवरको जीतकर आस्रव

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायमेदविज्ञानमभिनंदति—

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि
कोहो कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि
उवओगम्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥ १८३ ॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः ।
क्रोधः क्रोधे चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥ १८१ ॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥ १८२ ॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥ १८३ ॥

मदसे गर्वित हुआ है। उस आस्रवका तिरस्कार करके उसपर जिसने सदाके ... प्राप्त की है ऐसे संवरको उत्पन्न करता हुआ, समस्त पररूपसे भिन्न और अपने निश्चल यह चैतन्य प्रकाश निजरसकी अतिशयतापूर्वक निर्मलतासे उदयको प्राप्त हुआ है

संवर अधिकारके प्रारम्भमें ही, श्री कुन्दकुन्दाचार्य सकल कर्मका संवर करनेका उत्कृष्ट उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

गाथा १८१–१८३

अन्वयार्थ:—[उपयोगः] उपयोग [उपयोगे] उपयोगमें है, [क्रो-

उपयोगमें उपयोग, को उपयोग नहिं क्रोधादिमें ।
है क्रोध क्रोधविषैं हि निश्चय, क्रोध नहिं उपयोगमें ॥ १८१ ॥
उपयोग है नहिं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्ममें ।
ये कर्म अरु नोकर्म भी कुछ हैं नहीं उपयोगमें ॥ १८२ ॥
ऐसा अविपरीत ज्ञान जब ही प्रगटता है जीवके ।
तब अन्य नहिं कुछ भाव वह उपयोगशुद्धात्मा करे ॥ १८३ ॥

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेः, तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानतायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं, जानताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यतादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यतादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः। न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति, परस्परमत्यंतस्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानता स्वरूपं तथा क्रुध्यतादिरपि क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यतादि स्वरूपं तथा जानतापि कथंचनापि

धादिषु] क्रोधादिमें [कोऽपि उपयोगः] कोई भी उपयोग [नास्ति] नहीं है; [च] और [क्रोधः] क्रोध [क्रोधे एव हि] क्रोधमें ही है, [उपयोगे] उपयोगमें [खलु] निश्चयसे [क्रोधः] क्रोध [नास्ति] नहीं है। [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकारके कर्मोंमें [च अपि] और [नोकर्मणि] नोकर्ममें [उपयोगः] उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोगमें [कर्म] कर्म [च अपि] तथा [नोकर्म] नोकर्म [नो अस्ति] नहीं है,—[एतत् तु] ऐसा [अविपरीतं] अविपरीत [ज्ञानं] ज्ञान [यदा तु] जब [जीवस्य] जीवके [भवति] होता है, [तदा] तब [उपयोगशुद्धात्मा] वह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा [किंचित् भावम्] उपयोगके अतिरिक्त अन्य किसी भी भावको [न करोति] नहीं करता।

टीका:—वास्तवमें एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है (अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखती) क्योंकि दोनोंके प्रदेश भिन्न हैं इसलिये उनमें एक सत्ताकी अनुपपत्ति है (अर्थात् दोनोंकी सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं); और इसप्रकार जब कि एक वस्तुकी दूसरी वस्तु नहीं है तब उनमें परस्पर आधाराधेयसम्बन्ध भी है ही नहीं। इसलिये (प्रत्येक वस्तुका) अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठारूप (दृढ़तापूर्वक रहनेरूप) ही आधाराधेयसम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान जो कि जाननक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह, जाननक्रियाका ज्ञानसे अभिन्नत्व होनेसे, ज्ञानमें ही है; क्रोधादिक जो कि क्रोधादिक्रियारूप अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है वह, क्रोधादिक्रियाका क्रोधादिसे अभिन्नत्व होनेके कारण, क्रोधादिकमें ही है। (ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है, इसलिये ज्ञान आधेय है और जाननक्रिया आधार है। जानन-

व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानतायाः क्रुध्यतादेश .
भेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम् । किं च,
मेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा
देव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे
प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव
मधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा

क्रिया आधार होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया
भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञानमें ही है। इसीप्रकार क्रोध क्रोधमें ही
क्रोधादिकमें, कर्ममें या नोकर्ममें ज्ञान नहीं है तथा ज्ञानमें क्रोधादिक, कर्म या
क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होनेसे (अर्थात् ज्ञानका स्वरूप और
तथा कर्म-नोकर्मका स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होनेसे) उनके परमार्थभूत
नहीं है। और जैसे ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञानका स्वरूप)
क्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादिका स्वरूप क्रोधादि क्रिया है उसीप्रकार (क्रोधादिकका
जाननक्रिया भी हो ऐसा किसी भी प्रकारसे स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि
और क्रोधादिक्रिया भिन्न भिन्न स्वभावसे प्रकाशित होती हैं और इस भांति स्वभावोंके
होनेसे वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञानमें (क्रोधादिकमें)
नहीं है।

इसीको विशेष समझाते हैं:—जब एक ही आकाशको अपनी बुद्धिमें स्थापित
(आकाशके) आधाराधेयभावका विचार किया जाता है तब आकाशको शेष
आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे (अर्थात् अन्य द्रव्योंमें स्थापित करना अशक्य
बुद्धिमें भिन्न आधारकी अपेक्षा प्रभवित (*उद्भूत) नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होनेसे,
'एक आकाश ही एक आकाशमें ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और
इसलिये ऐसा समझ लेनेवालेके पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इसप्रकार जब एक
ही ज्ञानको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (ज्ञानका) आधाराधेयभावका विचार किया जाये
तब ज्ञानको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करने का निरोध ही होनेसे
अपेक्षा प्रभवित नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होनेसे, 'एक ज्ञान ही एक ज्ञानमें ही
प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवालेको पर-आधारा-
धेयत्व भासित नहीं होता इसलिये ज्ञान ही ज्ञानमें ही है, और क्रोधादिक ही क्रोधादिकमें ही है।

इसप्रकार (ज्ञानका और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्मका) भेदविज्ञान भलीभाँति
सिद्ध हुआ।

* प्रभवित नहीं होती=लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; उत्पन्न हो सकती है; उद्भूत नहीं होती।

भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ।। १२६ ।।

भावार्थः—उपयोग तो चैतन्यका परिणमन होनेसे ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म—सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे जड़ हैं, उनमें और ज्ञानमें प्रदेशभेद होनेसे अत्यन्त भेद है । इसलिये उपयोगमें क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिकमें, कर्ममें तथा नोकर्ममें उपयोग नहीं है । इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तुका अपना अपना आधाराधेयत्व अपने अपनेमें ही है । इसलिये उपयोग उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोधमें ही है । इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया । (भावकर्म इत्यादिका और उपयोगका भेद जानना सो भेदविज्ञान है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—चिद्रूपताको धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपताको धारण करनेवाला राग—दोनोंका, अंतरंगमें दारुण विदारणके द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यासके द्वारा), सभी ओरसे विभाग करके (—सम्पूर्णतया दोनोंको अलग करके—), यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है; इसलिये अब एक शुद्धविज्ञानघनके पुञ्जमें स्थित और अन्यसे अर्थात् रागसे रहित; हे सत्पुरुषो ! मुदित होओ ।

भावार्थः—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होनेसे जड़ हैं; किंतु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञानसे ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप-जड़रूप-भासित होते हैं । जब अंतरंगमें ज्ञान और रागादिका भेद करनेका तीव्र अभ्यास करनेसे भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञानका स्वभाव तो मात्र जाननेका ही है, ज्ञानमें जो रागादिकी कलुषता—आकुलतारूप संकल्पविकल्प-भासित होते हैं वे सब पुद्गलविकार हैं, जड़ हैं । इसप्रकार ज्ञान और रागादिके भेदका स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है । जब ऐसा भेदज्ञान होता है तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि "स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ" इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि "हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ" । १२६ ।

व्यवस्थापयितुं शक्येत, ज्ञानतायाः क्रुध्यतादेश्च ..
भेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम् ।
मेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा
देव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे
प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव
मधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा

क्रिया आधार होनेसे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ही आधार है, क्योंकि जाननक्रिया भिन्न नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ज्ञानमें ही है। इसीप्रकार क्रोध क्रोधमें ही क्रोधादिकमें, कर्ममें या नोकर्ममें ज्ञान नहीं है तथा ज्ञानमें क्रोधादिक, कर्म क्योंकि उनके परस्पर अत्यन्त स्वरूप-विपरीतता होनेसे (अर्थात् ज्ञानका स्वरूप और तथा कर्म-नोकर्मका स्वरूप अत्यन्त विरुद्ध होनेसे) उनके परमार्थभूत नहीं है। और जैसे ज्ञानका स्वरूप जाननक्रिया है उसीप्रकार (ज्ञानका स्वरूप) क्रिया भी हो, अथवा जैसे क्रोधादिका स्वरूप क्रोधादि क्रिया है उसीप्रकार (जाननक्रिया भी हो ऐसा किसी भी प्रकारसे स्थापित नहीं किया जा सकता; क्योंकि और क्रोधादिक्रिया भिन्न भिन्न स्वभावसे प्रकाशित होती हैं और इस भांति स्वभावोंके होनेसे वस्तुएँ भिन्न ही हैं। इसप्रकार ज्ञान तथा अज्ञानमें (क्रोधादिकमें) नहीं है।

इसीको विशेष समझाते हैं:—जब एक ही आकाशको अपनी बुद्धिमें स्थापित (आकाशके) आधाराधेयभावका विचार किया जाता है तब आकाशको शेष अन्य आरोपित करनेका निरोध ही होनेसे (अर्थात् अन्य द्रव्योंमें स्थापित करना अशक्य ही बुद्धिमें भिन्न आधारकी अपेक्षा प्रभवित (*उद्भूत) नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं 'एक आकाश ही एक आकाशमें ही प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है इसलिये ऐसा समझ लेनेवालेके पर-आधाराधेयत्व भासित नहीं होता। इसप्रकार जब ही ज्ञानको अपनी बुद्धिमें स्थापित करके (ज्ञानका) आधाराधेयभावका विचार किया तब ज्ञानको शेष अन्य द्रव्योंमें आरोपित करने का निरोध ही होनेसे बुद्धिमें भिन्न अपेक्षा प्रभवित्त नहीं होती; और उसके प्रभवित नहीं होनेसे, 'एक ज्ञान ही एक प्रतिष्ठित है' यह भलीभाँति समझ लिया जाता है और ऐसा समझ लेनेवालेको धेयत्व भासित नहीं होता इसलिये ज्ञान ही ज्ञानमें ही है,

इसप्रकार (ज्ञानका और क्रोधादिक तथा कर्म-नोकर्मका) सिद्ध हुआ।

* प्रभवित नहीं होती=लागू नहीं होती; लग सकती नहीं; शमन हो जाती है; उत्पन्न नहीं होती।

भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥ १२६ ॥

भावार्थः—उपयोग तो चैतन्यका परिणमन होनेसे ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म—सभी पुद्गलद्रव्यके परिणाम होनेसे जड़ हैं, उनमें और ज्ञानमें प्रदेशभेद होनेसे अत्यन्त भेद है । इसलिये उपयोगमें क्रोधादिक, कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं और क्रोधादिकमें, कर्ममें तथा नोकर्ममें उपयोग नहीं है । इसप्रकार उनमें पारमार्थिक आधाराधेय सम्बन्ध नहीं है; प्रत्येक वस्तुका अपना अपना आधाराधेयत्व अपने अपनेमें ही है । इसलिये उपयोग उपयोग में ही है और क्रोध, क्रोधमें ही है । इसप्रकार भेदविज्ञान भलीभाँति सिद्ध हो गया । (भावकर्म इत्यादिका और उपयोगका भेद जानना सो भेदविज्ञान है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—चिद्रूपताको धारण करनेवाला ज्ञान और जड़रूपताको धारण करनेवाला राग—दोनोंका, अंतरंगमें दारुण विदारणके द्वारा (भेद करनेवाले उग्र अभ्यासके द्वारा), सभी ओरसे विभाग करके (-सम्पूर्णतया दोनोंको अलग करके—), यह निर्मल भेदज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है; इसलिये अब एक शुद्धविज्ञानघनके पुञ्जमें स्थित और अन्यसे अर्थात् रागसे रहित; हे सत्पुरुषो ! मुदित होओ ।

भावार्थः—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादिक पुद्गलविकार होनेसे जड़ हैं; किंतु ऐसा भासित होता है कि मानों अज्ञानसे ज्ञान भी रागादिरूप हो गया हो, अर्थात् ज्ञान और रागादिक दोनों एकरूप-जड़रूप-भासित होते हैं । जब अंतरंगमें ज्ञान और रागादिका भेद करनेका तीव्र अभ्यास करनेसे भेदज्ञान प्रगट होता है तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञानका स्वभाव तो मात्र जाननेका ही है, ज्ञानमें जो रागादिकी कलुषता—आकुलतारूप संकल्पविकल्प-भासित होते हैं वे सब पुद्गलविकार हैं, जड़ हैं । इसप्रकार ज्ञान और रागादिके भेदका स्वाद आता है अर्थात् अनुभव होता है । जब ऐसा भेदज्ञान होता है तब आत्मा आनन्दित होता है क्योंकि उसे ज्ञात है कि "स्वयं सदा ज्ञानस्वरूप ही रहा है, रागादिरूप कभी नहीं हुआ" इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि "हे सत्पुरुषो ! अब मुदित होओ" । १२६ ।

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य ...
भवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्
रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः
शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ इति चेत्—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयभावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं॥ १८४॥
एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो॥ १८५॥

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम्॥ १८४॥
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी मनुते रागमेवात्मानम्।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन्॥ १८५॥

टीका:—इसप्रकार जब यह भेदविज्ञान ज्ञानको अणुमात्र भी (रागादि-विकाररूप) विपरीतताको न प्राप्त कराता हुआ अविचलरूपसे रहता है, तब शुद्ध-उपयोगमयात्मकताके द्वारा ज्ञान केवल ज्ञानरूप ही रहता हुआ किंचित्मात्र भी रागद्वेषमोहरूप भावको नहीं करता; इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (अनुभव) होती है, और शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे रागद्वेषमोहका (आस्रवभावका) अभाव जिसका लक्षण है ऐसा संवर होता है।

अब यह प्रश्न होता है कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि कैसे होती है? उसके उत्तरमें गाथा कहते हैं:—

गाथा १८४–१८५

अन्वयार्थ:—[यथा] जैसे [कनकम्] सुवर्ण [अग्नितप्तम् अपि]

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।
त्यों कर्मउदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे॥ १८४॥
जीव ज्ञानि जाने ये हि, अरु अज्ञानि राग हि जीव गिनें।
आत्मस्वभाव अजान जो, अज्ञानतम आच्छादसे॥ १८५॥

यतो यस्यैव यथोदितभेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावात् ज्ञानी सन्नेवं जानाति ।—यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहे तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात् । न चास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाशासंभवात् । एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किंतु शुद्धमात्मानमेवोपलभते । यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो

अग्निसे तप्त होता हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णत्वको [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मोदयतप्तः तु] कर्मोंके उदयसे तप्त होता हुआ भी [ज्ञानित्वम्] ज्ञानित्वको [न जहाति] नहीं छोड़ता;— [एवं] ऐसा [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है, [अज्ञानी] और अज्ञानी [अज्ञानतमोऽवच्छन्नः] अज्ञानांधकारसे आच्छादित होनेसे [आत्मस्वभावम्] आत्माके स्वभावको [अजानन्] न जानता हुआ [रागम् एव] रागको ही [आत्मानम्] आत्मा [मनुते] मानता है ।

टीका:—जिसे ऊपर कहा गया ऐसा भेदविज्ञान है वही उसके (भेदविज्ञानके) सद्भावसे ज्ञानी होता हुआ इसप्रकार जानता है:—जैसे प्रचंड अग्निके द्वारा तप्त होता हुआ भी सुवर्ण सुवर्णत्वको नहीं छोड़ता उसीप्रकार प्रचंड कर्मोदयके द्वारा घिरा हुआ होनेपर भी (विघ्न किया जाय तो भी) ज्ञान ज्ञानत्वको नहीं छोड़ता, क्योंकि हजारों कारणोंके एकत्रित होने पर भी स्वभावको छोड़ना अशक्य है; उसे छोड़ देने पर स्वभावमात्र वस्तुका ही उच्छेद हो जायेगा, और वस्तुका उच्छेद तो होता नहीं है क्योंकि सत्का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मोंसे आक्रान्त (-घिरा हुवा) होता हुआ भी रागी नहीं होता, द्वेषी नहीं होता, मोही नहीं होता, किन्तु वह शुद्ध आत्माका ही अनुभव करता है । और जिसे उपरोक्त भेदविज्ञान नहीं है वह उसके अभावसे अज्ञानी होता हुआ, अज्ञानांधकार द्वारा आच्छादित होनेसे चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभावको न जानता हुआ, रागको ही आत्मा मानता हुआ, रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, किन्तु शुद्ध आत्माका किंचित्मात्र भी अनुभव नहीं करता । इससे सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है ।

भावार्थ:—जिसे भेदविज्ञान हुआ है वह आत्मा जानता है कि 'आत्मा कभी ज्ञान स्वभावसे छूटता नहीं है।' ऐसा जानता हुआ वह, कर्मोदयके द्वारा तप्त होता हुआ भी, रागी,

रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते ।—ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ।

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥ १८६ ॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १८६ ॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते

द्वेषी मोही नहीं होता, परन्तु निरन्तर शुद्ध आत्माका अनुभव करता है। जिसे भेदविज्ञान नहीं है वह आत्मा, आत्माके ज्ञान स्वभावको न जानता हुआ रागको ही आत्मा मानता है, इसलिये वह रागी, द्वेषी, मोही होता है, किन्तु कभी भी शुद्ध आत्माका अनुभव नहीं करता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञानसे ही शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है।

अब यह प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर कैसे होता है? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १८६

अन्वयार्थः—[शुद्धं तु] शुद्ध आत्माको [विजानन्] *जानता हुआ—अनुभव करता हुआ* [जीवः] जीव [शुद्धं च एव आत्मानं] शुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है [तु] और [अशुद्धम्] अशुद्ध [आत्मानं] आत्माको [जानन्] जानता हुआ—अनुभव करता हुआ जीव [अशुद्धम् एव] अशुद्ध आत्माको ही [लभते] प्राप्त करता है।

टीकाः—जो सदा ही अच्छिन्नधारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'ज्ञानमय भावमेंसे ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति (परम्परा) उसका निरोध होनेसे, शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है, और जो सदा ही अज्ञानसे अशुद्ध आत्माका अनुभव किया करता है वह, 'अज्ञानमय भावमेंसे अज्ञानमयभाव ही होता है' इस न्यायके अनुसार

जो शुद्ध जाने आतमको, वो शुद्ध आतम हि प्राप्त हो ।
अनशुद्ध जाने आतमको, अनशुद्ध आतम हि प्राप्त हो ॥ १८६ ॥

स ज्ञानमयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति। यस्तु नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति। अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः।

* मालिनी *

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।
तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७ ॥

आगामी कर्मोंके आस्रवणका निमित्त जो रागद्वेषमोहकी संतति उसका निरोध न होनेसे, अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। अतः शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे (अनुभवसे) ही संवर होता है।

भावार्थः—जो जीव अखण्डधारावाही ज्ञानसे आत्माको निरन्तर शुद्ध अनुभव किया करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव रुकते हैं इसलिये वह शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है; और जो जीव अज्ञानसे आत्माका अशुद्ध अनुभव करता है उसके रागद्वेषमोहरूपी भावास्रव नहीं रुकते इसलिये वह अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। अतः सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे ही संवर होता है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यदि किसी भी प्रकारसे (तीव्र पुरुषार्थ करके) धारावाही ज्ञानसे शुद्ध आत्माको निश्चलतया अनुभव किया करे तो यह आत्मा, जिसका आत्मानन्द प्रगट होता जाता है (अर्थात् जिसकी आत्मस्थिरता बढ़ती जाती है) ऐसे आत्माको परपरिणतिके निरोधसे शुद्ध ही प्राप्त करता है।

भावार्थः—धारावाही ज्ञानके द्वारा शुद्ध आत्माका अनुभव करनेसे रागद्वेषमोहरूप परपरिणतिका (भावास्रवोंका) निरोध होता है और उससे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

धारावाही ज्ञानका अर्थ है प्रवाहरूपज्ञान—अखंड रहनेवाला ज्ञान। वह दो प्रकारसे कहा जाता है:—एक तो, जिसमें बीचमें मिथ्याज्ञान न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही ज्ञान है। दूसरा, एक ही ज्ञेयमें उपयोगके उपयुक्त रहनेकी अपेक्षासे ज्ञानकी धारावाहिकता कही जाती है, अर्थात् जहाँतक उपयोग एक ज्ञेयमें उपयुक्त रहता है वहाँतक धारावाही ज्ञान कहलाता है; इसकी स्थिति (छद्मस्थके) अंतर्मुहूर्त ही है, तत्पश्चात् वह खंडित होती है। इन दो अर्थोंमेंसे

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णम्हि ॥ १८७ ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥ १८८ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९ ॥

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥ १८७ ॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चिंतयत्येकत्वम् ॥ १८८ ॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ॥ १८९ ॥

जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा अर्थ समझना चाहिये। अविरतसम्यक्दृष्टि इत्यादि नीचेके गुणस्थानवाले जीवोंके मुख्यतया पहली अपेक्षा लागू होगी, और श्रेणी चढ़नेवाले जीवके मुख्यतया दूसरी अपेक्षा लागू होगी क्योंकि उसका उपयोग शुद्ध आत्मामें ही उपयुक्त है। १२७।

अब प्रश्न करता है कि संवर किस प्रकारसे होता है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १८७-१८९

अन्वयार्थः—[आत्मानम्] आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्य-पापरूपी शुभाशुभयोगोंसे [रुन्ध्वा] रोककर

शुभ अशुभसे जो रोककर निज आत्मको आत्मा हि से ।
दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्यइच्छा परिहरे ॥ १८७ ॥
जो सर्वसंगविमुक्त, ध्यावे आत्मसे आत्मा हि को ।
नहिं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्वको ॥ १८८ ॥
वह आत्म ध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ ।
बस अल्प काल जु कर्मसे परिमोक्ष पावे आत्मका ॥ १८९ ॥

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे वर्तमानं दृढतरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुन्ध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन् मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहज-चेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं चैतन्यचमत्कार-मात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलंभे सति

[दर्शनज्ञाने] दर्शनज्ञानमें [स्थितः] स्थित होता हुआ [च] और [अन्यस्मिन्] अन्य (वस्तु)की [इच्छाविरतः] इच्छासे विरत होता हुआ, [यः आत्मा] जो आत्मा, [सर्वसंगमुक्तः] (इच्छारहित होनेसे) सर्व संगसे रहित होता हुआ, [आत्मानम्] (अपने) आत्माको [आत्मना] आत्माके द्वारा [ध्यायति] ध्याता है, और [कर्म नोकर्म] कर्म तथा नोकर्मको [न अपि] नहीं ध्याता, एवं [चेतयिता] (स्वयं) [1]चेतयिता (होनेसे) [एकत्वम्] एकत्वको ही [चिन्तयति] चिन्तवन करता है—अनुभव करता है, [सः] वह (आत्मा), [आत्मानं ध्यायन्] आत्माको ध्याता हुआ, [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय [अनन्यमयः] और अनन्यमय होता हुआ [अचिरेण एव] अल्पकालमें ही [कर्मप्रविमुक्तम्] कर्मोंसे रहित [आत्मानम्] आत्माको [लभते] प्राप्त करता है।

टीकाः—रागद्वेषमोह जिसका मूल है ऐसे शुभाशुभ योगमें प्रवर्तमान जो जीव दृढतर भेदविज्ञानके आलम्बनसे आत्माको आत्माके द्वारा ही अत्यन्त रोककर, शुद्धदर्शन-ज्ञानरूप आत्मद्रव्यमें भलीभाँति प्रतिष्ठित (स्थिर) करके, समस्त परद्रव्योंकी इच्छाके त्यागसे सर्व संगसे रहित होकर, निरंतर अति निष्कंप वर्तता हुआ, कर्म-नोकर्मका किंचित्मात्र भी स्पर्श किये बिना अपने आत्माको ही आत्माके द्वारा ध्याता हुआ, स्वयंको सहज चेतयितापन होनेसे एकत्वका ही चेतता (अनुभव करता) है (ज्ञान चेतनारूप रहता है), वह जीव वास्तवमें, एकत्व-चेतन द्वारा अर्थात् एकत्वके अनुभवन द्वारा (परद्रव्यसे) अत्यन्त भिन्न चैतन्यचमत्कारमात्र आत्माको ध्याता हुआ, शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मद्रव्यको प्राप्त होता हुआ, शुद्ध आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होनेपर समस्त परद्रव्यमयतासे अतिक्रांत होता हुआ, अल्प कालमें ही सर्व कर्मोंसे रहित आत्माको प्राप्त करता है। यह संवरका प्रकार (विधि) है।

१—चेतयिता = ज्ञाता द्रष्टा।

समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति। एष संवर प्रकारः।

* मालिनी *

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ १२८ ॥

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेऊ भणिया अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥ १९० ॥
हेउअभावे णियमा जायइ णाणिस्स आसवणिरोहो।
आसवभावेण विणा जायइ कम्मस्स वि णिरोहो ॥ १९१ ॥

भावार्थः—जो जीव पहले तो रागद्वेषमोहके साथ मिले हुए मनवचनकायके शुभाशुभ योगोंसे अपने आत्माको भेदज्ञानके बलसे चलायमान नहीं होने दे, और फिर उसीको शुद्धदर्शनज्ञानमय आत्मस्वरूपमें निश्चल करे तथा समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रहसे रहित होकर कर्म-नोकर्मसे भिन्न अपने स्वरूपमें एकाग्र होकर उसीका ही अनुभव किया करे अर्थात् उसीके ध्यानमें रहे, वह जीव आत्माका ध्यान करनेसे दर्शनज्ञानमय होता हुआ और परद्रव्यमयताका उल्लंघन करता हुआ अल्पकालमें ही समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जाता है। यह संवर होनेकी रीति है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो भेदविज्ञानकी शक्तिके द्वारा अपनी (स्वरूपकी) महिमामें लीन रहते हैं उन्हें नियमसे शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होती है; शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि होनेपर, अचलितरूपसे समस्त अन्यद्रव्योंसे दूर वर्तते हुवे ऐसे उनके, अक्षय कर्ममोक्ष होता है (अर्थात् उनका कर्मोंसे ऐसा छुटकारा हो जाता है कि पुनः कभी कर्मबन्ध नहीं होता)। १२८।

रागादिके हेतू कहे, सर्वज्ञ अध्यवसानको।
मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव त्यों ही योगको ॥१९०॥
कारण अभाव जरूर आस्रवरोध ज्ञानीको बने।
आस्रवभाव अभावमें, नहिं कर्मका आना बने ॥ १९१ ॥

कम्मस्स अभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥ १९२ ॥

तेषां हेतवो भणिता अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥ १९० ॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिन आस्रवनिरोधः ।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥ १९१ ॥
कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः ।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥ १९२ ॥

संति तावज्जीवस्य आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः । आस्रव-

---

अब यह प्रश्न होता है कि संवर किस क्रमसे होता है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा १९०–१९२

अन्वयार्थ:—[तेषां] उनके (पूर्व कथित रागद्वेषमोहरूप आस्रवोंके) [हेतवः] हेतु [सर्वदर्शिभिः] सर्वदर्शियोंने [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व, [अज्ञानम्] अज्ञान, [अविरतभावः च] और अविरतभाव [योगः च] तथा योग—[अध्यवसानानि] यह (चार) अध्यवसान [भणिताः] कहे हैं । [ज्ञानिनः] ज्ञानियोंके [हेत्वभावे] हेतुओंके अभावमें [नियमात्] नियमसे [आस्रवनिरोधः] आस्रवोंका निरोध [जायते] होता है, [आस्रवभावेन विना] आस्रवभावके विना [कर्मणः अपि] कर्मका भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [कर्मणः अभावेन] कर्मके अभावसे [नोकर्मणाम् अपि] नोकर्मोंका भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है, [च] और [नोकर्मनिरोधेन] नोकर्मके निरोधसे [संसारनिरोधनं] संसारका निरोध [भवति] होता है ।

टीका:—पहले तो जीवके, आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय (अभिप्राय) जिनका मूल है ऐसे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, वे

है कर्मके जु अभावसे, नोकर्मका रोधन बने ।
नोकर्मका रोधन हुवे, संसारसंरोधन बने ॥ १९२ ॥

भावः कर्महेतुः । कर्म नोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतुः इति । ततो नित्यमेवायमात्मा आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति । ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः कर्म आस्रवति । ततो नोकर्म भवति । ततः संसारः प्रभवति । यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः । तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः । तदभावे भवति कर्माभावः । तदभावेऽपि भवति नोकर्माभावः । तदभावेऽपि भवति संसाराभावः । इत्येष संवरक्रमः ।

रागद्वेषमोहस्वरूप आस्रवभावके कारण हैं; आस्रवभाव कर्मका कारण है; कर्म नोकर्मका कारण है; और नोकर्म संसारका कारण है। इसलिये-सदा ही यह आत्मा, आत्मा और कर्मके एकत्वके अध्याससे मिथ्यात्व-अज्ञान-अविरति-योगमय आत्माको मानता है (अर्थात् मिथ्यात्वादि अध्यवसान करता है); इसलिये रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावको भाता है, उससे कर्मास्रव होता है; उससे नोकर्म होता है; और उससे संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जब (वह आत्मा), आत्मा और कर्मके भेदविज्ञानके द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माको उपलब्ध करता है-अनुभव करता है तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान, जो कि आस्रवभावके कारण हैं उनका अभाव होता है; अध्यवसानोंका अभाव होनेपर रागद्वेषमोहरूप आस्रवभावका अभाव होता है; आस्रवभावका अभाव होनेपर कर्मका अभाव होता है; कर्मका अभाव होनेपर नोकर्मका अभाव होता है, और नोकर्मका अभाव होनेपर संसारका अभाव होता है। इसप्रकार यह संवरका क्रम है।

भावार्थः—जीवके जबतक आत्मा और कर्मके एकत्वका आशय है-भेदविज्ञान नहीं है तबतक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप अध्यवसान वर्तते हैं, अध्यवसानसे रागद्वेषमोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभावसे कर्म बँधता है, कर्मसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न होता है और नोकर्मसे संसार है। परन्तु जब उसे आत्मा और कर्मका भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्माकी उपलब्धि होनेसे मिथ्यात्वादि अध्यवसानोंका अभाव होता है, और उससे रागद्वेषमोहरूप आस्रवका अभाव होता है, आस्रवके अभावसे कर्म नहीं बँधता, कर्मके अभावसे शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते और नोकर्मके अभावसे संसारका अभाव होता है।—इसप्रकार संवरका क्रम जानना चाहिये।

संवर होनेके क्रममें संवरका पहला ही कारण भेदविज्ञान कहा है अब उसकी भावनाके उपदेशका काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

संपद्यते संवर एष साक्षा-
च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्
तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ १२९ ॥

(अनुष्टुभ्)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ १३० ॥

(अनुष्टुभ्)

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ १३१ ॥

अर्थः—यह साक्षात् संवर वास्तवमें शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिसे होता है; और वह शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे ही होती है। इसलिये वह भेदविज्ञान अत्यंत भाने योग्य है।

भावार्थः—जब जीवको भेदविज्ञान होता है अर्थात् जब जीव आत्मा और कर्मको यथार्थतया भिन्न जानता है तब वह शुद्ध आत्माका अनुभव करता है, शुद्ध आत्माके अनुभवसे आस्रवभाव रुकता है और अनुक्रमसे सर्व प्रकारसे संवर होता है, इसलिये भेदविज्ञानको अत्यन्त भानेका उपदेश किया है। १२९।

अब, काव्यद्वारा यह बतलाते हैं कि भेदविज्ञान कहाँ तक भाना चाहिये।

अर्थः—यह भेदविज्ञान अच्छिन्न-धारासे (जिसमें विच्छेद न पड़े ऐसे अखण्ड प्रवाहरूपसे) तबतक भाना चाहिये जबतक ज्ञान परभावोंसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें ही (अपने स्वरूपमें ही) स्थिर हो जाये।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर होना दो प्रकारसे जानना चाहिये। एक तो, मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यक्ज्ञान हो और फिर मिथ्यात्व न आये तब ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हुआ कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान शुद्धोपयोगरूपमें स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप परिणमित न हो तब ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हुआ कहलाता है। जबतक ज्ञान दोनों प्रकारसे ज्ञानमें स्थिर न हो जाये तबतक भेदविज्ञानको भाते रहना चाहिये। १३०।

अब पुनः भेदविज्ञानकी महिमा बतलाते हैं:—

अर्थः—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं; और जो कोई बँधे हैं वे उसीके (-भेदविज्ञानके ही) अभावसे बँधे हैं।

(मंदाक्रांता)

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभा-
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ १३२ ॥

इति संवरो निष्क्रांतः ।

भावार्थः—अनादि कालसे लेकर जबतक जीवको भेदविज्ञान नहीं है तबतक वह कर्मसे बँधता ही रहता है—संसारमें परिभ्रमण ही करता रहता है; जिस जीवको भेदविज्ञान होता है वह कर्मोंसे अवश्य छूट जाता है—मोक्षको प्राप्त कर ही लेता है। इसलिये कर्मबंधका—संसारका—मूल भेदविज्ञानका अभाव ही है और मोक्षका पहला कारण भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञानके बिना कोई सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता।

यहाँ ऐसा भी समझना चाहिये कि—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध और वेदान्ती जो कि वस्तुको अद्वैत कहते हैं और अद्वैतके अनुभवसे ही सिद्धि कहते हैं उनका, भेदविज्ञानसे ही सिद्धि कहनेसे, निषेध हो गया; क्योंकि वस्तुका स्वरूप सर्वथा अद्वैत न होने पर भी जो सर्वथा अद्वैत मानते हैं उनके किसी भी प्रकारसे भेदविज्ञान कहा ही नहीं जा सकता; जहाँ द्वैत (दो वस्तुएँ) ही नहीं मानते वहाँ भेदविज्ञान कैसा ? यदि जीव और अजीव—दो वस्तुएँ मानी जायें और उनका संयोग माना जाये तभी भेदविज्ञान हो सकता है, और सिद्धि हो सकती है। इसलिये स्याद्वादियोंको ही सब कुछ निर्बाधतया सिद्ध होता है। १३१।

अब, संवर अधिकार पूर्ण करते हुए, संवर होनेसे जो ज्ञान हुआ उस ज्ञानकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—भेदज्ञान प्रगट करनेके अभ्याससे शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धि हुई, शुद्ध तत्त्वकी उपलब्धिसे राग समूहका विलय हुआ, राग समूहके विलय करनेसे कर्मोंका संवर हुआ और कर्मोंका संवर होनेसे, ज्ञानमें ही निश्चल हुआ ऐसा यह ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ—कि जो ज्ञान परम संतोषको (परम अतीन्द्रिय आनन्दको) धारण करता है, जिसका प्रकाश निर्मल है (अर्थात् रागादिकके कारण मलिनता थी वह अब नहीं है), जो अम्लान है (अर्थात् क्षायोपशमिक ज्ञानकी भाँति कुम्हलाया हुआ—निर्बल नहीं है, सर्व लोकालोकके जाननेवाला है), जो एक है (अर्थात् क्षयोपशमसे जो भेद था यह अब नहीं है) और जिसका उद्योत शाश्वत है (अर्थात् जिसका प्रकाश अविनश्वर है)। १३२।

टीकाः—इसप्रकार संवर (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ संवर-प्ररूपकः पञ्चमोंकः ॥

भावार्थः—रंगभूमिमें संवरका स्वांग आया था उसे ज्ञानने जान लिया इसलिये वह नृत्य करके बाहर गया।

* सवैया तेईसा *

भेदविज्ञानकला प्रगटै, तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग द्वेष विमोह सबहि गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही;
उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाहीं,
यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥

—* पाँचवाँ संवर अधिकार समाप्त *—

निर्जरा अधिकार

अथ प्रविशति निर्जरा ।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ॥ १३३ ॥

—* दोहा *—

रागादिककूं मेटि करि, नवे बंध हति संत ।
पूर्व उदयमें सम रहे, नमूं निर्जरावंत ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब निर्जरा प्रवेश करती है ।" यहाँ तत्त्वोंका नृत्य है; अतः जैसे नृत्यमंच पर नृत्य करनेवाला स्वाँग धारण कर प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ रंगभूमिमें निर्जराका स्वाँग प्रवेश करता है ।

अब, सर्व स्वाँगको यथार्थ जाननेवाले सम्यक्ज्ञानको मंगलरूप जानकर आचार्यदेव मंगलके लिये प्रथम उसी—निर्मल ज्ञानज्योतिको ही—प्रगट करते हैं:—

अर्थः—परम संवर, रागादि आस्रवोंको रोकनेसे अपनी कार्य-धुराको धारण करके (–अपने कार्यको यथार्थतया सँभालकर), समस्त आगामी कर्मको अत्यन्ततया दूरसे ही रोकता हुआ खड़ा है; और पूर्वबद्ध (संवर होनेके पहले बँधे हुवे) कर्मको जलानेके लिये अब निर्जरा (–निर्जरारूपी अग्नि–) फैल रही है जिससे ज्ञानज्योति निरावरण होती हुई (पुनः) रागादि-भावोंके द्वारा मूर्च्छित नहीं होती—सदा अमूर्च्छित रहती है ।

भावार्थः—संवर होनेके बाद नवीन कर्म तो नहीं बँधते । और जो कर्म पहले बँधे हुए थे उनकी जब निर्जरा होती है तब ज्ञानका आवरण दूर होनेसे वह (ज्ञान) ऐसा हो जाता है कि पुनः रागादिरूप परिणमित नहीं होता—सदा प्रकाशरूप ही रहता है । १३३ ।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम् ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥ १९३ ॥

विरागस्योपभोगो निर्जरायैव । रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेर-चेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्य-

---

अब द्रव्यनिर्जराका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १९३

अन्वयार्थः—[**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि जीव [**यत्**] जो [**इन्द्रियैः**] इन्द्रियोंके द्वारा [**अचेतनानाम्**] अचेतन तथा [**इतरेषाम्**] चेतन [**द्रव्याणाम्**] द्रव्योंका [**उपभोगम्**] उपभोग [**करोति**] करता है [**तत् सर्वं**] वह सर्व [**निर्जरानिमित्तम्**] निर्जराका निमित्त है।

टीकाः—विरागीका उपभोग निर्जराके लिये ही है (वह निर्जराका कारण होता है)। रागादिभावोंके सद्भावसे मिथ्यादृष्टिके अचेतन तथा चेतन द्रव्योंका उपभोग बंधका निमित्त होता है; वही (उपभोग), रागादिभावोंके अभावसे सम्यक्दृष्टिके लिये निर्जराका निमित्त होता है। इसप्रकार द्रव्य निर्जराका स्वरूप कहा।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहा है और ज्ञानीके रागद्वेषमोहका अभाव कहा है; इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागी है। यद्यपि उसको इन्द्रियोंके द्वारा भोग दिखाई देता हो तथापि उसे भोगकी सामग्रीके प्रति राग नहीं है। वह जानता है कि "यह (भोगोंकी सामग्री) परद्रव्य है, मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है; कर्मोदयके निमित्तसे इसका और मेरा संयोग-वियोग है।" जबतक उसे चारित्रमोहका उदय आकर पीड़ा करता है और स्वयं बलहीन होनेसे पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तबतक—जैसे रोगी रोगकी पीड़ाको सहन नहीं कर सकता तब उसका औषधि इत्यादिके द्वारा उपचार करता है इसीप्रकार—भोगोपभोग-सामग्रीके द्वारा विषयरूप उपचार करता हुआ दिखाई देता है; किन्तु जैसे रोगी रोगको या औषधिको अच्छा नहीं मानता उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहके उदयको या भोगोपभोग-

---

चेतन अचेतन द्रव्यका, उपभोग इन्द्रिसमूहसे ।
जो जो करे सद्दृष्टि वह सब, निर्जराकारण बने ॥ १९३ ॥

ग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम् ।

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ १९४ ॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं च दुःखं वा ।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ १९४ ॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो वा दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते

सामग्रीको अच्छा नहीं मानता। और निश्चयसे तो, ज्ञातृत्वके कारण सम्यग्दृष्टि विरागी उदयागत कर्मोंको मात्र जान ही लेता है, उनके प्रति उसे रागद्वेषमोह नहीं है । इसप्रकार रागद्वेषमोहके बिना ही उनके फलको भोगता हुआ दिखाई देता है, तो भी उसके कर्मका आस्रव नहीं होता, कर्मास्रवके बिना आगामी बन्ध नहीं होता और उदयागतकर्म तो अपना रस देकर खिर ही जाते हैं क्योंकि उदयमें आनेके बाद कर्मकी सत्ता रह ही नहीं सकती । इसप्रकार उसके नवीन बन्ध नहीं होता और उदयागत कर्मकी निर्जरा हो जानेसे उसके केवल निर्जरा ही हुई । इसलिये सम्यग्दृष्टि विरागीके भोगोपभोगको निर्जराका ही निमित्त कहा गया है । पूर्व कर्म उदयमें आकर उसका द्रव्य खिर गया सो वह द्रव्यनिर्जरा है ।

अब भावनिर्जराका स्वरूप कहते हैं:—

गाथा १९४

अन्वयार्थः—[द्रव्ये उपभुज्यमाने] वस्तु भोगनेमें आनेपर, [सुखं च दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [नियमात्] नियमसे [जायते] उत्पन्न होता है; [उदीर्णं] उदयको प्राप्त (उत्पन्न हुवे) [तत् सुखदुःखम्] उस सुखदुःखका [वेदयते] अनुभव करता है, [अथ] पश्चात् [निर्जरां याति] वह (सुखदुःखरूप भाव) निर्जराको प्राप्त होता है ।

टीकाः—परद्रव्य भोगनेमें आनेपर, उसके निमित्तसे जीवका सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे ही उदय होता है अर्थात् उत्पन्न होता है क्योंकि वेदन साता और असाता—इन

परद्रव्यके उपभोग निमित्त, दुःख वा सुख होय है ।
इन उदित सुखदुःख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है ॥ १९४ ॥

तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोप्यजीर्णः सन् बंध एव स्यात्। सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात्।

(अनुष्टुभ्)

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुंजंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥१९५॥

दो प्रकारोंका अतिक्रम नहीं करता (अर्थात् वेदन दो प्रकारका ही है—सातारूप और असातारूप)। जब उस (सुखरूप अथवा दुःखरूप) भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको, रागादिभावोंके सद्भावसे बंधका निमित्त होकर (वो भाव) निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होता हुआ, बंध ही होता है; किन्तु सम्यक्दृष्टिके, रागादिभावोंके अभावसे बंधका निमित्त हुए विना केवलमात्र निर्जरित होनेसे (वास्तवमें) निर्जरित होता हुआ, निर्जरा ही होती है।

भावार्थः—परद्रव्य भोगनेमें आने पर, कर्मोदयके निमित्तसे जीवके सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियमसे उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टिके रागादिके कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है इसलिये उसे निर्जरित नहीं कहा जा सकता; अतः मिथ्यादृष्टिको परद्रव्यके भोगते हुए बंध ही होता है। सम्यक्दृष्टिके रागादिक न होनेसे आगामी बन्ध किये विना ही वह भाव निर्जरित हो जाता है इसलिये उसे निर्जरित कहा जा सकता है; अतः सम्यक्दृष्टिके परद्रव्य भोगनेमें आनेपर निर्जरा ही होती है। इसप्रकार सम्यक्दृष्टिके भाव-निर्जरा होती है।

अब आगामी गाथाओंकी सूचनाके रूपमें श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें वह (आश्चर्यकारक) सामर्थ्य ज्ञानकी ही है अथवा विरागकी ही है कि कोई (सम्यग्दृष्टि जीव) कर्मोंको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता! (वह अज्ञानीको आश्चर्य उत्पन्न करती है और ज्ञानी उसे यथार्थ जानता है।)। १३४।

अब ज्ञानका सामर्थ्य बतलाते हैं:—

ज्यों जहरके उपभोगसे भी, वैद्य जन मरता नहीं।
त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानिजन बँधता नहीं ॥ १९५ ॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति ।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥ १९५ ॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी ।

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥ १९६ ॥

गाथा १९५

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [वैद्यः पुरुषः] वैद्य पुरुष [विषम् उपभुंजानः] विषको भोगता अर्थात् खाता हुआ भी [मरणम् न उपयाति] मरणको प्राप्त नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी पुरुष [पुद्गलकर्मणः] पुद्गलकर्मके [उदयं] उदयको [भुंक्ते] भोगता है तथापि [न एव बध्यते] बँधता नहीं है ।

टीका:—जिसप्रकार कोई विषवैद्य, दूसरोंके मरणके कारणभूत विषको भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्याकी सामर्थ्यसे—विषकी शक्ति रुक गई होनेसे, नहीं मरता, उसीप्रकार अज्ञानियोंको, रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे बंधका कारण जो पुद्गलकर्मका उदय उसको ज्ञानी भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञानकी सामर्थ्य द्वारा रागादिभावोंका अभाव होनेसे-कर्मोदयकी शक्ति रुक गई होनेसे, बंधको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थ:—जैसे वैद्य मंत्र, तंत्र, औषधि इत्यादि अपनी विद्याकी सामर्थ्यसे विषकी घातकशक्तिका अभाव कर देता है जिससे विषके खा लेने पर भी उसका मरण नहीं होता, इसीप्रकार ज्ञानीके ज्ञानका ऐसा सामर्थ्य है कि वह कर्मोदयकी बंध करनेकी शक्तिका अभाव करता है और ऐसा होनेसे कर्मोदयको भोगते हुए भी ज्ञानीके आगामी कर्मबंध नहीं होता । इसप्रकार सम्यक्ज्ञानकी सामर्थ्य कही गई है ।

अब वैराग्यका सामर्थ्य बतलाते हैं:—

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं ।
द्रव्योपभोग विषें अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं ॥ १९६ ।

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः।
द्रव्योपभोगेऽरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥ १९६ ॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी।

(रथोद्धता)

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्
स्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्
सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ १३५ ॥

गाथा १९६

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [पुरुषः] कोई पुरुष [मद्यं] मदिराको [अरतिभावेन] अरतिभावसे (अप्रीतिसे) [पिबन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता, [तथा एव] इसीप्रकार [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्यके उपभोगके प्रति [अरतः] अरत (वैराग्यभावमें) वर्तता हुआ [न बध्यते] बन्धको प्राप्त नहीं होता।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष, मदिराके प्रति जिसको तीव्र अरतिभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, मदिराको पीने पर भी, तीव्र अरतिभावकी सामर्थ्यके कारण मतवाला नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञानी भी, रागादिभावोंके अभावसे सर्व द्रव्योंके उपभोगके प्रति जिसको तीव्र वैराग्यभाव प्रवर्ता है ऐसा वर्तता हुआ, विषयोंको भोगता हुआ भी, तीव्र वैराग्यभावकी सामर्थ्यके कारण (कर्मोंसे) बन्धको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—यह वैराग्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी विषयोंका सेवन करता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

अब इस अर्थका और आगामी गाथाके अर्थका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—क्योंकि यह (ज्ञानी) पुरुष विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञानवैभव और विरागताके बलसे विषयसेवनके निजफलको (-रंजित परिणामको) नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, इसलिये यह (पुरुष) सेवक होनेपर भी असेवक है (अर्थात् विषयोंका सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता)।

भावार्थः—ज्ञान और विरागताकी ऐसी कोई अचिंत्य सामर्थ्य है कि ज्ञानी इन्द्रियोंके

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई ॥ १९७ ॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥ १९७ ॥

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः, तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्व-

---

विषयोंका सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विषय-सेवनका फल जो रंजित परिणाम है उसे ज्ञानी नहीं भोगता—प्राप्त नहीं करता । १९६ ।

अब इसी बातको प्रगट दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं:—

गाथा १९७

अन्वयार्थः—[कश्चित्] कोई तो [सेवमानः अपि] विषयोंको सेवन करता हुआ भी [न सेवते] सेवन नहीं करता, और [असेवमानः अपि] कोई सेवन न करता हुआ भी [सेवकः] सेवन करनेवाला है—[कस्य अपि] जैसे किसी पुरुषके [प्रकरणचेष्टा] *प्रकरणकी चेष्टा (कोई कार्य संबंधी क्रिया) वर्तती है [न च सः प्राकरणः इति भवति] तथापि वह ×प्राकरणिक नहीं होता ।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष किसी प्रकरणकी क्रियामें प्रवर्तमान होने पर भी प्रकरणका स्वामित्व न होनेसे प्राकरणिक नहीं है और दूसरा पुरुष प्रकरणकी क्रियामें प्रवृत्त न होता हुआ भी प्रकरणका स्वामित्व होनेसे प्राकरणिक है, इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि पूर्वसंचित कर्मोदयसे प्राप्त हुए विषयोंका सेवन करता हुआ भी रागादिभावोंके अभावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व न होनेसे असेवक ही है (सेवन करनेवाला नहीं है) और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन

---

* प्रकरण = कार्य । × प्राकरणिक = कार्य करनेवाला ।

सेवा हुआ नहिं सेवता, नहिं सेवता सेवक बने ।
प्रकरणतनी चेष्टा करे, पर प्राकरण ज्यों नहिं हुवे ॥ १९७ ॥

संचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफल-स्वामित्वाभावादसेवक एव, मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ।

(मंदाक्रान्ता)

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

न करता हुआ भी रागादिभावोंके सद्भावके कारण विषयसेवनके फलका स्वामित्व होनेसे सेवन करनेवाला ही है ।

भावार्थः—जैसे किसी सेठने अपनी दूकान पर किसीको नौकर रखा। और वह नौकर ही दूकानका सारा व्यापार—खरीदना, बेचना इत्यादि सारा काम काज करता है तथापि वह सेठ नहीं है क्योंकि वह उस व्यापारका और उस व्यापारके हानि लाभका स्वामी नहीं है; वह तो मात्र नौकर है, सेठके द्वारा कराये गये सब कामकाजको करता है। और जो सेठ है वह व्यापार सम्बन्धी कोई कामकाज नहीं करता, घर ही बैठा रहता है तथापि उस व्यापारका तथा उसके हानि-लाभका स्वामी होनेसे वही व्यापारी (सेठ) है। यह दृष्टांत सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि पर घटित कर लेना चाहिये। जैसे नौकर व्यापार करनेवाला नहीं है इसीप्रकार सम्यक्दृष्टि विषयोंका सेवन करनेवाला नहीं है, और जैसे सेठ व्यापार करनेवाला है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करनेवाला है ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—सम्यक्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है; क्योंकि वह स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा अपने वस्तुत्वका (यथार्थ स्वरूपका) अभ्यास करनेके लिये, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेदको परमार्थसे जानकर स्वमें स्थिर होता है और परसे—रागके योगसे—सर्वतः विरमता (रुकता) है। (यह रीति ज्ञानवैराग्यकी शक्तिके बिना नहीं हो सकती)। १३७।

अब प्रथम, यह कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि सामान्यतया स्व और परको इसप्रकार जानता है:—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥ १९८ ॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम् ।

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं जानाति—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।
न त्वेष मम भावो ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥ १९९ ॥

गाथा १९८

अन्वयार्थः—[कर्मणां] कर्मोंके [उदयविपाकः] उदयका विपाक (फल) [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [विविधः] अनेक प्रकारका [वर्णितः] कहा है, [ते] वे [मम स्वभावाः] मेरे स्वभाव [न तु] नहीं हैं; [अहम् तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ ।

टीका:—जो कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए अनेक प्रकारके भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ ।

भावार्थ:—इसप्रकार सामान्यतया समस्त कर्मजन्य भावोंको सम्यग्दृष्टि, पर जानता है और अपनेको एक ज्ञायकस्वभाव ही जानता है ।

अब यह कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्व और परको इसप्रकार जानता है:—

गाथा १९९

अन्वयार्थः—[रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म है, [तस्य] उसका [विपाकोदयः] विपाकरूप उदय [एषः भवति] यह है, [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न तु] नहीं है; [अहम्] मैं तो [खलु] निश्चयसे [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभाव हूँ ।

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवरने कहे ।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९८ ॥
पुद्गलकरमरूप रागका हि, विपाकरूप है उदय ये ।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ ॥ १९९ ॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम स्वभावः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोहम् ।

एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि ।

एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥ २०० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम् ।
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ॥ २०० ॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि

टीकाः—वास्तवमें राग नामक पुद्गलकर्म है उसके उदयके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह रागरूप भाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है; मैं तो यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव हूँ । (इसप्रकार सम्यग्दृष्टि विशेषतया स्वको और परको जानता है ।) और इसीप्रकार 'राग' पदको बदलकर उसके स्थान पर द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन—ये शब्द रखकर सोलह सूत्र व्याख्यानरूप करना, और इसी उपदेशसे दूसरे भी विचारना ।

इसप्रकार सम्यक्दृष्टि अपनेको जानता और रागको छोड़ता हुआ नियमसे ज्ञानवैराग्य-सम्पन्न होता है—यह इस गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २००

अन्वयार्थः—[**एवं**] इसप्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**आत्मानं**] आत्माको (अपनेको) [**ज्ञायकस्वभावम्**] ज्ञायकस्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्त्वं**] तत्त्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको [**विजानन्**] जानता हुआ [**कर्मविपाकं**] कर्मके विपाकरूप [**उदयं**] उदयको [**मुञ्चति**] छोड़ता है ।

टीकाः—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्यतया और विशेषतया परभावस्वरूप सर्व भावोंसे विवेक (भेदज्ञान, भिन्नता) करके, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव जिसका स्वभाव है ऐसा जो

सद्दृष्टि इस रीत आत्मको, ज्ञायकस्वभाव हि जानता ।
अरु उदय कर्मविपाकको वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता ॥ २०० ॥

विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति ।

(मंदाक्रांता)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।

आत्माका तत्त्व उसको (भलीभाँति) जानता है; और इसप्रकार तत्त्वको जानता हुआ, स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होनेयोग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ, कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोड़ता है। इसलिये वह (सम्यग्दृष्टि) नियमसे ज्ञानवैराग्यसम्पन्न होता है (यह सिद्ध हुआ)।

भावार्थः—जब अपनेको तो ज्ञायकभावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावोंको आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरागता—यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही (ज्ञानवैराग्य) ही सम्यग्दृष्टिका चिह्न है।

"जो जीव परद्रव्यमें आसक्त—रागी हैं और सम्यग्दृष्टित्वका अभिमान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, वे वृथा अभिमान करते हैं" इस अर्थका कलशरूप काव्य अब कहते हैं:—

अर्थः—"यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता (क्योंकि शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिको बन्ध नहीं कहा है)" ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसे ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव (-परद्रव्यके प्रति रागद्वेषमोहभाववाले जीव-) भले ही महाव्रतादिका आचरण करें तथा समितियोंकी उत्कृष्टताका आलम्बन करें तथापि वे पापी (मिथ्यादृष्टि) ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्वसे रहित हैं।

भावार्थः—परद्रव्यके प्रति राग होने पर भी जो जीव यह मानता है कि 'मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे बन्ध नहीं होता' उसे सम्यक्त्व कैसा? वह व्रत-समितिका पालन भले ही करे तथापि स्वपरका ज्ञान न होनेसे वह पापी ही है। जो यह मानकर कि 'मुझे बन्ध नहीं होता' स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है वह भला सम्यग्दृष्टि कैसा? क्योंकि जबतक यथाख्यात चारित्र न हो तबतक चारित्रमोहके रागसे बन्ध तो होता ही है और जबतक राग रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि तो अपनी निंदा-गर्हा करता ही रहता है। ज्ञानके होनेमात्रसे बन्धसे नहीं छूटा जा सकता, ज्ञान होनेके बाद उसीमें लीनतारूप—शुद्धोपयोगरूप-चारित्रसे बन्ध कट जाते हैं। इसलिये राग होने पर भी, 'बन्ध नहीं होता' यह मानकर स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥ १३७ ॥

यहाँ कोई पूछता है कि-"व्रत-समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया है ?" उसका समाधान यह है—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। और व्यवहारनयकी प्रधानतामें, व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहनेसे स्याद्वाद मतमें कोई विरोध नहीं है।

फिर कोई पूछता है कि—"परद्रव्यमें जबतक राग रहे तबतक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है सो यह बात हमारी समझमें नहीं आई। अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्रमोहके उदयसे रागादिभाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?" उसका समाधान यह है:—यहाँ मिथ्यात्व सहित अनन्तानुबंधी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्वपरका ज्ञानश्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिये। जो जीव मुनिपद लेकर व्रत समितिका पालन करे तथापि जबतक पर जीवोंकी रक्षा, तथा शरीर संबंधी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने शुभ भावोंसे अपनी मुक्ति मानता है और पर जीवोंका घात होना तथा अयत्नाचाररूपसे प्रवृत्ति करना इत्यादि परद्रव्यकी क्रियासे और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले अपने अशुभ भावोंसे ही अपना बन्ध होना मानता है तबतक यह जानना चाहिये कि उसे स्वपरका ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि बन्ध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावोंसे ही होता था, शुभाशुभ भाव तो बन्धके ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्तमात्र ही था, उसमें उसने विपर्ययरूप मान लिया। इसप्रकार जबतक जीव परद्रव्यसे ही भला बुरा मानकर रागद्वेष करता है तबतक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

जबतक अपनेमें चारित्र मोह संबंधी रागादिक रहता है तबतक सम्यग्दृष्टि जीव रागादिमें तथा रागादिकी प्रेरणासे जो परद्रव्यसंबंधी शुभाशुभ क्रियामें प्रवृत्ति करता है उन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह मानता है कि—यह कर्मका जोर है; उससे निवृत्त होनेमें ही मेरा भला है। वह उन्हें रोगवत् जानता है। पीड़ा सहन नहीं होती इसलिये रोगका इलाज करनेमें प्रवृत्त होता है तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जिसे वह रोग मानता है उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटानेका ही उपाय करता है और उसका मिटना भी

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥ २०१ ॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥ २०२ ॥

अपने ही ज्ञानपरिणामरूप परिणमनसे मानता है । अतः सम्यग्दृष्टिके राग नहीं है । इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टिसे व्याख्यान जानना चाहिये । यहाँ मिथ्यात्व सहित रागको ही राग कहा है, मिथ्यात्व रहित चारित्रमोहसम्बन्धी परिणामको राग नहीं कहा; इसलिये सम्यग्दृष्टिके ज्ञानवैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है । सम्यक्दृष्टिके मिथ्यात्व सहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्व सहित राग हो वह सम्यक्दृष्टि नहीं है । ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टिके भावोंके) अन्तरको सम्यग्दृष्टि ही जानता है । पहले तो मिथ्यादृष्टिका अध्यात्मशास्त्रमें प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है-व्यवहारको-(शुभभावको) सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है (अर्थात् अशुभभावोंमें प्रवर्तता है) अथवा निश्चयको भलीभाँति जाने बिना व्यवहारसे ही (शुभभावसे ही) मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्वमें मूढ़ रहता है । यदि कोई विरला जीव यथार्थ स्याद्वादन्यायसे सत्यार्थको समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है—वह अवश्य सम्यक्दृष्टि हो जाता है । १३७ ।

अब पूछता है कि रागी (जीव) सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं होता ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २०१-२०२

अन्वयार्थः—[खलु] वास्तवमें [यस्य] जिस जीवके [रागादीनां तु परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र—लेशमात्र—भी रागादिक [विद्यते] वर्तता है

अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीवको ।
वो सर्वआगमधर भले ही, जानता नहिं आत्मको ॥ २०१ ॥
नहिं जानता जहँ आत्मको, अनआत्म भी नहिं जानता ।
वो क्योंहि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीवको नहिं जानता ! ॥ २०२ ॥

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति । यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमान-

---

[सः] वह जीव [सर्वागमधरः अपि] भले ही सर्वागमका धारी (समस्त आगमोंको पढ़ा हुआ) हो तथापि [आत्मानं तु] आत्माको [न अपि जानाति] नहीं जानता; [च] और [आत्मानम्] आत्माको [अजानन्] न जानता हुआ [सः] वह [अनात्मानं अपि] अनात्माको (परको) भी [अजानन्] नहीं जानता; [जीवाजीवौ] इसप्रकार जो जीव और अजीवको [अजानन्] नहीं जानता वह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [कथं भवति] कैसे हो सकता है ?

टीका:—जिसके रागादि अज्ञानमय भावोंके लेशमात्रका भी सद्भाव है वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो तथापि वह ज्ञानमय भावोंके अभावके कारण आत्माको नहीं जानता; और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता क्योंकि स्वरूपसे सत्ता और पररूपसे असत्ता—इन दोनोंके द्वारा एक वस्तुका निश्चय होता है; (जिसे अनात्माका-रागका—निश्चय हुआ हो उसे अनात्मा और आत्मा—दोनोंका निश्चय होना चाहिये ।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्माको नहीं जानता वह जीव और अजीवको नहीं जानता; तथा जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है । इसलिये रागी (जीव) ज्ञानके अभावके कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता ।

भावार्थ:—यहाँ 'राग' शब्दसे अज्ञानमय रागद्वेषमोह कहे गये हैं । और 'अज्ञानमय' कहनेसे मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीसे हुए रागादिक समझना चाहिये, मिथ्यात्वके बिना चारित्रमोहके उदयका राग नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि इत्यादिको चारित्रमोहके उदय सम्बन्धी जो राग है सो ज्ञानसहित है; सम्यग्दृष्टि उस रागको कर्मोदयसे उत्पन्न हुआ रोग जानता है और उसे मिटाना ही चाहता है; उसे उस रागके प्रति राग नहीं है । और सम्यग्दृष्टिके रागका लेशमात्र सद्भाव नहीं है ऐसा कहा है सो इसका कारण इसप्रकार है:— सम्यग्दृष्टिके अशुभराग तो अत्यन्त गौण है और जो शुभ राग होता है सो वह उसे किंचित्मात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता—उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चयसे तो उसके रागका स्वामित्व ही नहीं है । इसलिये उसके लेशमात्र राग नहीं है ।

यदि कोई जीव रागको भला जानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो—वह भले ही सर्व शास्त्रोंको पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्रका पालन करता हो तथापि—यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्माके परमार्थस्वरूपको नहीं जाना, कर्मोदयजनित रागको

त्वात् । ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ।

(मंदाक्रान्ता)

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥ १३८ ॥

ही अच्छा मान रक्खा है, तथा उसीसे अपना मोक्ष माना है । इसप्रकार अपने और परके परमार्थस्वरूपको न जाननेसे जीव-अजीवके परमार्थ स्वरूपको नहीं जानता । और जहाँ जीव तथा अजीव—इन दो पदार्थोंको ही नहीं जानता वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा ? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिस काव्यके द्वारा आचार्यदेव अनादिकालसे रागादिको अपना पद जानकर सोये हुये रागी प्राणियोंको उपदेश देते हैं:—

अर्थः—(श्री गुरु संसारी भव्य जीवोंको संबोधन करते हैं कि-) हे अन्ध प्राणियों ! अनादि संसारसे लेकर पर्याय पर्यायमें यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पदमें सो रहे हैं वह पद अर्थात् स्थान अपद है—अपद है, (तुम्हारा स्थान नहीं है,) ऐसा तुम समझो । (अपद शब्दको दो बार कहनेसे अति करुणाभाव सूचित होता है ।) इस ओर आओ—इस ओर आओ, (यहाँ निवास करो,) तुम्हारा पद यह है—यह है, जहाँ शुद्ध—शुद्ध चैतन्यधातु निज रसकी अतिशयताके कारण स्थायीभावत्वको प्राप्त है अर्थात् स्थिर है—अविनाशी है । (यहाँ 'शुद्ध' शब्द दो बार कहा है जो कि द्रव्य और भाव दोनोंकी शुद्धताको सूचित करता है । समस्त अन्यद्रव्योंसे भिन्न होनेके कारण आत्मा द्रव्यसे शुद्ध है और परके निमित्तसे होनेवाले अपने भावोंसे रहित होनेसे भावसे शुद्ध है ।)

भावार्थः—जैसे कोई महान पुरुष मद्य पान करके मलिन स्थान पर सो रहा हो उसे कोई आकर जगाये—और सम्बोधित करे कि "यह तेरे सोनेका स्थान नहीं है, तेरा स्थान तो शुद्ध सुवर्णमय धातुसे निर्मित है, अन्य कुधातुओंके मैलसे रहित शुद्ध है और अति सुदृढ़ है, इसलिये मैं तुझे जो बतलाता हूँ वहाँ आ और वहाँ शयनादि करके आनंदित हो;" इसीप्रकार ये प्राणी अनादि संसारसे लेकर रागादिको भला जानकर, उन्हींको अपना स्वभाव मानकर, उसीमें निश्चिंत होकर सो रहे हैं—स्थित हैं, उन्हें श्री गुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं—जगाते हैं—सावधान करते हैं कि "हे अन्ध प्राणियों ! तुम जिस पदमें सो रहे हो वह तुम्हारा पद नहीं है; तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाह्यमें अन्य द्रव्योंकी मिलावटसे रहित

किं नाम तत्पदमित्याह—

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥ २०३ ॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम् ।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥ २०३ ॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि

तथा अन्तरंगमें विकार रहित शुद्ध और स्थायी है; उस पदको प्राप्त होओ—शुद्ध चैतन्यरूप अपने भावका आश्रय करो" । १३८ ।

अब यहाँ पूछते हैं कि (हे गुरुदेव !) वह पद क्या है ? उसका उत्तर देते हैं:—

गाथा २०३

अन्वयार्थः—[आत्मनि] आत्मामें [अपदानि] अपदभूत [द्रव्यभावान्] द्रव्य-भावोंको [मुक्त्वा] छोड़कर [नियतम्] निश्चित, [स्थिरम्] स्थिर, [एकम्] एक [इमं] इस (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) [भावम्] भावको— [स्वभावेन उपलभ्यमानं] जो कि (आत्माके) स्वभावरूपसे अनुभव किया जाता है उसे— [तथा] (हे भव्य !) जैसा है वैसा [गृहाण] ग्रहण कर। (वह तेरा पद है।)

टीकाः—वास्तवमें इस भगवान आत्मामें बहुतसे द्रव्य-भावोंके मध्यमेंसे (द्रव्य-भावरूप बहुतसे भावोंके मध्यमेंसे), जो अतत्स्वभावसे अनुभवमें आते हुए (आत्माके स्वभावरूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभवमें आते हुए), अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थाई होनेके कारण स्थाताका स्थान अर्थात् रहनेवालेका स्थान नहीं हो सकने योग्य होनेसे अपदभूत हैं; और जो तत्स्वभावसे (आत्मस्वभावरूपसे) अनुभवमें आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होनेसे स्थाताका स्थान अर्थात् रहनेवालेका स्थान हो सकने योग्य होनेसे पदभूत है। इसलिये समस्त अस्थायी भावोंको छोड़कर, जो स्थायीभावरूप है ऐसा परमार्थरसरूपसे स्वादमें आनेवाला यह ज्ञान एक ही आस्वादनके योग्य है।

जीवमें अपदभूत द्रव्यभावको, छोड़ ग्रह तू यथार्थसे ।
थिर, नियत, एक हि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभावसे ॥२०३॥

स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।

(अनुष्टुभ्)

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः॥ १३९॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहःस्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।

भावार्थः—पहले वर्णादिक गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे थे वे सब, आत्मामें अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं। आत्मा स्थायी है (–सदा विद्यमान है) और वे सब भाव अस्थायी हैं इसलिये वे आत्माका स्थान नहीं हो सकते अर्थात् वे आत्माका पद नहीं हैं। जो यह स्वसंवेदनरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है। आत्मा स्थायी है और ज्ञान भी स्थायी भाव है इसलिये वह आत्माका पद है। वह एक ही ज्ञानियोंके द्वारा आस्वाद लेने योग्य है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वह एक ही पद आस्वादनके योग्य है जो कि विपत्तियोंका अपद है (अर्थात् जिसमें आपदायें स्थान नहीं पा सकतीं) और जिसके आगे अन्य (सब) पद अपद ही भासित होते हैं।

भावार्थः—एक ज्ञान ही आत्माका पद है। उसमें कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती और उसके आगे अन्य सब पद अपदस्वरूप भासित होते हैं (क्योंकि वे आकुलतामय हैं—आपत्तिरूप हैं)। १३९।

अब यहाँ कहते हैं कि जब आत्मा ज्ञानका अनुभव करता है तब इसप्रकार करता है:—

अर्थः—एक ज्ञायकभावसे भरे हुए महास्वादको लेता हुआ, (इसप्रकार ज्ञानमें ही एकाग्र होनेपर दूसरा स्वाद नहीं आता इसलिये) द्वंद्वमय स्वादके लेनेमें असमर्थ (वर्णादिक, रागादिक तथा क्षायोपशमिक ज्ञानके भेदोंका स्वाद लेनेमें असमर्थ), आत्मानुभवके—स्वादके—प्रभावके आधीन होनेसे निज वस्तुवृत्तिको (आत्माकी शुद्ध परिणतिको) जानता—आस्वाद लेता हुआ (आत्माके अद्वितीय स्वादके अनुभवनमेंसे बाहर न आता हुआ) यह आत्मा ज्ञानके

आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

तथा हि—

आभिणिबोहियसुदोधिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥ २०४ ॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम् ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥ २०४ ॥

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानम्, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञान-

---

विशेषोंके उदयको गौण करता हुआ, सामान्यमात्र ज्ञानका अभ्यास करता हुआ, सकल ज्ञानको एकत्वमें लाता है—एकरूपमें प्राप्त करता है

भावार्थ:—इस एक स्वरूपज्ञानके रसीले स्वादके आगे अन्य रस फीके हैं। और स्वरूपज्ञानका अनुभव करते हुए सर्व भेदभाव मिट जाते हैं। ज्ञानके विशेष ज्ञेयके निमित्तसे होते हैं। जब ज्ञानसामान्यका स्वाद लिया जाता है तब ज्ञानके समस्त भेद भी गौण हो जाते हैं, एक ज्ञान ही ज्ञेयरूप होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि छद्मस्थको पूर्णरूप केवलज्ञानका स्वाद कैसे आवे ? इसका उत्तर पहले शुद्धनयका कथन करते हुए दिया जा चुका है कि शुद्धनय आत्माका शुद्ध पूर्ण स्वरूप बतलाता है इसलिये शुद्धनयके द्वारा पूर्णरूप केवलज्ञानका परोक्ष स्वाद आता है। १४०।

अब, 'कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे ज्ञानमें भेद होने पर भी उसके (ज्ञानके) स्वरूपका विचार किया जाये तो ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान ही मोक्षका उपाय है' इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २०४

अन्वयार्थ:—[**आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च**] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—[**तत्**] यह [**एकम् एव**] एक ही [**पदम् भवति**] पद है (क्योंकि ज्ञानके समस्त भेद ज्ञान ही हैं); [**सः एषः परमार्थः**] वह यह परमार्थ है (—शुद्धनयका विषयभूत ज्ञान सामान्य ही यह परमार्थ है—) [**यं लब्ध्वा**] जिसे प्राप्त करके [**निर्वृतिं याति**] आत्मा निर्वाणको प्राप्त होता है।

टीका:—आत्मा वास्तवमें परमार्थ (परम पदार्थ) है और वह (आत्मा) ज्ञान है;

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल सबहि एक हि पद जु है ।
जो ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे ॥ २०४ ॥

मप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिंदन्ति, किं तु तेपीदमेवैकं पदमभिनंदन्ति। तथा हि—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदन्ति, तथा आत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः, किं तु प्रत्युत तमभिनंदेयुः। ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।

और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते हैं (-समर्थन करते हैं)। इसी बातको दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं:—जैसे इस जगतमें बादलोंके पटलसे ढका हुआ सूर्य जो कि बादलोंके विघटन (बिखरने) अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके (सूर्यके) प्रकाशनकी (प्रकाश करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभावको नहीं भेदते, इसीप्रकार कर्मपटलके उदयसे ढका हुआ आत्मा जो कि कर्मके विघटन (क्षयोपशम) के अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके ज्ञानके हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) ज्ञानस्वभावको नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं। इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानका ही-अवलम्बन करना चाहिये। उसके आलम्बनसे ही (निज) पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्तिका नाश होता है, आत्माका लाभ होता है, और अनात्माका परिहार सिद्ध होता है, (ऐसा होनेसे) कर्म बलवान नहीं होते, रागद्वेषमोह उत्पन्न नहीं होते, (रागद्वेषमोहके बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रवके बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे साक्षात् मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञानके आलम्बनका ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थ:—कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद हुए हैं वे कहीं ज्ञानसामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये भेदोंको गौण करके, एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना, इसीसे सर्वसिद्धि होती है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गत्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ १४१ ॥

किं च—

(शार्दूलविक्रीडित)

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥ १४२ ॥

अर्थः—समस्त पदार्थोंके समूहरूपी रसको पी लेनेकी अतिशयतासे मानों मत्त हो गई हो ऐसी निर्मलसे भी निर्मल संवेदनव्यक्ति (-ज्ञानपर्याय, अनुभवमें आनेवाले ज्ञानके भेद) अपने आप उछलती है, वह यह भगवान अद्भुत निधिवाला चैतन्यरत्नाकर, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके साथ जिसका रस अभिन्न है ऐसा, एक होने पर भी अनेक होता हुआ, ज्ञानपर्यायरूपी तरंगोंके द्वारा दोलायमान होता है—उछलता है ।

भावार्थः—जैसे अनेक रत्नोंवाला समुद्र एक जलसे ही भरा हुआ है और उसमें छोटी बड़ी अनेक तरंगें उठती रहती हैं जो कि एक जलरूप ही हैं, इसीप्रकार अनेक गुणोंका भंडार यह ज्ञानसमुद्र आत्मा एक ज्ञानजलसे ही भरा हुआ है और कर्मोंके निमित्तसे ज्ञानके अनेक भेद—(व्यक्तिएँ) अपने आप प्रगट होते हैं उन्हें एक ज्ञानरूप ही जानना चाहिये, खण्ड खण्डरूपसे अनुभव नहीं करना चाहिये । १४१ ।

अब इसी बातको विशेष कहते हैं:—

अर्थः—कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे पराङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञाके बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश प्राप्त करें तो करो; (किन्तु) जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामय (भावरोगादि समस्त क्लेशोंसे रहित) पद है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते ।

भावार्थः—ज्ञान है वह साक्षात् मोक्ष है; वह ज्ञानसे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी क्रियाकांडसे उसकी प्राप्ति नहीं होती । १४२ ।

मप्येकमेव पदं; यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः
चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिंदन्ति, किं तु
दन्ति। तथा हि—यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य
मासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं
कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो
तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः, किं तु प्रत्युत तमभिनंदेयुः। ततो
स्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः,
भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा
न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं
कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।

और आत्मा एक ही पदार्थ है; इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है। यह
परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ, मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक
नहीं भेदते किन्तु वे भी इसी एक पदका अभिनन्दन करते हैं (-समर्थन करते हैं)। इसी
दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं:—जैसे इस जगतमें बादलोंके पटलसे ढका हुआ सूर्य जो कि
विघटन (बिखरने) अनुसार प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके (सूर्यके) प्रकाशनकी (
करने की) हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य) प्रकाशस्वभावको नहीं भेदते,
कर्मपटलके उदयसे ढका हुआ आत्मा जो कि कर्मके विघटन (क्षयोपशम) के
प्रगटताको प्राप्त होता है, उसके ज्ञानके हीनाधिकतारूप भेद उसके (सामान्य)
नहीं भेदते, प्रत्युत (उलटे) अभिनन्दन करते हैं। इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं,
आत्मस्वभावभूत एक ज्ञानका ही-अवलम्बन करना चाहिये। उसके आलम्बनसे ही (
पदकी प्राप्ति होती है, भ्रान्तिका नाश होता है, आत्माका लाभ होता है, और
सिद्ध होता है, (ऐसा होनेसे) कर्म बलवान नहीं होते, रागद्वेषमोह उत्पन्न नहीं होते,
द्वेषमोहके बिना) पुनः कर्मास्रव नहीं होता, (आस्रवके बिना) पुनः कर्म-बन्ध नहीं,
पूर्वबद्ध कर्म भुक्त होकर निर्जराको प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मोंका अभाव होनेसे
मोक्ष होता है। (ऐसे ज्ञानके आलम्बनका ऐसा माहात्म्य है।)

भावार्थः—कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञानमें जो भेद हुए हैं वे
सामान्यको अज्ञानरूप नहीं करते, प्रत्युत ज्ञानको प्रगट करते हैं; इसलिये भेदोंको गौण
एक ज्ञानसामान्यका आलम्बन लेकर आत्माको ध्यावना; इसीसे सर्वसिद्धि होती है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

किं च—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥ २०६ ॥

अर्थः—यह (ज्ञानस्वरूप) पद कर्मोंसे वास्तवमें [1]दुरासद है और सहज ज्ञानकी कलाके द्वारा वास्तवमें सुलभ है; इसलिये निजज्ञानकी कलाके बलसे इस पदको अभ्यास करनेके लिये (अनुभव करनेके लिये) जगत सतत प्रयत्न करो ।

भावार्थः—समस्त कर्मोंको छुड़ाकर ज्ञानकलाके बल द्वारा ही ज्ञानका अभ्यास करनेका आचार्यदेवने उपदेश दिया है । ज्ञानकी 'कला' कहनेसे यह सूचित होता है कि—जबतक संपूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप—मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञानकी उस कलाके आलम्बनसे ज्ञानका अभ्यास करनेसे केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है । १४३ ।

अब इस गाथामें इसी उपदेशको विशेष कहते हैं:—

गाथा २०६

अन्वयार्थः—(हे भव्य प्राणी !) तू [एतस्मिन्] इसमें (—ज्ञानमें) [नित्यं] नित्य [रतः] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [एतस्मिन्] इसमें [नित्यं] नित्य [संतुष्टः भव] संतुष्ट हो और [एतेन] इससे [तृप्तः भव] तृप्त हो; (ऐसा करनेसे) [तव] तुझे [उत्तमं सौख्यम्] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा ।

---

१. दुरासद = दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा ।

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहू वि ण लहंते ।
तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद् गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥२०५॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनात् ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभंते, इदमनुपलभमानाश्च कर्मभिर्न मुच्यंते । ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलभनीयम् ।

अब यही उपदेश गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २०५

अन्वयार्थः—[ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञानगुणसे रहित [बहवः अपि] बहुतसे लोग (अनेक प्रकारके कर्म करते हुए भी) [एतत् पदं तु] इस ज्ञानस्वरूप पदको [लभंते] प्राप्त नहीं करते; [तद्] इसलिये हे भव्य ! [यदि] यदि तू [कर्मपरिमोक्षम्] कर्मोंसे सर्वथा मुक्ति [इच्छसि] चाहता हो तो [नियतम् एतद्] नियत इस ज्ञानको [गृहाण] ग्रहण कर ।

टीकाः—कर्ममें (कर्मकाण्डमें) ज्ञानका प्रकाशित होना नहीं होता इसलिये समस्त कर्मसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, ज्ञानमें ही ज्ञानका प्रकाश होता है इसलिये केवल (एक) ज्ञानसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है । इसलिये बहुतसे ज्ञानशून्य जीव, बहुतसे कर्म करने पर भी इस ज्ञानपदको प्राप्त नहीं कर पाते और इस पदको प्राप्त न करते हुए वे कर्मोंसे मुक्त नहीं होते; इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेके इच्छुकको मात्र ज्ञानके आलम्बनसे, यह नियत एक पद प्राप्त करना चाहिये ।

भावार्थः—ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, कर्मसे नहीं; इसलिये मोक्षार्थीको ज्ञानका ही ध्यान करना ऐसा उपदेश है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

रे ज्ञानगुणसे रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके ।
तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे ॥२०५॥

(द्रुतविलंबित)

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल ।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

किं च—

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि ।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन् ।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥ २०६ ॥

अर्थः—यह (ज्ञानस्वरूप) पद कर्मोंसे वास्तवमें [1]दुरासद है और सहज ज्ञानकी कलाके द्वारा वास्तवमें सुलभ है; इसलिये निजज्ञानकी कलाके बलसे इस पदको अभ्यास करनेके लिये (अनुभव करनेके लिये) जगत सतत प्रयत्न करो ।

भावार्थः—समस्त कर्मोंको छुड़ाकर ज्ञानकलाके बल द्वारा ही ज्ञानका अभ्यास करनेका आचार्यदेवने उपदेश दिया है । ज्ञानकी 'कला' कहनेसे यह सूचित होता है कि-जबतक संपूर्ण कला (केवलज्ञान) प्रगट न हो तबतक ज्ञान हीनकलास्वरूप—मतिज्ञानादिरूप है; ज्ञानकी उस कलाके आलम्बनसे ज्ञानका अभ्यास करनेसे केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण कला प्रगट होती है । १४३ ।

अब इस गाथामें इसी उपदेशको विशेष कहते हैं:—

गाथा २०६

अन्वयार्थः—(हे भव्य प्राणी !) तू [**एतस्मिन्**] इसमें (-ज्ञानमें) [**नित्यं**] नित्य [**रतः**] रत अर्थात् प्रीतिवाला हो, [**एतस्मिन्**] इसमें [**नित्यं**] नित्य [**संतुष्टः भव**] संतुष्ट हो और [**एतेन**] इससे [**तृप्तः भव**] तृप्त हो; (ऐसा करनेसे) [**तव**] तुझे [**उत्तमं सौख्यम्**] उत्तम सुख [**भविष्यति**] होगा ।

१- दुरासद=दुष्प्राप्य; न जीता जा सके ऐसा ।

इसमें सदा रतिवंत बन, इसमें सदा संतुष्ट रे ।
इससे हि बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे ॥२०६॥

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव अन्यान् प्राक्षीः।

(उपजाति)

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देव-
श्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥ १४४ ॥

टीका:—(हे भव्य!) इतना ही सत्य (-परमार्थस्वरूप) आत्मा है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रमें ही सदा ही रति (-प्रीति, रुचि) प्राप्त कर; इतना ही सत्य कल्याण है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा ही संतोषको प्राप्त कर; इतना ही सत्य अनुभव करने योग्य है जितना यह ज्ञान है—ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्रसे ही सदा ही तृप्ति प्राप्त कर। इसप्रकार सदा ही आत्मामें रत, आत्मामें संतुष्ट और आत्मासे तृप्त ऐसे तुझको वचनअगोचर सुख प्राप्त होगा; और उस सुखको उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा, *दूसरोंसे मत पूछ। (वह अपनेको ही अनुभवगोचर है, दूसरोंसे क्यों पूछना पड़ेगा?)

भावार्थ:—ज्ञानमात्र आत्मामें लीन होना, उसीसे संतुष्ट होना और उसीसे तृप्त होना परम ध्यान है। उससे वर्तमान आनन्दका अनुभव होता है और थोड़े ही समयमें ज्ञानानन्दस्वरूप केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है। ऐसा करनेवाला पुरुष ही उस सुखको जानता है, दूसरेका इसमें प्रवेश नहीं है।

अब, ज्ञानानुभवकी महिमाका और आगामी गाथाकी सूचनाका काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—क्योंकि यह (ज्ञानी) स्वयं ही अचिंत्य शक्तिवाला देव है और चिन्मात्र चिन्तामणि है ×इसलिये जिसके सर्व अर्थ (प्रयोजन) सिद्ध हैं ऐसा स्वरूप होनेसे ज्ञानी दूसरेके परिग्रहसे क्या करेगा? (कुछ भी करनेका नहीं है।)

भावार्थ:—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा स्वयं ही अनंत शक्तिका धारक देव है और स्वयं ही चैतन्यरूपी चिंतामणि होनेसे वांछित कार्यकी सिद्धि करनेवाला है; इसलिये ज्ञानीके सर्व प्रयोजन

---

* पाठान्तर=प्रति प्रश्न न कर। × (चैतन्यरूप चिंतामणि रत्न है)

कुतो ज्ञानी परं न परिगृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥ २०७ ॥

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम् ।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २०७ ॥

यतो हि ज्ञानी यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य स्वः स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्टयवष्टंभात् आत्मानमात्मनः परिग्रहं नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ।

सिद्ध होनेसे उसे अन्य परिग्रहका सेवन करनेसे क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ भी साध्य नहीं । ऐसा निश्चयनयका उपदेश है । १४४ ।

अब प्रश्न करता है कि ज्ञानी परको क्यों ग्रहण नहीं करता ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २०७

अन्वयार्थः—[**आत्मानम् तु**] अपने आत्माको ही [**नियतं**] नियमसे [**आत्मनः परिग्रहं**] अपना परिग्रह [**विजानन्**] जानता हुआ [**कः नाम बुधः**] कौनसा ज्ञानी [**भणेत्**] यह कहेगा कि [**इदं परद्रव्यं**] यह परद्रव्य [**मम द्रव्यम्**] मेरा द्रव्य [**भवति**] है ?

टीका:—जो जिसका स्वभाव है वह उसका '*स्व' है और वह उसका (स्व भावका) स्वामी है—इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टिके आलम्बनसे ज्ञानी (अपने) आत्माको ही नियमसे आत्माका परिग्रह जानता है, इसलिये "यह मेरा 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ" ऐसा जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रह नहीं करता (अर्थात् परद्रव्यको अपना परिग्रह नहीं करता) ।

भावार्थः—यह लोकरीति है कि समझदार सयाना पुरुष दूसरेकी वस्तुको अपनी नहीं समझता, उसे ग्रहण नहीं करता । इसीप्रकार परमार्थज्ञानी अपने स्वभावको ही अपना धन समझता है, परके भावको अपना नहीं जानता, उसे ग्रहण नहीं करता । इसप्रकार ज्ञानी परका ग्रहण—सेवन नहीं करता ।

---

*स्व = धन; मिल्कियत; अपनी स्वामित्वकी चीज ।

'परद्रव्य यह मुझ द्रव्य,' यों तो कौन ज्ञानीजन कहे ।
निज आत्मको निजका परिग्रह, जानता जो नियमसे ॥ २०७ ॥

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ ॥ २

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम् ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्याम् । अजीवस्य तु यः स्वामी, स एव । एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत । मम तु एको ज्ञायक एव भावः अस्यैवाहं स्वामी; ततो मा भून्ममाजीवत्वं, ज्ञातैवाहं भविष्यामि, न परिगृह्णामि ।

"इसलिये मैं भी परद्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा" इसप्रकार अब (जीव) कहता है:—

गाथा २०८

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [परिग्रहः] परद्रव्य-परिग्रह [मम] हो [ततः] तो [अहम्] मैं [अजीवतां तु] अजीवत्वको [गच्छेयम्] प्राप्त हो जाऊँ। [यस्मात्] क्योंकि [अहं] मैं तो [ज्ञाता एव] ज्ञाता ही है [तस्मात्] इसलिये [परिग्रहः] (परद्रव्यरूप) परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है।

टीका:—यदि मैं अजीव परद्रव्यका परिग्रह करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा 'स्व' हो, और मैं भी अवश्य ही उस अजीवका स्वामी होऊँ, और जो अजीवका स्वामी होगा, वह वास्तवमें अजीव ही होगा। इसप्रकार अवशतः (लाचारीसे) मुझमें अजीवत्व आ जाये। मेरा तो एक ज्ञायक भाव ही जो 'स्व' है, उसीका मैं स्वामी हूँ; इसलिये मुझको अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा, मैं परद्रव्यका परिग्रह नहीं करूँगा।

भावार्थ:—निश्चयनयसे यह सिद्धान्त है कि जीवका भाव जीव ही है, उसके साथ जीवका स्व-स्वामी संबंध है; और अजीवका भाव अजीव ही है, उसके साथ अजीवका स्व-स्वामी संबंध है। यदि जीवके अजीवका परिग्रह माना जाय तो जीव अजीवत्वको प्राप्त हो

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूं अरे।
मैं नियमसे ज्ञाता हि, इससे नहिं परिग्रह मुझ बने ॥ २०८ ॥

अयं च मे निश्चयः—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥ २०६ ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम् ।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥ २०९ ॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि; यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी, अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ।

जाय; इसलिये परमार्थतः जीवके अजीवका परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानीके ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो यह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है, मैं तो ज्ञाता हूँ।

'और मेरा तो यह (निम्नोक्त) निश्चय है' यह अब कहते हैं:—

गाथा २०९

अन्वयार्थः—[छिद्यतां वा] छिद जाये, [भिद्यतां वा] अथवा भिद जाये; [नीयतां वा] अथवा कोई ले जाये, [अथवा विप्रलयम् यातु] अथवा नष्ट हो जाये, [यस्मात् तस्मात् गच्छतु] अथवा चाहे जिसप्रकारसे चला जाये, [तथापि] फिर भी [खलु] वास्तवमें [परिग्रहः] परिग्रह [मम न] मेरा नहीं है।

टीका:—परद्रव्य छिदे, अथवा भिदे, अथवा कोई उसे ले जाये, अथवा वह नष्ट हो जाये, या चाहे जिसप्रकारसे जाये, तथापि मैं परद्रव्यको परिग्रहण नहीं करूँगा; क्योंकि 'परद्रव्य मेरा स्व नहीं है,—मैं परद्रव्यका स्वामी नहीं हूँ, परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है,—परद्रव्य ही परद्रव्यका स्वामी है, मैं ही अपना स्व हूँ,—मैं ही अपना स्वामी हूँ'—ऐसा मैं जानता हूँ।

भावार्थ:—ज्ञानीको परद्रव्यके बिगड़ने-सुधरनेका हर्षविषाद नहीं होता।

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचनारूप काव्य कहते हैं:—

छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले।
या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे ॥ २०९ ॥

(वसंततिलका)

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥ १४५ ॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम् ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१० ॥

* अर्थः—इसप्रकार समस्त परिग्रहको सामान्यतः छोड़कर अब स्व-परके कारणरूप अज्ञानको छोड़नेका जिनका मन है ऐसा यह पुनः उसीको (-परिग्रहको) छोड़नेको प्रवृत्त हुआ है।

भावार्थः—स्वपरको एकरूप जाननेका कारण अज्ञान है। उस छोड़नेके इच्छुक जीवने पहले तो परिग्रहका सामान्यतः त्याग किया और अब (गाथाओंमें) उस परिग्रहको विशेषतः (भिन्न भिन्न नाम लेकर) छोड़ता है। १४५।

पहले यह कहते हैं कि ज्ञानीके धर्मका (पुण्यका) परिग्रह नहीं हैः—

गाथा २१०

अन्वयार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [धर्मम्] धर्मको (पुण्यको) [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [धर्मस्य] धर्मका [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किंतु) [ज्ञायकः] (धर्मका) ज्ञायक ही [भवति] है।

---

* इस कलशका अर्थ इसप्रकार भी हैः—इसप्रकार स्व-परके अविवेकके कारणरूप समस्त परिग्रहको सामान्यतः छोड़कर अब, जिसका मन अज्ञानको छोड़नेका है वह पुनः, उसीको विशेषतः छोड़नेको प्रवृत्त हुआ है।

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पुण्यका वो, पुण्यका ज्ञायक रहे ॥ २१० ॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २११ ॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम् ।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २११ ॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो

टीकाः—इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है-जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमयभाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके धर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) धर्मका केवल ज्ञायक ही है।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके अधर्मका (पापका) परिग्रह नहीं है:—

गाथा २११

अन्वयार्थः—[**अनिच्छः**] अनिच्छकको [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**अधर्मम्**] अधर्मको (पापको) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**अधर्मस्य**] अधर्मका [**अपरिग्रहः**] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [**ज्ञायकः**] (अधर्मका) ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी अधर्मको नहीं चाहता;

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पाप इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पापका वो, पापका ज्ञायक रहे ॥ २११ ॥

भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव
ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति । तेन
नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं

श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया
ऊह्यानि ।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥ २

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यशनम् ।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१२ ॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा

इसलिये ज्ञानीके अधर्मका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण (ज्ञानी) अधर्मका केवल ज्ञायक ही है। इसीप्रकार गाथामें 'अधर्म' शब्द स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन—यह सोलह शब्द रखकर, सोलह गाथासूत्र व्याख्यानरूप और इस उपदेशसे दूसरे भी विचार करना चाहिये।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके आहारका भी परिग्रह नहीं है:—

गाथा २१२

अन्वयार्थः—[अनिच्छः] अनिच्छकको [अपरिग्रहः] अपरिग्रही [भणितः] कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनम्] भोजनको [न इच्छति] नहीं चाहता, [तेन] इसलिये [सः] वह [अशनस्य] भोजनका [अपरिग्रहः तु] परिग्रही नहीं है, (किन्तु) [ज्ञायकः] (भोजनका) ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका:—इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव होता है, इसलिये अज्ञानमय भाव—इच्छाके अभावके कारण ज्ञानी भोजनको नहीं चाहता; इसलिये

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं अशन इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि अशनका वो, अशनका ज्ञायक रहे ॥ २१२ ॥

भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति। तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे पाणं।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २१३ ॥

ज्ञानीके भोजनका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) भोजनका केवल ज्ञायक ही है।

भावार्थः—ज्ञानीके आहारकी भी इच्छा नहीं होती इसलिये ज्ञानीका आहार करना वह भी परिग्रह नहीं है। यहाँ प्रश्न होता है कि—आहार तो मुनि भी करते हैं, उनके इच्छा है या नहीं ? इच्छाके बिना आहार कैसे किया जा सकता है ? समाधानः—असातावेदनीय कर्मके उदयसे जठराग्निरूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यांतरायके उदयसे उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोहके उदयसे आहारग्रहणकी इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छाको ज्ञानी कर्मोदयका कार्य जानते हैं, और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं। ज्ञानीके इच्छाके प्रति अनुरागरूप इच्छा नहीं होती अर्थात् उसके ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे। इसलिये उसके अज्ञानमय इच्छाका अभाव है। परजन्य इच्छाका स्वामित्व ज्ञानीके नहीं होता इसलिये ज्ञानी इच्छाका भी ज्ञायक ही है। इसप्रकार शुद्धनयकी प्रधानतासे कथन जानना चाहिये।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानी के पानी इत्यादिके पीनेका भी परिग्रह नहीं है:—

गाथा २१३

अन्वयार्थः—[**अनिच्छः**] अनिच्छकको [**अपरिग्रहः**] अपरिग्रही [**भणितः**] कहा है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पानम्**] पानको (पेयको) [**न इच्छति**] नहीं चाहता, [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह [**पानस्य**] पानका [**अपरिग्रहः तु**]

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पान इच्छा ज्ञानिके।
इससे न परिग्रहि पानका वो, पानका ज्ञायक रहे ॥ २१३ ॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक

एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥ २१४ ॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।
ज्ञायकभावो नियतो निरालंबस्तु सर्वत्र ॥ २१४ ॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति

परिग्रही नहीं, किन्तु [ज्ञायकः] (पानका) ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीकाः—इच्छा परिग्रह है । उसको परिग्रह नहीं है कि जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं होता, ज्ञानीके ज्ञानमय भाव ही होता है; इसलिये अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसके अभावसे ज्ञानी पानको (पानी इत्यादि पेयको) नहीं चाहता; इसलिये ज्ञानीके पानका परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभावके सद्भावके कारण यह (ज्ञानी) पानका केवल ज्ञायक ही है ।

भावार्थः—आहारकी गाथाके भावार्थकी भाँति यहाँ भी समझना चाहिये ।

ऐसे ही अन्य भी अनेक प्रकारके परजन्य भावोंको ज्ञानी नहीं चाहता, यह कहते हैं:—

गाथा २१४

अन्वयार्थः—[एवमादिकान् तु] इत्यादिक [विविधान्] अनेक प्रकारके [सर्वान् भावान् च] सर्व भावोंको [ज्ञानी] ज्ञानी [न इच्छति] नहीं चाहता; [सर्वत्र निरालम्बः तु] सर्वत्र (सभीमें) निरालम्ब वह [नियतः ज्ञायकभावः] निश्चित ज्ञायकभाव ही है ।

टीकाः—इत्यादिक अन्य भी अनेक प्रकारके जो परद्रव्यके स्वभाव हैं उन सभीको

ये आदि विधविध भाव बहु ज्ञानी न इच्छे सर्वको ।
सर्वत्र आलंबन रहित बस, नियत ज्ञायकभाव वो ॥ २१४ ॥

ज्ञानी, तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति । इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वम् । अथैवमयमशेषभावांतरपरिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ।

(स्वागता)

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्
ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगात्
नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥ १४६ ॥

ज्ञानी नहीं चाहता इसलिये ज्ञानीके समस्त परद्रव्यके भावोंका परिग्रह नहीं है । इसप्रकार ज्ञानीके अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध हुआ ।

अब इसप्रकार, समस्त अन्य भावोंके परिग्रहसे शून्यत्वके कारण जिसने समस्त अज्ञानका वमन कर डाला है ऐसा यह (ज्ञानी), सर्वत्र अत्यन्त निरालम्ब होकर, नियत टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव रहता हुआ, साक्षात् विज्ञानघन आत्माका अनुभव करता है ।

भावार्थः—पुण्य, पाप, अशन, पान इत्यादि समस्त अन्यभावोंका ज्ञानीको परिग्रह नहीं है क्योंकि समस्त परभावोंको हेय जाने तब उसकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं होती ।*

अब आगामी गाथा का सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोग (–अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—पूर्वबद्ध कर्मका उदय आने पर उपभोगसामग्री प्राप्त होती है यदि उसे अज्ञानमय रागभावसे भोगा जाये तो वह उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त हो । परन्तु ज्ञानीके अज्ञानमय रागभाव नहीं होता । वह जानता है कि जो पहले बाँधा था वह उदयमें आगया और छूट गया है; अब मैं उसे भविष्यमें नहीं चाहता । इसप्रकार ज्ञानीके रागरूप इच्छा नहीं है इसलिये उसका उपभोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता । १४६ ।

अब, यह कहते हैं कि ज्ञानीके त्रिकाल सम्बन्धी परिग्रह नहीं है:—

---

*पहले, मोक्षाभिलाषी सर्व परिग्रहको छोड़नेके लिये प्रवृत्त हुआ था; उसने इस गाथा तकमें समस्त परिग्रहभावको छोड़ दिया, और इसप्रकार समस्त अज्ञानको दूर कर दिया तथा ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव किया ।

उप्पण्णोदयभोगो वियोगबुद्धिए तस्स सो
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम्
कांक्षामनागतस्य च उदयस्य न करोति ज्ञानी ।।

कर्मोदयोपभोगस्तावत् अतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात् । अतीतस्तावदेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति । अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव बिभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा । प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टः, मयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ।

गाथा २१५

अन्वयार्थः—[उत्पन्नोदयभोगः] जो उत्पन्न (वर्तमान कालके) भोग है [सः] वह, [तस्य] ज्ञानीके [नित्यम्] सदा [वियोगबुद्ध्या] बुद्धिसे होता है [च] और [अनागतस्य उदयस्य] आगामी उदयकी [ज्ञानी [कांक्षाम्] वांछा [न करोति] नहीं करता ।

टीका:—कर्मके उदयका उपभोग तीन प्रकार का होता है—अतीत, [illegible] भविष्य कालका । इनमेंसे पहला, जो अतीत उपभोग है वह अतीतता (व्यतीत हो कारण ही परिग्रहभावको धारण नहीं करता । भविष्यका उपभोग यदि वांछामें [illegible] ही वह परिग्रहभावको धारण करता है; और जो वर्तमान उपभोग है वह यदि [illegible] हो रहा हो तो ही परिग्रहभावको धारण करता है ।

वर्तमान कर्मोदय उपभोग ज्ञानीके रागबुद्धिसे प्रवर्तमान दिखाई नहीं [illegible] ज्ञानीके अज्ञानमयभाव जो रागबुद्धि उसका अभाव है; और केवल वियोगबुद्धि ([illegible]) [illegible] ही प्रवर्तमान वह वास्तवमें परिग्रह नहीं है । इसलिये वर्तमान कर्मोदय-उपभोग ज्ञानीके [illegible] नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है) ।

अनागत उपभोग तो वास्तवमें ज्ञानीके वांछित ही नहीं है (अर्थात् ज्ञानीको [illegible] इच्छा ही नहीं होती) क्योंकि ज्ञानीके अज्ञानमय भाव-वांछा का अभाव है । इसलिये [illegible]

सांप्रत उदयके भोगमें जु वियोगबुद्धी ज्ञानिके ।
अरु भावि कर्मविपाककी, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे ।। २१५ ।।

क्लिि ज्ञानिनो नाकांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्।

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उभयं।
तं जाणगो दु णाणी उभयं पि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम्।
तद्ज्ञायकस्तु ज्ञानी उभयमपि न कांक्षति कदापि ॥ २१६ ॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो

कर्मोदय-उपभोग ज्ञानीके परिग्रह नहीं है (-परिग्रहरूप नहीं है)।

भावार्थः—अतीत कर्मोदय-उपभोग तो व्यतीत ही हो चुका है। अनागत उपभोगकी वांछा नहीं है; क्योंकि ज्ञानी जिस कर्मको अहितरूप जानता है उसके आगामी उदयके भोगकी वांछा क्यों करेगा? वर्तमान उपभोगके प्रति राग नहीं है; क्योंकि वह जिसे हेय जानता है उसके प्रति राग कैसे हो सकता है? इसप्रकार ज्ञानीके जो त्रिकाल संबंधी कर्मोदयका उपभोग है वह परिग्रह नहीं है। ज्ञानी वर्तमानमें जो उपभोगके साधन एकत्रित करता है वह तो जो पीड़ा नहीं सही जा सकती उसका उपचार करता है—जैसे रोगी रोगका उपचार करता है। यह, अशक्तिका दोष है।

अब प्रश्न होता है कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय-उपभोगकी वांछा क्यों नहीं करता? उसका उत्तर यह है:—

गाथा २१६

अन्वयार्थः—[यः वेदयते] जो भाव वेदन करता है (अर्थात् वेदकभाव) और [वेद्यते] जो भाव वेदन किया जाता है (अर्थात् वेद्यभाव) [उभयम्] वे दोनों भाव [समये समये] समय समय पर [विनश्यति] नष्ट हो जाते हैं— [तद्ज्ञायकः तु] ऐसा जाननेवाला [ज्ञानी] ज्ञानी [उभयम् अपि] उन दोनों भावोंकी [कदापि] कभी भी [न कांक्षति] वांछा नहीं करता।

टीकाः—ज्ञानी तो, स्वभावभावका ध्रुवत्व होनेसे, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप नित्य

रे! वेद्य वेदक भाव दोनों, समय समय विनष्ट है।
ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभयकी कांक्षा करे ॥ २१६ ॥

भावः कांक्षमाणं वेद्यभावं वेदयते स यावद्भवति
तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि
भावं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति; कस्तं
पृष्ठभावी भावोऽन्यस्तं वेदयते, तदा तद्भवनात्पूर्वं स विनश्यति;
कांक्षमाणभाववेदनानवस्था । तां च विजानन् ज्ञानी न किंचित्

है; और जो [1]वेद्य-वेदक (दो) भाव हैं वे, विभावभावोंका
वहाँ, जो भाव कांक्षमाण (अर्थात् वांछा करनेवाला) ऐसे
वेद्यभावका अनुभव करनेवाला है वह (वेदकभाव) जबतक उत्पन्न होता है
वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; उसके विनष्ट हो जाने पर, वेदकभाव
यह कहा जाये कि कांक्षमाण वेद्यभावके बाद उत्पन्न होनेवाले अन्य वेद्यभावका
तो-उस अन्य वेद्यभावके उत्पन्न होनेसे पूर्व ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है; तब
दूसरे वेद्यभावका कौन वेदन करेगा ? यदि यह कहा जाये कि वेदकभावके बाद
दूसरा वेदकभाव उसका वेदन करता है, तो-उस दूसरे वेदकभावके उत्पन्न होनेसे
वेद्यभाव विनष्ट हो जाता है; तब फिर वह दूसरा वेदकभाव किसका वेदन करेगा ?
कांक्षमाण भावके वेदनकी अनवस्था है, उसे जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता।

भावार्थ:—वेदकभाव और वेद्यभावमें काल भेद है। जब वेदकभाव होता है
वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब
आता है तब वेद्यभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभाव किसका वेदन करेगा ?
जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव विनष्ट हो चुकता है; तब फिर वेदकभावके
वेदन करेगा ? ऐसी अव्यवस्थाको जानकर ज्ञानी स्वयं ज्ञाता ही रहता है,

यहाँ प्रश्न होता है कि—आत्मा तो नित्य है इसलिये वह दोनों भावोंका वेदन
सकता है; तब फिर ज्ञानी वांछा क्यों न करे ? समाधान:—वेद्य-वेदक भाव
स्वभावभाव नहीं, इसलिये वे विनाशीक हैं; अतः वांछा करनेवाला वेद्यभाव जबतक
है तबतक वेदकभाव (भोगनेवाला भाव) नष्ट हो जाता है, और दूसरा वेदकभाव
तबतक वेद्यभाव नष्ट हो जाता है; इसप्रकार वांछित भोग नहीं होता। इसलिये ज्ञानी मिथ्या
वांछा क्यों करे ? जहाँ मनोवांछितका वेदन नहीं होता वहाँ वांछा करना अज्ञान है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—वेद्य-वेदकरूप विभावभावोंकी चलता (अस्थिरता) होनेसे

---

[1] वेद्य—वेदनमें आने योग्य, वेदक—वेदनेवाला; अनुभव करनेवाला।

(स्वागता)

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान्
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥

तथा हि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥ २१७ ॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥ २१७ ॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः कतरेऽपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बंधनिमित्ताः यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः ।

वांछितका वेदन नहीं होता; इसलिये ज्ञानी कुछ भी वांछा नहीं करता, सबके प्रति अत्यन्त विरक्तताको (वैराग्यभावको) प्राप्त होता है ।

भावार्थः—अनुभवगोचर वेद्य-वेदक विभावोंमें काल भेद है, उनका मिलाप नहीं होता, (क्योंकि वे कर्मके निमित्तसे होते हैं इसलिये अस्थिर हैं); इसलिये ज्ञानी आगामी काल सम्बन्धी वांछा क्यों करे ? । १४७ ।

इसप्रकार ज्ञानीको सर्व उपभोगोंके प्रति वैराग्य है, यह कहते हैं ।

गाथा २१७

अन्वयार्थः—[**बंधोपभोगनिमित्तेषु**] बंध और उपभोगके निमित्तभूत [**संसारदेहविषयेषु**] संसारसंबंधी और देहसम्बन्धी [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसानके उदयोंमें [**ज्ञानिनः**] ज्ञानीके [**रागः**] राग [**न एव उत्पद्यते**] उत्पन्न नहीं होता ।

टीकाः—इस लोकमें जो अध्यवसानके उदय हैं वे कितने ही तो संसार सम्बन्धी हैं और कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं । उनमेंसे जितने संसारसंबन्धी हैं, उतने बंधके निमित्त हैं और जितने शरीर सम्बन्धी हैं उतने उपभोगके निमित्त हैं । जितने बंधके निमित्त हैं उतने तो

संसारतनसम्बन्धि, अरु बन्धोपभोगनिमित्त जो ।
उन सर्व अध्यवसानउदय जु, राग होय न ज्ञानिको ॥ २१७ ॥

यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः यतरे अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन भावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ।

(स्वागता)

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १४८ ॥

(स्वागता)

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९ ॥

रागद्वेषमोहादिक हैं और जितने उपभोगके निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं। इन ज्ञानीके राग नहीं है; क्योंकि वे सभी नाना द्रव्योंके स्वभाव हैं इसलिये, टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव स्वभाववाले ज्ञानीके उनका निषेध है।

भावार्थः—जो अध्यवसानके उदय संसार सम्बन्धी हैं और बंधनके निमित्त हैं वे तो राग, द्वेष, मोह इत्यादि हैं तथा जो अध्यवसानके उदय देह सम्बन्धी हैं और उपभोगके निमित्त हैं वे सुख, दुःख इत्यादि हैं। वे सभी (अध्यवसानके उदय), नाना द्रव्योंके (अर्थात् पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य जो कि संयोगरूप हैं, उनके) स्वभाव हैं; ज्ञानीका तो एक ज्ञायकस्वभाव है। इसलिये ज्ञानीके उनका निषेध है; अतः ज्ञानीको उनके प्रति राग या प्रीति नहीं है। परद्रव्य परभाव संसारमें भ्रमणके कारण हैं, यदि उनके प्रति प्रीति करे तो ज्ञानी कैसा ?

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिसे जो कसायला नहीं किया गया हो ऐसे वस्त्रमें रंगका संयोग, वस्त्रके द्वारा अंगीकार न किया जानेसे, ऊपर ही लौटता है (रह जाता है)-वस्त्रके भीतर प्रवेश नहीं करता, इसीप्रकार ज्ञानी रागरूपी रससे रहित है इसलिये उसे कर्म परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—जैसे लोध और फिटकरी इत्यादिके लगाये बिना वस्त्रमें रंग नहीं चढ़ता इसीप्रकार रागभावके बिना ज्ञानीके कर्मोदयका भोग परिग्रहत्वको प्राप्त नहीं होता। १४८।

अब पुनः कहते हैं कि:—

अर्थः—क्योंकि ज्ञानी निजरससे ही सर्व रागरसके त्यागरूप स्वभाववाला है इसलिये

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९॥

ज्ञानी रागप्रहायकः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम् ॥ २१८ ॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम् ॥ २१९ ॥

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते तदलेपस्वभावत्वात्, तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागत्याग-

---

वह कर्मोंके बीच पड़ा हुआ भी सर्व कर्मोंसे लिप्त नहीं होता। १४९।

अब इसी अर्थका विवेचन गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा २१८-२१९

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [रागप्रहायकः] रागको छोड़नेवाला है वह [कर्ममध्यगतः] कर्मोंके मध्यमें रहा हुआ हो [तु] तो भी [रजसा] कर्मरूपी रजसे [नो लिप्यते] लिप्त नहीं होता— [यथा] जैसे [कनकम्] सोना [कर्दममध्ये] कीचड़के बीच पड़ा हुआ हो तो भी लिप्त नहीं होता। [पुनः] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति [रक्तः] रागी है वह [कर्ममध्यगतः] कर्मोंके मध्य रहा हुवा [कर्मरजसा] कर्मरजसे [लिप्यते तु] लिप्त होता है—[यथा] जैसे [लोहम्] लोहा [कर्दममध्ये] कीचड़के बीच रहा हुआ लिप्त हो जाता है (अर्थात् उसे जंग लग जाती है)।

टीकाः—जैसे वास्तवमें सोना कीचड़के बीच पड़ा हो तो भी वह कीचड़से लिप्त नहीं होता (अर्थात् उसे जंग नहीं लगती) क्योंकि उसका स्वभाव अलिप्त रहना है, इसीप्रकार वास्तवमें ज्ञानी कर्मोंके मध्य रहा हुवा हो तथापि वह उनसे लिप्त नहीं होता क्योंकि सर्व पर-

---

हो द्रव्य सबमें रागवर्जक, ज्ञानि कर्मों मध्यमें।
पर कर्मरजसे लिप्त नहिं, ज्यों कनक कर्दममध्यमें ॥ २१८ ॥
पर द्रव्य सबमें रागशील, अज्ञानि कर्मों मध्यमें।
वह कर्मरजसे लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्यमें ॥ २१९ ॥

शीलत्वे सति तद्लेपस्वभावत्वात् । यथा लोहं
तन्लेपस्वभावत्वात्, तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन्
कृतरागोपादानशीलत्वे सति तन्लेपस्वभावत्वात् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥

द्रव्योंके प्रति किये जानेवाला राग उसका त्यागरूप स्वभावपना होनेसे ज्ञानी
है। जैसे कीचड़के बीच पड़ा हुआ लोहा कीचड़से लिप्त हो जाता है (अर्थात्
जाती है) क्योंकि उसका स्वभाव लिप्त होना है, इसीप्रकार वास्तवमें अज्ञानी
रहा हुआ कर्मोंसे लिप्त हो जाता है क्योंकि सर्व परद्रव्योंके प्रति किये जानेवाला
ग्रहणरूप स्वभावपना होनेसे अज्ञानी लिप्त होनेके स्वभाववाला है।

भावार्थः—जैसे कीचड़में पड़े हुए सोनेको जंग नहीं लगती और लोहेको
है, इसीप्रकार कर्मोंके मध्य रहा हुआ ज्ञानी कर्मोंसे नहीं बँधता तथा अज्ञानी बँध जाता
यह ज्ञान-अज्ञानकी महिमा है।

अब इस अर्थका और आगामी कथनका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैंः—

अर्थः—इस लोकमें जिस वस्तुका जैसा स्वभाव होता है उसका वैसा स्वभाव
वस्तुके अपने वशसे ही (अपने आधीन ही) होता है। वस्तुका ऐसा
द्वारा किसी भी प्रकारसे अन्य जैसा नहीं किया जा सकता। इसलिये जो निरन्तर
परिणमित होता है वह कभी भी अज्ञान नहीं होता, इसलिये हे ज्ञानी ! तू (
उपभोगको भोग, इस जगतमें परके अपराधसे उत्पन्न होनेवाला बन्ध तुझे नहीं है (
परके अपराधसे तुझे बन्ध नहीं होता)।

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव वस्तुके अपने आधीन ही है। इसलिये जो आत्मा स्वयं
ज्ञानरूप परिणमित होता है उसे परद्रव्य अज्ञानरूप कभी भी परिणमित नहीं करा सकता;
ऐसा होनेसे यहाँ ज्ञानीसे कहा है कि—तुझे परके अपराधसे बन्ध नहीं होता इसलिये तू उप-
भोगको भोग। तू ऐसी शंका मत कर कि उपभोगके भोगनेसे मुझे बन्ध होगा। यदि ऐसी
शंका करेगा तो 'परद्रव्यसे आत्माका बुरा होता है' ऐसी मान्यताका प्रसंग आ जायेगा।
—इसप्रकार यहाँ परद्रव्यसे अपना बुरा होना माननेकी जीवकी शंका मिटाई है; यह नहीं
समझना चाहिये कि भोग भोगनेकी प्रेरणा करके स्वच्छन्द कर दिया है। स्वेच्छाचारी होना
तो अज्ञानभाव है यह आगे कहेंगे। १५०।

भुंजंतस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
संखस्स सेदभावो ण वि सक्कदि किण्हगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे।
भुंजंतस्स वि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिदूण।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३॥

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम् ॥ २२० ॥
तथा ज्ञानिनोऽपि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि।
भुंजानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम् ॥ २२१ ॥
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥ २२२ ॥
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥ २२३ ॥

अब इसी अर्थको दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं:—

गाथा २२०–२२३

अन्वयार्थः—[**शंखस्य**] जैसे शंख [**विविधानि**] अनेक प्रकारके

ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तू भोगते।
पर शंखके शुक्लत्वको नहिं, कृष्ण कोई कर सके ॥ २२० ॥
त्यों ज्ञानि भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त वस्तू भोगते।
पर ज्ञान ज्ञानीका नहीं, अज्ञान कोई कर सके ॥ २२१ ॥
जबही स्वयं वो शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभावको।
पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्वको ॥ २२२ ॥
त्यों ज्ञानि भी जब ही स्वयं निज, छोड़ ज्ञानस्वभावको।
अज्ञानभावों परिणमे, अज्ञानताको प्राप्त हो ॥ २२३ ॥

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः, तथा किल ज्ञानिनः [illegible]स्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत परस्य .. ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः । यथा च यदा स

[सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] [भुञ्जानस्य अपि] भोगता है—खाता है तथापि [श्वेतभावः] [कृष्णकः कर्तुं न अपि शक्यते] (किसीके द्वारा) काला नहीं किया [तथा] इसीप्रकार [ज्ञानिनः अपि] ज्ञानी भी [विविधानि] अनेक [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त, अचित्त और मिश्र [द्रव्याणि] [भुञ्जानस्य अपि] भोगे तथापि उसके [ज्ञानं] ज्ञानको [अज्ञानतां] (किसीके द्वारा) अज्ञानरूप नहीं किया जा सकता ।

[यदा] जब [सः एव शंखः] वही शंख (स्वयं) [तकं] उस श्वेत स्वभावको [प्रहाय] छोड़कर [कृष्णभावं गच्छेत्] कृष्णभावको होता है (कृष्णरूप परिणमित होता है) [तदा] तब [शुक्लत्वं प्रजह्यात्] शुक्लत्वको छोड़ देता है (अर्थात् काला हो जाता है), [तथा] इसीप्रकार [खलु] वास्तवमें [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी (स्वयं) [यदा] जब [तकं ज्ञानस्वभावं] उस ज्ञानस्वभावको [प्रहाय] छोड़कर [अज्ञानेन] अज्ञानरूप [परिणतः] परिणमित होता है [तदा] तब [अज्ञानतां] अज्ञानताको [गच्छेत्] प्राप्त होता है ।

टीका:—जैसे यदि शंख परद्रव्यको भोगे-खाये तथापि उसका श्वेतपन परके द्वारा काला नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप करनेका निमित्त (कारण) नहीं हो सकता, इसीप्रकार यदि ज्ञानी परद्रव्यको भोगे तो भी उसका ज्ञान परके द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता क्योंकि पर अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्यको परभावस्वरूप करनेका निमित्त नहीं हो सकता । इसलिये ज्ञानीको दूसरेके अपराधसे बन्ध नहीं होता ।

और जब वही शंख, परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, श्वेतभावको छोड़कर स्वयमेव कृष्णरूप परिणमित होता है तब उसका श्वेतभाव [illegible]

मुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्, तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमते तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्। ततो ज्ञानिनो यदि (?) स्वापराधनिमित्तो बंधः।

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥ १५१ ॥

है (स्वयमेव किये गये कृष्णभावरूप होता है), इसीप्रकार जब वही ज्ञानी, परद्रव्यको भोगता हुआ अथवा न भोगता हुआ, ज्ञानको छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित होता है तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान होता है। इसलिये ज्ञानीके यदि बंध हो तो वह अपने ही अपराधके निमित्तसे (स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) होता है।

भावार्थः—जैसे श्वेत शंख परके भक्षणसे काला नहीं होता किंतु जब वह स्वयं ही कालिमारूप परिणमित होता है तब काला हो जाता है, इसीप्रकार ज्ञानी परके उपभोगसे अज्ञानी नहीं होता किन्तु जब स्वयं ही अज्ञानरूप परिणमित होता है तब अज्ञानी होता है और तब बंध करता है।

अब इसका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—हे ज्ञानी! तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है तथापि यदि तू यह कहे कि "परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकारसे भोगनेवाला है, जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है यह महा खेदकी बात है! यदि तू कहे कि "सिद्धान्तमें यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूँ," तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है? तू ज्ञानरूप होकर (–शुद्ध स्वरूपमें) निवास कर, अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा—अज्ञानरूप परिणमित होगा तो) तू निश्चयतः अपने अपराधसे बंधको प्राप्त होगा।

भावार्थः—ज्ञानीको कर्म तो करना ही उचित नहीं है। यदि परद्रव्य समझकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं है। परद्रव्यके भोक्ताको तो जगतमें चोर कहा जाता है, अन्यायी कहा

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यस्कर्मणः
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥

पुरिसो जह को वि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
तो सो वि देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२४ ॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवए सुहणिमित्तं ।
तो सो वि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥ २२५ ॥

जाता है। और जो उपभोगसे बंध नहीं कहा सो तो, ज्ञानी इच्छाके बिना ही उदयमें आये हुएको भोगता है वहाँ उसे बन्ध नहीं कहा। यदि वह स्वयं इच्छासे भोगे तब तो स्वयं अपराधी हुवा, और तब उसे बन्ध क्यों न हो ? । १५१ ।

अब आगेकी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता (कि तू मेरे फलको भोग), *फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके फलको पाता है; इसलिये ज्ञानरूप रहता हुआ और जिसने कर्मके प्रति रागकी रचना दूर की है ऐसा मुनि, कर्मफलके परित्यागरूप ही एक स्वभाववाला होनेसे, कर्म करता हुआ भी कर्मसे नहीं बँधता।

भावार्थः—कर्म तो बलात् कर्ताको अपने फलके साथ नहीं जोड़ता किंतु जो कर्मको करता हुआ उसके फलकी इच्छा करता है, वही उसका फल पाता है। इसलिये जो ज्ञानरूप वर्तता है और बिना ही रागके कर्म करता है वह मुनि कर्मसे नहीं बँधता क्योंकि उसे कर्मफलकी इच्छा नहीं है । १५२ ।

---

* कर्मका फल अर्थात् (१) रंजित परिणाम, अथवा (२) सुख (–रंजित परिणाम)को उत्पन्न करनेवाले आगामी भोग।

ज्यों जगतमें को पुरुष, वृत्तिनिमित्त सेवे भूपको ।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोग देवे पुरुषको ॥ २२४ ॥
त्यों जीवपुरुष भी कर्मरजका सुखअरथ सेवन करे ।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोग देवे जीवको ॥ २२५ !

जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवए रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६ ॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥

पुरुषो यथा कोऽपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम् ।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिः विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

अब इस अर्थको दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं:—

गाथा २२४–२२७

अन्वयार्थः—[**यथा**] जैसे [**इह**] इस जगतमें [**कः अपि पुरुषः**] कोई भी पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं तु**] आजीविकाके लिये [**राजानम्**] राजाकी [**सेवते**] सेवा करता है [**तद्**] तो [**सः राजा अपि**] वह राजा भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है, [**एवम् एव**] इसीप्रकार [**जीवपुरुषः**] जीवपुरुष [**सुखनिमित्तम्**] सुखके लिये [**कर्मरजः**] कर्मरजकी [**सेवते**] सेवा करता है [**तद्**] तो [**तत् कर्म अपि**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख उत्पन्न करनेवाले [**विविधान्**] अनेक प्रकारके [**भोगान्**] भोग [**ददाति**] देता है ।

अरु वो हि नर जब वृत्तिहेतू भूपको सेवे नहीं ।
तो भूप भी सुखजनक विधविध भोगको देवे नहीं ॥२२६॥
सद्दृष्टिको त्यों विषय हेतू कर्मरजसेवन नहीं ।
तो कर्म भी सुखजनक विधविध भोगको देता नहीं ॥२२७॥

यथा कश्चित्पुरुषो फलार्थं राजानं सेवते ततः स
जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति।
फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति, तथा
कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम्।

[पुनः] और [यथा] जैसे [सः एव पुरुषः] वही पुरुष आजीविकाके लिये [राजानम्] राजाकी [न सेवते] सेवा नहीं करता [सः राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख [विविधान्] अनेक प्रकारके [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता, एव] इसीप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [विषयार्थं] विषयके लिये [कर्मरजकी [न सेवते] सेवा नहीं करता [तद्] इसलिये [तत् कर्म] भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख उत्पन्न करनेवाले [विविधान्] अनेक [भोगान्] भोग [न ददाति] नहीं देता।

टीकाः—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा करता है तो वह राजा देता है, इसीप्रकार जीव फलके लिये कर्मकी सेवा करता है तो वह कर्म उसे फल देता और जैसे वही पुरुष फलके लिये राजाकी सेवा नहीं करता तो वह राजा उसे फल नहीं इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि फलके लिये कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिये वह कर्म उसे फल देता। यह तात्पर्य है।

भावार्थः—यहाँ एक आशय तो इसप्रकार है:—अज्ञानी विषयसुखके लिये रंजित परिणामके लिए उदयागत कर्मकी सेवा करता है इसलिये वह कर्म उसे (रंजित परिणाम देता है। ज्ञानी विषयसुखके लिये अर्थात् रंजित परिणामके लिए कर्मकी सेवा नहीं करता इसलिये वह कर्म उसे रंजित परिणाम उत्पन्न नहीं करता।

दूसरा आशय इसप्रकार है:—अज्ञानी सुख (–रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंकी अभिलाषासे व्रत, तप इत्यादि शुभ कर्म करता है इसलिये वह कर्म उसे रागादिपरिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगोंको देता है। ज्ञानीके सम्बन्धमें इससे विपरीत समझना चाहिये।

इसप्रकार अज्ञानी फलकी वांछासे कर्म करता है इसलिये वह फलको पाता है और ज्ञानी फलकी वांछा बिना ही कर्म करता है इसलिये वह फलको प्राप्त नहीं करता।

अब, "जिसे फलकी इच्छा नहीं है वह कर्म क्यों करे ?" इस आशंकाको दूर करनेके लिये काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किंत्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ।।१५३।।

(शार्दूलविक्रीडित)

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ।। १५४ ।।

अर्थः—जिसने कर्मका फल छोड़ दिया है वह कर्म करता है ऐसी प्रतीति तो हम नहीं कर सकते। किन्तु वहाँ इतना विशेष है कि—उसे (ज्ञानीको) भी किसी कारणसे कोई ऐसा कर्म अवशतासे (-उसके वश बिना) आ पड़ता है। उसके आ पड़ने पर भी, जो अकम्प परमज्ञानस्वभावमें स्थित है ऐसा ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ?

भावार्थः—ज्ञानीके परवशतासे कर्म आ पड़ता है तो भी वह ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। इसलिये ज्ञानसे अचलायमान वह ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है ? ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीकी नहीं है।

अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी ही समझना चाहिए। उनमेंसे, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत सम्यग्दृष्टि और आहारविहार करते हुए मुनियोंके बाह्यक्रियाकर्म होते हैं, तथापि ज्ञानस्वभावसे अचलित होनेके कारण निश्चयसे वे, बाह्यक्रियाकर्मके कर्ता नहीं हैं, ज्ञानके ही कर्ता हैं। अन्तरंग मिथ्यात्वके अभावसे तथा यथासंभव कषायके अभावसे उनके परिणाम उज्ज्वल हैं। उस उज्ज्वलताको ज्ञानी ही जानते हैं, मिथ्यादृष्टि उस उज्ज्वलताको नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं, वे बाहरसे ही भला-बुरा मानते हैं; अन्तरात्माकी गतिको बहिरात्मा क्या जाने ? । १५३ ।

अब, इसी अर्थका समर्थक और आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसके भयसे चलायमान होते हुवे—(खलबलाते हुवे)—तीनों लोक अपने मार्गको छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी, ये सम्यग्दृष्टि जीव, स्वभावतः निर्भय होनेसे, समस्त शंकाको छोड़कर, स्वयं अपनेको (आत्माको) जिसका ज्ञानरूपी शरीर अवध्य है ऐसा जानते हुए, ज्ञानसे च्युत नहीं होते। ऐसा परम साहस करनेके लिये मात्र सम्यग्दृष्टि ही समर्थ हैं।

सम्मदिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥ २२८ ॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ॥ २२८ ॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः सन्तोऽत्यंतकर्मनिरपेक्षतया वर्तंते, तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकितगुणयुक्त होते हैं इसलिये चाहे जैसे शुभाशुभ कर्मोदयके समय भी वे ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं। जिसके भयसे तीनों लोकके जीव कॉप उठते हैं—चलायमान हो उठते हैं और अपना मार्ग छोड़ देते हैं ऐसा वज्रपात होने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूपको ज्ञानशरीरी मानता हुआ ज्ञानसे चलायमान नहीं होता। उसे ऐसी शंका नहीं होती कि इस वज्रपातसे मेरा नाश हो जायेगा; यदि पर्यायका विनाश हो तो ठीक ही है क्योंकि उसका तो विनाशीक स्वभाव ही है। १५४।

अब इस अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २२८

अन्वयार्थः—[सम्यग्दृष्टयः जीवाः] सम्यग्दृष्टि जीव [निश्शंकाः भवंति] निःशंक होते हैं, [तेन] इसलिये [निर्भयाः] निर्भय होते हैं; [तु] और [यस्मात्] क्योंकि वे [सप्तभयविप्रमुक्ताः] सप्त भयोंसे रहित होते हैं [तस्मात्] इसलिये [निःशंकाः] निःशंक होते हैं (—अडोल होते हैं)।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही सर्व कर्मोंके फलके प्रति निरभिलाष होते हैं इसलिये वे कर्मके प्रति अत्यन्त निरपेक्षतया वर्तते हैं, इसलिये वास्तवमें वे अत्यन्त निःशंक दारुण (सुदृढ़) निश्चयवाले होनेसे अत्यन्त निर्भय हैं ऐसी संभावना की जाती है (अर्थात् ऐसा योग्यतया माना जाता है)।

अब सात भयोंके कलशरूप काव्य कहे जाते हैं, उसमेंसे पहले इहलोक और परलोकके भयोंका एक काव्य कहते हैं:—

सम्यक्ति जीव होते निःशंकित इसहि से निर्भय रहैं ।
हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसही से वे निःशंक हैं ॥ २२८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५६ ॥

अर्थः—यह चित्स्वरूप लोक ही भिन्न आत्माका (परसे भिन्नरूप परिणमित होते हुए आत्माका) शाश्वत, एक और सकलव्यक्त (–सर्वकालमें प्रगट) लोक है; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोकको यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है—अनुभव करता है। यह चित्स्वरूप लोक ही तेरा है, उससे भिन्न दूसरा कोई लोक—यह लोक या परलोक—तेरा नहीं है ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है, इसलिये ज्ञानीको इस लोकका तथा परलोकका भय कहाँसे हो ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका (अपने ज्ञान-स्वभावका) सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—'इस भवमें जीवन पर्यंत अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं' ? ऐसी चिंता रहना इहलोकका भय है। 'परभवमें मेरा क्या होगा ?' ऐसी चिंताका रहना परलोकका भय है। ज्ञानी जानता है कि—यह चैतन्य ही मेरा एक, नित्य लोक है जो कि सदाकाल प्रगट है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लोक मेरा नहीं है। यह मेरा चैतन्यस्वरूप लोक किसीके बिगाड़े नहीं बिगड़ता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीके इस लोकका अथवा परलोकका भय कहाँ से हो ? कभी नहीं हो सकता वह तो अपनेको स्वाभाविक ज्ञानरूप ही अनुभव करता है। १५५।

अब वेदनाभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अभेदस्वरूप वर्तते हुवे वेद्य-वेदकके बलसे (वेद्य और वेदक अभेद ही होते हैं ऐसी वस्तुस्थितिके बलसे) एक अचल ज्ञान ही स्वयं निराकुल पुरुषोंके द्वारा (–ज्ञानियोंके द्वारा) सदा वेदनमें आता है, यह एक ही वेदना (ज्ञानवेदन) ज्ञानियोंके है। (आत्मा वेदक है और ज्ञान वेद्य है।) ज्ञानीके दूसरी कोई आगंत (–पुद्गलसे उत्पन्न) वेदना होती ही नहीं, इसलिये उसे वेदनाका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—सुखदुःखको भोगना वेदना है। ज्ञानीके अपने एक ज्ञानमात्र स्वरूपका

(शार्दूलविक्रीडित)

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५८ ॥

ही उपभोग है। वह पुद्गलसे होनेवाली वेदनाको वेदना ही नहीं समझता, इसलिये वेदनाभय नहीं है। वह तो सदा निर्भय वर्तता हुआ ज्ञानका अनुभव करता है। १५६।

अब अरक्षाभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो सत् है वह नष्ट नहीं होता ऐसी वस्तुस्थिति नियमरूपसे प्रगट है। यह ज्ञान भी स्वयमेव सत् (सत्‌स्वरूप वस्तु) है (इसलिये नाशको प्राप्त नहीं होता), इसलिये परके द्वारा उसका रक्षण कैसा ? इसप्रकार (ज्ञान निजसे ही रक्षित है इसलिये) उसका किंचिन्मात्र भी अरक्षण नहीं हो सकता इसलिये (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानीको अरक्षाका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—सत्तास्वरूप वस्तुका कभी नाश नहीं होता। ज्ञान भी स्वयं सत्तास्वरूप वस्तु है; इसलिये वह ऐसा नहीं है कि जिसकी दूसरोंके द्वारा रक्षा की जाये तो रहे, अन्यथा नष्ट हो जाये। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे अरक्षाका भय नहीं होता; वह तो निःशंक वर्तता हुआ स्वयं अपने स्वाभाविक ज्ञानका सदा अनुभव करता है। १५७।

अब अगुप्तिभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें वस्तुका स्व-रूप ही (निजरूप ही) वस्तुकी परम 'गुप्ति' है क्योंकि स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता; और अकृतज्ञान (-जो किसीके द्वारा नहीं किया गया है ऐसा स्वाभाविक ज्ञान-) पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप है; (इसलिये ज्ञान आत्माकी परम गुप्ति है।) इसलिये आत्माकी किंचिन्मात्र भी अगुप्तता न होनेसे ज्ञानीको अगुप्तिका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—'गुप्ति' अर्थात् जिसमें कोई चोर इत्यादि प्रवेश न कर सके ऐसा किला

(शार्दूलविक्रीडित)

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १५९ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥ १६० ॥

भोंयरा (तलघर) इत्यादि; उसमें प्राणी निर्भयतासे निवास कर सकता है। ऐसा गुप्त प्रदेश न हो और खुला स्थान हो तो उसमें रहनेवाले प्राणीको अगुप्तताके कारण भय रहता है। ज्ञानी जानता है कि—वस्तुके निज स्वरूपमें कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता इसलिये वस्तुका स्वरूप ही वस्तुकी परम गुप्ति अर्थात् अभेद्य किला है। पुरुषका अर्थात् आत्माका स्वरूप ज्ञान है; उस ज्ञानस्वरूपमें रहा हुआ आत्मा गुप्त है क्योंकि ज्ञानस्वरूपमें दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अगुप्तताका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है। १५८।

अब मरणभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—प्राणोंके नाशको (लोग) मरण कहते हैं। निश्चयसे आत्माके प्राण तो ज्ञान है। वह (ज्ञान) स्वयमेव शाश्वत होनेसे उसका कदापि नाश नहीं होता; इसलिये आत्माका मरण किंचित्मात्र भी नहीं होता। अतः (ऐसा जाननेवाले) ज्ञानीको मरणका भय कहाँसे हो सकता है ? वह तो स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थः—इन्द्रियादि प्राणोंके नाश होनेको लोग मरण कहते हैं। किन्तु परमार्थतः आत्माके इन्द्रियादिक प्राण नहीं हैं, उसके तो ज्ञान प्राण हैं। ज्ञान अविनाशी है—उसका नाश नहीं होता; अतः आत्माको मरण नहीं है। ज्ञानी ऐसा जानता है इसलिये उसे मरणका भय नहीं है; वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानस्वरूपका निरंतर अनुभव करता है। १५९।

अब आकस्मिकभयका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह स्वतःसिद्ध ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है। वह जबतक है तबतक सदा ही वही है, उसमें दूसरेका उदय नहीं है। इसलिये इस ज्ञानमें आकस्मिक कुछ

(मन्दाक्रान्ता)

टंकोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ १६१ ॥

भी नहीं होता। ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको अकस्मात्का भय कहाँसे हो सकता है
स्वयं निरन्तर निःशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञानका सदा अनुभव करता है।

भावार्थ:—'यदि कुछ अनिर्धारित-अनिष्ट एकाएक उत्पन्न होगा तो?'
आकस्मिक भय है। ज्ञानी जानता है कि—आत्माका ज्ञान स्वतः सिद्ध, अनादि, अनन्त,
एक है। उसमें दूसरा कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता; इसलिये उसमें कुछ भी
होगा अर्थात् अकस्मात् कहाँसे होगा? ऐसा जाननेवाले ज्ञानीको आकस्मिक भय
वह तो निःशंक वर्तता हुआ अपने ज्ञानभावका निरन्तर अनुभव करता है।

इसप्रकार ज्ञानीको सात भय नहीं होते।

प्रश्न:—अविरतसम्यग्दृष्टि आदिको भी ज्ञानी कहा है और उनके
उदय होता है तथा उसके निमित्तसे उनके भय होता हुआ भी देखा जाता है; तब फिर ज्ञानी
निर्भय कैसे है?

समाधान:—भयप्रकृतिके उदयसे निमित्तसे ज्ञानीको भय उत्पन्न होता है। और
अन्तरायके प्रबल उदयसे निर्बल होनेके कारण उस भयकी वेदनाको सहन न कर सकनेसे ज्ञानी
उस भयका इलाज भी करता है। परन्तु उसे ऐसा भय नहीं होता कि जिससे जीव स्वरूपके
ज्ञानश्रद्धानसे च्युत हो जाये। और जो भय उत्पन्न होता है वह मोहकर्मकी भय नामक
प्रकृतिका दोष है; ज्ञानी स्वयं उसका स्वामी होकर कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है।
इसलिये ज्ञानीके भय नहीं है। १६०।

अब आगेकी (सम्यग्दृष्टिके निःशंकित आदि चिह्नों सम्बन्धी) गाथाओंका सूचक
काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—टंकोत्कीर्ण निजरससे परिपूर्ण ज्ञानके सर्वस्वको भोगनेवाले सम्यग्दृष्टिके जो
निःशंकित आदि चिह्न हैं वे समस्त कर्मोंको नष्ट करते हैं; इसलिये, कर्मका उदय वर्तता होने पर
भी, सम्यग्दृष्टिको पुनः कर्मका बंध किंचित्मात्र भी नहीं होता, परन्तु जो कर्म पहले बँधा था
उसके उदयको भोगनेपर उसको नियमसे उस कर्मकी निर्जरा ही होती है।

भावार्थ:—सम्यग्दृष्टि पहले बँधीहुई भय आदि प्रकृतियोंके उदयको भोगता है

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

यश्चतुरोऽपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान् ।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २२९ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावान्निश्शंकः ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

तथापि *निःशंकित आदि गुणोंके विद्यमान होनेसे उसे ×शंकादिकृत (शंकादिके निमित्तसे होनेवाला) बंध नहीं होता किन्तु पूर्वकर्मकी निर्जरा ही होती है । १६१ ।

अब इस कथनको गाथाओं द्वारा कहते हैं, उसमेंसे पहले निःशंकित अंगकी (अथवा निःशंकित गुणकी–चिह्नकी) गाथा इसप्रकार है:—

गाथा २२९

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो ÷चेतयिता, [**कर्मबन्धमोहकरान्**] कर्मबंध संबंधी मोह करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मोंके द्वारा बँधा हुआ है ऐसा भ्रम करनेवाले) [तान् चतुरः अपि पादान्] मिथ्यात्वादि भावरूप चारों पादों को [छिनत्ति] छेदता है, [सः] उसको [निश्शंकः] निःशंक [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण कर्मबन्ध संबंधी शंका करनेवाले (अर्थात् जीव निश्चयतः कर्मोंसे बँधा हुआ है ऐसा संदेह अथवा भय करनेवाले) मिथ्यात्वादि भावोंका (उसको) अभाव होनेसे, निःशंक है इसलिये उसे शंकाकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको जिस कर्मका उदय आता है उसका वह, स्वामित्वके अभावके कारण, कर्ता नहीं होता । इसलिये भयप्रकृतिका उदय आने पर भी सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है, स्वरूपसे च्युत नहीं होता । ऐसा होनेसे उसे शंकाकृत बंध नहीं होता, कर्म रस देकर खिर जाते हैं ।

---

* निःशंकित = संदेह अथवा भय रहित । × शंका = संदेह; कल्पित भय । ÷ चेतयिता = चेतनेवाला; जानने-देखनेवाला; आत्मा ।

जो कर्मबंधनमोहकर्ता, पाद चारों छेदता ।
चिन्मूर्ति वो शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥ २२९ ॥

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३० ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षः ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः किंतु निर्जरैव।

अब निःकांक्षित गुणकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २३०

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [कर्मफलेषु] कर्मोंके फलोंके प्रति [तथा] तथा [सर्वधर्मेषु] सर्व धर्मोंके प्रति [कांक्षां] कांक्षा [न तु करोति] नहीं करता [सः] उसको [निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः] निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी कर्मफलोंके प्रति तथा समस्त वस्तुधर्मोंके प्रति कांक्षाका अभाव होनेसे, निष्कांक्ष (निर्वांछक) है, इसलिये उसे कांक्षाकृत बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको, समस्त कर्मफलोंकी वांछा नहीं होती; तथा सर्व धर्मोंकी वांछा नहीं होती, अर्थात् सुवर्णत्व पाषाणत्व इत्यादि तथा निन्दा, प्रशंसा आदिके वचन इत्यादि वस्तुधर्मोंकी अर्थात् पुद्गलस्वभावोंकी उसे वांछा नहीं है—उनके प्रति समभाव है, अथवा अन्यमतावलम्बियोंके द्वारा माने गये अनेक प्रकारके सर्वथा एकान्तपक्षी व्यवहारधर्मोंकी उसे वांछा नहीं है—उन धर्मोंका आदर नहीं है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि वांछारहित होता है, इसलिये उसे वांछासे होनेवाला बंध नहीं होता। वर्तमान वेदना सही नहीं जाती इसलिये उसे मिटानेके उपचारकी वांछा सम्यग्दृष्टिको चारित्रमोहके उदयके कारण होती है, किन्तु वह उस वांछाका कर्ता स्वयं नहीं होता, वह कर्मोदय समझकर उसका ज्ञाता ही रहता है; इसलिये उसे वांछाकृत बंध नहीं होता।

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मोंकी न कांक्षा धारता।
चिन्मूर्ति वो कांक्षारहित सम्यक्त्वदृष्टी जानना ॥ २३० ॥

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३१ ॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।
सो खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३१ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साभावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

अब निर्विचिकित्सा गुणकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २३१

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वेषाम् एव] सभी [धर्माणाम्] धर्मों (वस्तुके स्वभावों)के प्रति [जुगुप्सां] जुगुप्सा (ग्लानि) [न करोति] नहीं करता [सः] उसको [खलु] निश्चयसे [निर्विचिकित्सः] निर्विचिकित्स (–विचिकित्सादोषसे रहित) [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी वस्तु-धर्मोंके प्रति जुगुप्साका अभाव होनेसे, निर्विचिकित्स (–जुगुप्सारहित—ग्लानिरहित) है, इसलिये उसे विचिकित्साकृत बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि वस्तुके धर्मोंके प्रति (अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भावोंके प्रति तथा विष्टा आदि मलिन द्रव्योंके प्रति) जुगुप्सा नहीं करता । यद्यपि उसके जुगुप्सा नामक कर्मप्रकृतिका उदय आता है तथापि वह स्वयं उसका कर्ता नहीं होता इसलिये उसे जुगुप्साकृत बन्ध नहीं होता, परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब अमूढदृष्टि अंगकी गाथा कहते हैं:—

सब वस्तुधर्मविषैं जुगुप्साभाव जो नहिं धारता ।
चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वो, सद्दृष्टि निश्चय जानना ॥ २३१ ॥

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३२ ॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३२ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावाद-मूढदृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३३ ॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम् ।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३३ ॥

गाथा २३२

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [सर्वभावेषु] समस्त भावोंमें [असंमूढः] अमूढ़ है—[सद्दृष्टिः] यथार्थ दृष्टिवाला [भवति] है, [सः] उसको [खलु] निश्चयसे [अमूढदृष्टिः] अमूढ़दृष्टि [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सभी भावोंमें मोहका अभाव होनेसे, अमूढ़दृष्टि है, इसलिये उसे मूढ़दृष्टिकृत बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि समस्त पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ जानता है; उसे रागद्वेष-मोहका अभाव होनेसे किसी भी पदार्थ पर अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती । चारित्रमोहके उदयसे इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न हों तथापि उसे उदयकी प्रबलता जानकर वह उन भावोंका स्वयं कर्ता नहीं होता इसलिये उसे मूढ़दृष्टिकृत बंध नहीं होता परन्तु प्रकृति रस देकर खिर जाती है इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब उपगूहन गुणकी गाथा कहते हैंः—

संमूढ़ नहिं सब भावमें जो,—सत्यदृष्टी धारता ।
वो मूढ़दृष्टिविहीन सम्यग्दृष्टि निश्चय जानना ॥ २३२ ॥
जो सिद्धभक्तीसहित है, गोपन करे सब धर्मका ।
चिन्मूर्ति वो उपगुहनकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३३ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः ततोऽस्य जीवशक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

उम्मग्गं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३४ ॥

गाथा २३३

अन्वयार्थः—[यः] जो (चेतयिता) [सिद्धभक्तियुक्तः] सिद्धोंकी शुद्धात्माकी भक्तिसे युक्त है [तु] और [सर्वधर्माणाम् उपगूहनकः] पर वस्तुओंके सर्व धर्मोंको गोपनेवाला है (अर्थात् रागादि परभावोंमें युक्त नहीं होता) [सः] उसको [उपगूहनकारी] उपगूहन करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण समस्त आत्मशक्तियोंकी वृद्धि करता है, इसलिये उपबृंहक अर्थात् आत्मशक्ति बढ़ानेवाला है, इसलिये उस जीवकी शक्तिकी दुर्बलतासे (मन्दतासे) होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुण युक्त है । उपगूहनका अर्थ छिपाना है । यहाँ निश्चयनयको प्रधान करके कहा है कि सम्यग्दृष्टिने अपना उपयोग सिद्धभक्तिमें लगाया हुआ है, और जहाँ उपयोग सिद्धभक्तिमें लगाया वहाँ अन्य धर्मों पर दृष्टि ही नहीं रही इसलिये वह समस्त अन्य धर्मोंका गोपनेवाला और आत्मशक्तिका बढ़ानेवाला है ।

इस गुणका दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है । उपबृंहणका अर्थ है बढ़ाना । सम्यग्दृष्टिने अपना उपयोग सिद्धोंके स्वरूपमें लगाया है इसलिये उसके आत्माकी समस्त शक्तियाँ बढ़ती हैं—आत्मा पुष्ट होता है इसलिये वह उपबृंहणगुणवाला है ।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टिके आत्मशक्तिकी वृद्धि होती है इसलिये उसे दुर्बलतासे जो बंध होता था वह नहीं होता, निर्जरा ही होती है । यद्यपि जबतक अन्तरायका उदय है तबतक निर्बलता है तथापि उसके अभिप्रायमें निर्बलता नहीं है, किन्तु अपनी शक्तिके अनुसार कर्मोदयको जीतनेका महान् उद्यम वर्तता है ।

उन्मार्ग जाते स्वात्मको भी, मार्गमें जो स्थापता ।
चिन्मूर्ति वो थितिकरणयुत, सम्यक्त्दृष्टी जानना ॥ २३४ ॥

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता ।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३४ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्ग एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः किंतु निर्जरैव ।

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३५ ॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
स वत्सलभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३५ ॥

अब स्थितिकरण गुणकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २३४

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [उन्मार्गं गच्छंतं] उन्मार्गमें जाते हुए [स्वकम् अपि] अपने आत्माको भी [मार्गे] मार्गमें [स्थापयति] स्थापित करता है, [सः] वह [स्थितिकरणयुक्तः] स्थितिकरणयुक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीका:—क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण, यदि अपना आत्मा मार्गसे (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गसे) च्युत हो तो उसे मार्गमें ही स्थित कर देता है, इसलिये स्थितिकारी (स्थिति करनेवाला) है, अतः उसे मार्गसे च्युत होनेके कारण होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थ:—जो, अपने स्वरूपरूपी मोक्षमार्गसे च्युत होते हुए अपने आत्माको मार्गमें (मोक्षमार्गमें) स्थित करता है वह स्थितिकरणगुणयुक्त है । उसे मार्गसे च्युत होनेके कारण होनेवाला बंध नहीं होता किन्तु उदयागत कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब वात्सल्य गुणकी गाथा कहते हैं:—

जो मोक्षपथमें 'साधु' त्रयका वत्सलत्व करे अहा !
चिन्मूर्ति वो वात्सल्यपुत, सम्यक्‌दृष्टी जानना ॥ २३५ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३६ ॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३६ ॥

गाथा २३५

अन्वयार्थः—[यः] जो (चेतयिता) [मोक्षमार्गे] मोक्षमार्गमें स्थित [त्रयाणां साधूनां] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी तीन साधकों-साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य, उपाध्याय और मुनि—इन तीन साधुओंके प्रति) [वत्सलत्वं करोति] वात्सल्य करता है, [सः] वह [वत्सलभावयुतः] वात्सल्यभावसे युक्त [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयताके कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको अपनेसे अभेदबुद्धिसे सम्यक्तया देखता (-अनुभवन करता) है, इसलिये मार्गवत्सल अर्थात् मोक्षमार्गके प्रति अति प्रीतिवाला है, इसलिये उसे मार्गकी *अनुपलब्धिसे होनेवाला बन्ध नहीं किन्तु निर्जरा ही है ।

भावार्थः—वत्सलत्वका अर्थ है प्रीतिभाव । जो जीव मोक्षमार्गरूपी अपने स्वरूपके प्रति प्रीतिवाला—अनुरागवाला हो उसे मार्गकी अप्राप्तिसे होनेवाला बन्ध नहीं होता, परन्तु कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही होती है ।

अब प्रभावना गुणकी गाथा कहते हैं:—

गाथा २३६

अन्वयार्थः—[यः चेतयिता] जो चेतयिता [विद्यारथम् आरूढः]

* अनुपलब्धि=प्रत्यक्ष नहीं होना वह; अज्ञान; अप्राप्ति ।

चिन्मूर्ति मन-रथपंथमें, विद्यारथारूढ़ घूमता ।
जिनराजज्ञानप्रभावकर सम्यक्तदृष्टी जानना ॥ २३६ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबो-

विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ हुआ (-चढ़ा हुआ) [मनोरथपथेषु] मनरूपी रथके पथमें (ज्ञानरूपी रथके चलनेके मार्गमें [भ्रमति] भ्रमण करता है, [सः] वह [जिनज्ञानप्रभावी] जिनेन्द्रभगवानके ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

टीकाः—क्योंकि सम्यग्दृष्टि, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण ज्ञानकी समस्त शक्तिको प्रगट करने—विकसित करने—फैलानेके द्वारा प्रभाव उत्पन्न करता है इसलिये, प्रभावना करनेवाला है, अतः उसे ज्ञानकी प्रभावनाके अप्रकर्षसे (ज्ञानकी प्रभावना न बढ़ानेसे) होनेवाला बंध नहीं किन्तु निर्जरा ही है।

भावार्थः—प्रभावनाका अर्थ है प्रगट करना, उद्योत करना इत्यादि; इसलिये जो अपने ज्ञानको निरन्तर अभ्यासके द्वारा प्रगट करता है—बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है। उसे अप्रभावनाकृत कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु कर्म रस देकर खिर जाता है इसलिये उसके निर्जरा ही है।

इस गाथा में निश्चयप्रभावनाका स्वरूप कहा है। जैसे जिनबिम्बको रथारूढ़ करके नगर, वन इत्यादिमें फिराकर व्यवहारप्रभावना की जाती है, इसीप्रकार जो विद्यारूपी (ज्ञानरूपी) रथमें आत्माको विराजमान करके मनरूपी (ज्ञानरूपी) मार्गमें भ्रमण करता है वह ज्ञानकी प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है, वह निश्चयप्रभावना करनेवाला है।

इसप्रकार ऊपरकी गाथाओंमें यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको निःशंकित आदि आठ गुण निर्जराके कारण हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्वके अन्य गुण भी निर्जराके कारण जानना चाहिए।

इस ग्रंथमें निश्चयनयप्रधान कथन होनेसे यहाँ निःशंकितादि गुणोंका निश्चय स्वरूप (स्वाश्रितस्वरूप) बताया गया है। उसका सारांश इसप्रकार हैः—जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान-श्रद्धानमें निःशंक हो, भयके निमित्तसे स्वरूपसे चलित न हो अथवा सन्देहयुक्त न हो, उसके निःशंकितगुण होता है। १। जो कर्मफलकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तुके धर्मोंकी वांछा न करे, उसके निःकांक्षित गुण होता है। २। जो वस्तुके धर्मोंके प्रति ग्लानि न करे, उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है। ३। जो स्वरूपमें मूढ़ न हो, स्वरूपको यथार्थ जाने, उसके अमूढ़दृष्टि गुण होते हैं। ४। जो आत्माको शुद्धस्वरूपमें युक्त करे, आत्माकी शक्ति बढ़ाये, और अन्य धर्मोंको गौण करे, उसके उपगूहन गुण होता है। ५। जो स्वरूपसे च्युत होते हुए आत्माको स्वरूपमें स्थापित करे, उसके स्थितिकरण गुण होता है। ६। जो अपने

धेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोऽस्य ज्ञानप्रभावनाप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ।

स्वरूपके प्रति विशेष अनुराग रखता है, उसके वात्सल्यगुण होता है । ७ । जो आत्माके ज्ञानगुणको प्रकाशित कर—प्रगट करे, उसके प्रभावना गुण होता है । ८ ।

ये सभी गुण उनके प्रतिपक्षी दोषोंके द्वारा जो कर्मबन्ध होता था उसे नहीं होने देते । और इन गुणोंके सद्भावमें, चारित्रमोहके उदयरूप शंकादि प्रवर्ते तो भी उनकी (-शंकादिकी) निर्जरा ही हो जाती है, नवीन बंध नहीं होता; क्योंकि बंध तो प्रधानतासे मिथ्यात्वके अस्तित्वमें ही कहा है ।

सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयनिमित्तसे सम्यग्दृष्टिके जो बन्ध कहा है वह भी निर्जरारूप ही (-निर्जराके समान ही) समझना चाहिये क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जैसे पूर्वमें मिथ्यात्वके उदयके समय बँधा हुआ कर्म खिर जाता है उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ कर्म भी खिर जाता है; उसके उस कर्मके स्वामित्वका अभाव होनेसे वह आगामी बंधरूप नहीं किन्तु निर्जरारूप ही है । जैसे—कोई पुरुष दूसरेका द्रव्य उधार लाया हो तो उसमें उसे ममत्वबुद्धि नहीं होती, वर्तमानमें उस द्रव्यसे कुछ कार्य कर लेना हो तो वह करके पूर्व निश्चयानुसार नियत समय पर उसके मालिकको दे देता है; नियत समयके आने तक वह द्रव्य उसके घरमें पड़ा रहे तो भी उसके प्रति ममत्व न होनेसे उस पुरुषको उस द्रव्यका बन्धन नहीं है, वह उसके स्वामीको दे देनेके बराबर ही है; इसीप्रकार—ज्ञानी कर्मद्रव्यको पराया मानता है इसलिये उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता अतः उसके रहते हुए भी वह निर्जरित हुएके समान ही है ऐसा जानना चाहिए ।

यह निःशंकितादि आठ गुण व्यवहारनयसे व्यवहारमोक्षमार्गमें इसप्रकार लगाने चाहिये:—

जिनवचनोंमें संदेह नहीं करना, भयके आने पर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे नहीं डिगना, सो निःशंकितत्व है । १ । संसार-देह-भोगकी वांछासे तथा परमतकी वांछासे व्यवहार-मोक्षमार्गसे चलायमान न होना सो निःकांक्षितत्व है । २ । अपवित्र, दुर्गंधित आदि वस्तुओंके निमित्तसे व्यवहारमोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके प्रति ग्लानि न करना सो निर्विचिकित्सा है । ३ । देव, गुरु, शास्त्र, लौकिक प्रवृत्ति, अन्यमतादिके तत्वार्थके स्वरूप—इत्यादिमें मूढ़ता न रखना, यथार्थ जानकर प्रवृत्ति करना सो अमूढ़दृष्टि है । ४ । धर्मात्मामें कर्मोदयसे दोष आ जाये तो उसे गौण करना और व्यवहारमोक्षमार्गकी प्रवृत्तिको बढ़ाना सो उपगूहन अथवा उपबृंहण है । ५ । व्यवहारमोक्षमार्गसे च्युत होते हुए आत्माको स्थिर करना सो स्थितिकरण है । ६ । व्यवहारमोक्षमार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले पर विशेष अनुराग होना सो वात्सल्य है । ७ ।

(मंदाक्रांता)

रुंधन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।
सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ १६२ ॥

व्यवहारमोक्षमार्गका अनेक उपायोंसे उद्योत करना सो प्रभावना है। ८। इसप्रकार आठ गुणोंका स्वरूप व्यवहारनयको प्रधान करके कहा है। यहाँ निश्चयप्रधान कथनमें उस व्यवहारस्वरूपकी गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टिमें दोनों प्रधान हैं। स्याद्वाद मतमें कोई विरोध नहीं है।

अब, निर्जराके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले और कर्मोंके नवीन बंधको रोककर निर्जरा करनेवाले सम्यग्दृष्टिकी महिमा करके निर्जरा अधिकार पूर्ण करते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार नवीन बंधको रोकता हुआ और (स्वयं) अपने आठ अंगोंसे युक्त होनेके कारण निर्जरा प्रगट होनेसे पूर्वबद्ध कर्मोंका नाश करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं अति रससे (निजरसमें मस्त हुआ) आदि-मध्य-अंत रहित (सर्वव्यापक, एकप्रवाहरूप धारावाही) ज्ञानरूप होकर आकाशके विस्ताररूपी रंगभूमिमें अवगाहन करके (ज्ञानके द्वारा समस्त गगनमंडलमें व्याप्त होकर) नृत्य करता है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिको शंकादिकृत नवीन बंध नहीं होता और स्वयं अष्टांगयुक्त होनेसे निर्जराका उदय होनेके कारण उसके पूर्व बंधका नाश होता है। इसलिये वह धारावाही ज्ञानरूपी रसका पान करके, निर्मल आकाशरूपी रंगभूमिमें ऐसे नृत्य करता है जैसे कोई पुरुष मद्य पीकर मग्न हुआ नृत्यभूमिमें नाचता है।

प्रश्नः—आप यह कह चुके हैं कि सम्यग्दृष्टिके निर्जरा होती है, बंध नहीं होता; किंतु सिद्धान्तमें गुणस्थानोंकी परिपाटी में अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके बन्ध कहा गया है। और घातिकर्मोंका कार्य आत्माके गुणोंका घात करना है इसलिये दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य—इन गुणोंका घात भी विद्यमान है। चारित्रमोहका उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोहके उदयमें भी बन्ध न माना जाये तो यह भी क्यों न मान लिया जाये कि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीका उदय होने पर भी बन्ध नहीं होता ?

उत्तरः—बन्धके होनेमें मुख्य कारण मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधीका उदय ही है; और सम्यग्दृष्टिके तो उनके उदयका अभाव है। चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि सुखगुणका घात होता है तथा मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धीके अतिरिक्त और उनके साथ रहनेवाली अन्य प्रकृतियोंके अतिरिक्त शेष घातिकर्मोंकी प्रकृतियोंका अल्प स्थिति-अनुभागवाला बन्ध तथा शेष अघाति-

इति निर्जरा निष्क्रांता ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जरा-प्ररूपकः षष्ठोंकः ।।

कर्मोंकी प्रकृतियोंका बंध होता है, तथापि जैसा मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनन्तसंसारका कारण तो मिथ्यात्व-अनन्तानुबंधी ही है; उनका अभाव हो जाने पर फिर उनका बंध नहीं होता; और जहाँ आत्मा ज्ञानी हुआ वहाँ अन्य बंधकी गणना कौन करता है ? वृक्षकी जड़ कट जाने पर फिर हरे पत्ते रहनेकी अवधि कितनी होती है ? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्रमें सामान्यतया ज्ञानी-अज्ञानी होनेके सम्बन्धमें ही प्रधान कथन है। ज्ञानी होनेके बाद जो कुछ कर्म रहे हों वे सहज ही मिटते जायेंगे। निम्नलिखित दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानीके संबंधमें समझ लेना चाहिये। कोई पुरुष दरिद्रताके कारण एक झोंपड़ेमें रहता था। भाग्योदयसे उसे धन-धान्यसे परिपूर्ण बड़े महलकी प्राप्ति हो गई इसलिये वह उसमें रहनेको गया। यद्यपि उस महलमें बहुत दिनोंका कूड़ा कचरा भरा हुआ था तथापि जिस दिन उसने आकर महलमें प्रवेश किया उस दिनसे ही वह उस महलका स्वामी हो गया, संपत्तिवान हो गया। अब वह कूड़ा कचरा साफ करना है सो वह क्रमशः अपनी शक्तिके अनुसार साफ करता है। जब सारा कचरा साफ हो जायेगा और महल उज्ज्वल हो जायेगा तब वह परमानन्दको भोगेगा। इसीप्रकार ज्ञानीके सम्बन्धमें समझना चाहिये। १६२।

टीकाः—इसप्रकार निर्जरा (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गई।

भावार्थः—इसप्रकार, जिसने रंगभूमिमें प्रवेश किया था वह निर्जरा अपना स्वरूप प्रगट बताकर रंगभूमिसे बाहर निकल गई।

(सवैया)

सम्यकवंत महंत सदा समभाव रहै दुख संकट आये,
कर्म नवीन बंधै न तबै अर पूरव बन्ध झड़े बिन भाये;
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान बढै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनँदरूप निजातम थाये ।।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित आत्मख्याति नामक टीका में निर्जरा का प्ररूपक छठवां अंक समाप्त हुआ।

* छट्ठा निर्जरा अधिकार समाप्त *

७ बन्ध अधिकार

अथ प्रविशति बंधः ।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत् ।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्-
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

---

* दोहा *

रागादिकतैं कर्म कौ, बन्ध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाँय ॥

प्रथम टीकाकार कहते हैं कि 'अब बन्ध प्रवेश करता है' । जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है उसी प्रकार रंगभूमिमें बन्धतत्त्वका स्वाँग प्रवेश करता है ।

उसमें प्रथम ही, सर्व तत्त्वोंको यथार्थ जाननेवाला सम्यग्ज्ञान बन्धको दूर करता हुआ प्रगट होता है, इस अर्थका मंगलरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो (बंध) रागके उदयरूपी महा रस (मदिरा)के द्वारा समस्त जगतको, प्रमत्त (-मतवाला) करके, रसके भावसे (रागरूपी मतवालेपनसे) भरे हुए महा नृत्यके द्वारा खेल (नाच) रहा है ऐसे बंधको उड़ाता—दूर करता हुआ, ज्ञान उदयको प्राप्त होता है । यह ज्ञान आनन्दरूपी अमृतका नित्य भोजन करनेवाला है, अपनी ज्ञातृक्रियारूप सहज अवस्थाको प्रगट नचा रहा है, धीर है, उदार (अर्थात् महान विस्तारवाला, निश्चल है) है, अनाकुल है, (अर्थात् जिसमें किंचित् भी आकुलताका कारण नहीं है) उपाधि रहित (अर्थात् परिग्रह रहित या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है ऐसा) है ।

भावार्थः—बंधतत्त्वने 'रंगभूमिमें' प्रवेश किया है, उसे दूर करके जो ज्ञान स्वयं प्रगट होकर नृत्य करेगा उस ज्ञानकी महिमा इस काव्यमें प्रगट की गई है । ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रगट रहो । १६३ ।

जह णाम को वि पुरिसो णेहब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो दु रयबंधो ॥ २३९ ॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥ २४१ ॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २३७ ॥

अब बन्धतत्त्वके स्वरूपका विचार करते हैं; उसमें पहिले, बन्धके कारणोंको स्पष्टतया बतलाते हैं:—

गाथा २३७–२४१

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे—[कः अपि पुरुषः] कोई पुरुष

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका ।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा ॥ २३७ ॥
अरु ताड़, कदली, बांस आदिक छिन्नभिन्न बहू करे ।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे ॥ २३८ ॥
बहु भाँतिके करणादिसे उपघात करते उसहिको ।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों ? ॥ २३९ ॥
यों जानना निश्चयपनें—चिकनाइ जो उस नर विषैं ।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥ २४० ॥
चेष्टा विविधमें वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो ।
उपयोगमें रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो ॥ २४१ ॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २३८ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिकस्तु रजोबंधः ॥ २३९ ॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४० ॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥ २४१ ॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभावत एव रजोबहुलायां

[स्नेहाभ्यक्तः तु] (अपने शरीरमें) तेल आदि स्निग्ध पदार्थ लगाकर [च] और [रेणुबहुले] बहुतसी धूलिवाले [स्थाने] स्थानमें [स्थित्वा] रहकर [शस्त्रैः] शस्त्रोंके द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] तथा [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस, अशोक इत्यादि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है [भिनत्ति च] भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपघातम्] उपघात (नाश) [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] इसप्रकार नानाप्रकारके कारणोंके द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषके [रजोबंधः तु] धूलिका बंध (चिपकना) [खलु] वास्तवमें [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे होता है [निश्चयतः] यह निश्चयसे [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुषमें [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदिकी चिकनाहट है [तेन] उससे [तस्य] उसे [रजोबंधः] धूलिका बंध होता है (–चिपकती है) [निश्चयतः विज्ञेयं] ऐसा निश्चयसे जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष शारीरिक चेष्टाओंसे [न] नहीं होता। [एवं] इसीप्रकार—[बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें [वर्तमानः] वर्तता हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [उपयोगे] (अपने) उपयोगमें [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावोंको करता हुआ [रजसा] कर्मरूपी रजसे [लिप्यते] लिप्त होता है—बँधता है।

टीका:—जैसे—इस जगतमें वास्तवमें कोई पुरुष स्नेह (-तेल आदि चिकने पदार्थ) से मर्दनयुक्त हुआ, स्वभावतः ही बहुतसी धूलिमय भूमिमें रहा हुआ, शस्त्रोंके व्यायामरूपी

भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचिताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न शस्त्रव्यायामकर्म स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभ्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात्। न सचिताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः। एवं मिथ्यादृष्टिः आत्मनि रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्य-पुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचिताचित्तवस्तूनि

कर्म (क्रिया) को करता हुआ, अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, (उस भूमिकी) धूलिसे बद्ध होता है—लिप्त होता है। (यहाँ विचार करो कि) उसमेंसे उस पुरुषके बंधका कारण कौन है? पहले, जो स्वभावसे ही बहुत सी धूलिसे भरी हुई भूमि है वह धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है ऐसे उस भूमिमें रहे हुए पुरुषोंको भी धूलिबंधका प्रसंग आ जायेगा। शस्त्रोंका व्यायामरूपी कर्म भी धूलिबंधका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी शस्त्र व्यायामरूपी क्रियाके करनेसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकारके करण भी धूलिबन्धके कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया है उनके भी अनेक प्रकारके करणोंसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी धूलिबन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिन्होंने तैलादिका मर्दन नहीं किया उन्हें भी सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करनेसे धूलिबन्धका प्रसंग आ जायेगा।

इसलिये न्यायके बलसे ही यह फलित (–सिद्ध) हुआ कि, उस पुरुषमें तैलका मर्दन करना बन्धका कारण है। इसीप्रकार—मिथ्यादृष्टि अपनेमें रागादिक करता हुआ, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसे लोकमें काय-वचन-मनका कर्म (क्रिया) करता हुआ, अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, कर्मरूपी रजसे बँधता है। (यहाँ विचार करो कि) इनमेंसे उस पुरुषके बन्धका कारण कौन है? प्रथम, स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसा लोक बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धोंको भी—जो कि लोकमें रह रहे हैं उनके भी बन्धका प्रसंग आ जायेगा। काय-वचन-मनका कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रियास्वरूप योग) भी बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात-संयमियोंके भी (काय-वचन-मनकी क्रिया होनेसे) बन्धका प्रसंग आ जायेगा। अनेक प्रकारके करण भी बन्धके

निघ्नन् कर्मरजसा बध्यते । तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्य-पुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात् । ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ।

(पृथ्वी)

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।

कारण नहीं हैं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानियोंके भी (उस करणोंसे) बन्धका प्रसंग आ जायेगा। सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंका घात भी बन्धका कारण नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा हो तो जो समितिमें तत्पर हैं उनके (अर्थात् जो यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं ऐसे साधुओंके) भी (सचित्त तथा अचित्त वस्तुओंके घातसे) बंधका प्रसंग आ जायेगा। इसलिये न्यायबलसे ही यह फलित हुआ कि, उपयोगमें रागादिकरण (अर्थात् उपयोगमें रागादिकका करना), बंधका कारण है।

भावार्थ:—यहाँ निश्चयनयको प्रधान करके कथन है। जहाँ निर्बाध हेतुसे सिद्धि होती है वही निश्चय है। बन्धका कारण विचार करने पर निर्बाधतया यही सिद्ध हुआ कि—मिथ्यादृष्टि पुरुष जिन रागद्वेषमोहभावोंको अपने उपयोगमें करता है वे रागादिक ही बन्धके कारण हैं। उनके अतिरिक्त अन्य-बहु कर्मयोग्य पुद्गलोंसे परिपूर्ण लोक, मन-वचन-कायके योग, अनेक करण तथा चेतन-अचेतनका घात—बंधके कारण नहीं हैं; यदि उनसे बन्ध होता हो तो सिद्धोंके, यथाख्यात चारित्रवानोंके, केवलज्ञानियोंके और समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंके बन्धका प्रसंग आ जायेगा। परन्तु उनके तो बंध होता नहीं है। इसलिये इन हेतुओंमें (-कारणोंमें) व्यभिचार (दोष) आया। इसलिये यह निश्चय है कि बन्धके कारण रागादिक ही हैं।

यहाँ समितिरूप प्रवृत्ति करनेवाले मुनियोंका नाम लिया गया है और अविरत, देश-विरतका नाम नहीं लिया इसका यह कारण है कि—अविरत तथा देशविरतके बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं होती इसलिये चारित्रमोह संबंधी रागसे किंचित् बंध होता है; इसलिये सर्वथा बन्धके अभावकी अपेक्षामें उनका नाम नहीं लिया। वैसे अंतरङ्गकी अपेक्षासे तो उन्हें भी निर्बंध ही जानना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्मबन्धको करनेवाला कारण न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ लोक है न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन-कायकी क्रियारूप योग) है, न अनेक प्रकारके करण हैं

यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम् ॥ १६४ ॥

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वम्हि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २४२ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २४३ ॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥ २४४ ॥
जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४५ ॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाई ण लिप्पइ रयेण ॥ २४६ ॥

और न चेतन-अचेतनका घात है। किन्तु 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादिके साथ जो ऐक्यको प्राप्त होता है वही एकमात्र वास्तवमें पुरुषोंके बन्ध कारण हैं।

भावार्थः—यहाँ निश्चयनयसे एकमात्र रागादिको ही बन्धका कारण कहा है।१६४।

जिस रीत फिर वो ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर ।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक ठहर ॥ २४२ ॥
अरु ताड़, कदली, बाँस, आदिक, छिन्न भिन्न बहू करे ।
उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्योंका करे ॥ २४३ ॥
बहुभाँतिके करणादिसे, उपघात करते उसहि को ।
निश्चयपने–चिंतन करो, रजबंध नहिं किन कारणों ॥ २४४ ॥
यों जानना निश्चयपने–चिकनाइ जो उस नर विषैं ।
रजबन्धकारण वो हि है, नहिं कायचेष्टा शेष है ॥ २४५ ॥
योगों विविधमें वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो ।
उपयोगमें रागादि न करे, रजहि नहिं लेपाय वो ॥ २४६ ॥

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥ २४२ ॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥ २४३ ॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥ २४४ ॥
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥ २४५ ॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥ २४६ ॥

सम्यग्दृष्टि उपयोगमें रागादि नहीं करता, उपयोगका और रागादिका भेद जानकर रागादिका स्वामी नहीं होता, इसलिये उसे पूर्वोक्त चेष्टासे बन्ध नहीं होता—यह कहते हैं:—

गाथा २४२–२४६

अन्वयार्थः—[यथा पुनः] और जैसे—[सः च एव नरः] वही पुरुष, [सर्वस्मिन् स्नेहे] समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थको [अपनीते सति] दूर किये जाने पर, [रेणुबहुले] बहुत धूलिवाले [स्थाने] स्थानमें [शस्त्रैः] शस्त्रोंके द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] और [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस और अशोक आदि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है, [भिनत्ति च] और भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपघातम्] उपघात [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] ऐसे नाना प्रकारके करणोंके द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषको [रजोबन्धः] धूलिका बन्ध [खलु] वास्तवमें [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे [न] नहीं होता [निश्चयतः] यह निश्चयसे [चिंत्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुषमें [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदिकी चिकनाई है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबंधः] धूलिका बंध होना [निश्चयतः विज्ञेयं] निश्चयसे जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष कायकी चेष्टाओंसे [न] नहीं होता। (इसलिये उस पुरुषमें तेल आदिकी चिकनाहटका अभाव होनेसे ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [एवं] इसप्रकार—[बहुविधेषु योगेषु] बहुत प्रकारके

यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते, स्नेहाभ्यंगस्य बन्धहेतोरभावात्; तथा सम्यग्दृष्टिः आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते, रागयोगस्य बंधहेतोरभावात् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।

योगोंमें [वर्तमानः] वर्तता हुआ [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [उपयोगे] उपयोगमें [रागादीन् अकुर्वन्] रागादिको न करता हुआ [रजसा] कर्मरजसे [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता ।

टीका:—जैसे वही पुरुष, सम्पूर्ण चिकनाहटको दूर कर देने पर, उसी स्वभावसे ही अत्यधिक धूलिसे भरी हुई उसी भूमिमें वही शस्त्रव्यायामरूपी कर्मको (क्रियाको) करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, धूलिसे लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसके धूलिके लिप्त होनेका कारण जो तैलादिका मर्दन है उसका अभाव है; इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि, अपनेमें रागादिको न करता हुआ, उसी स्वभावसे बहु कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरे हुए लोकमें वही मन-वचन-कायकी क्रिया करता हुआ, उन्हीं अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा उन्हीं सचित्ताचित्त वस्तुओंका घात करता हुआ, कर्मरूपी रजसे नहीं बँधता, क्योंकि उसके बन्धके कारणभूत रागके योगका (रागमें जुड़नेका) अभाव है ।

भावार्थ:—सम्यग्दृष्टिके पूर्वोक्त सर्व सम्बन्ध होने पर भी रागके सम्बन्धका अभाव होनेसे कर्मबन्ध नहीं होता । इसके समर्थनमें पहले कहा जा चुका है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—इसलिये वह (पूर्वोक्त) बहु कर्मोंसे (कर्मयोग्य पुद्गलोंसे) भरा हुआ लोक है सो भले रहो, वह मन-वचन-कायका चलनस्वरूप कर्म (योग) है सो भी भले रहो, वे (पूर्वोक्त) करण भी उसके भले रहें और चेतन–अचेतनका घात भी भले हो, परन्तु अहो ! यह सम्यग्दृष्टि आत्मा, रागादिको उपयोगभूमिमें न लाता हुआ, केवल (एक) ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ, किसी भी कारणसे निश्चयतः बंधको प्राप्त नहीं होता । (अहो ! देखो ! यह सम्यग्दर्शनकी अद्भुत महिमा है ।)

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणुबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ।। २४२ ।।
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ।। २४३ ।।
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिन्त्यतां खलु किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ।। २४४ ।।
यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ।। २४५ ।।
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ।। २४६ ।।

सम्यग्दृष्टि उपयोगमें रागादि नहीं करता, उपयोगका और रागादिका भेद जानकर रागादिका स्वामी नहीं होता, इसलिये उसे पूर्वोक्त चेष्टासे बन्ध नहीं होता—यह कहते हैं:—

गाथा २४२–२४६

अन्वयार्थः—[यथा पुनः] और जैसे—[सः च एव नरः] वही पुरुष, [सर्वस्मिन् स्नेहे] समस्त तेल आदि स्निग्ध पदार्थको [अपनीते सति] दूर किये जाने पर, [रेणुबहुले] बहुत धूलिवाले [स्थाने] स्थानमें [शस्त्रैः] शस्त्रोंके द्वारा [व्यायामम् करोति] व्यायाम करता है, [तथा] और [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़, तमाल, केल, बाँस और अशोक आदि वृक्षोंको [छिनत्ति] छेदता है, [भिनत्ति च] और भेदता है, [सचित्ताचित्तानां] सचित्त तथा अचित्त [द्रव्याणाम्] द्रव्योंका [उपघातम्] उपघात [करोति] करता है; [नानाविधैः करणैः] ऐसे नाना प्रकारके करणोंके द्वारा [उपघातं कुर्वतः] उपघात करते हुए [तस्य] उस पुरुषको [रजोबन्धः] धूलिका बन्ध [खलु] वास्तवमें [किंप्रत्ययिकः] किस कारणसे [न] नहीं होता [निश्चयतः] यह निश्चयसे [चिन्त्यतां] विचार करो। [तस्मिन् नरे] उस पुरुषमें [यः सः स्नेहभावः तु] जो वह तेल आदिकी चिकनाई है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबंधः] धूलिका बंध होना [निश्चयतः विज्ञेयं] निश्चयसे जानना चाहिये, [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष कायकी चेष्टाओंसे [न] नहीं होता। (इसलिये उस पुरुषमें तेल आदिकी चिकनाहटका अभाव होनेसे ही धूलि इत्यादि नहीं चिपकती।) [एवं] इसप्रकार—[बहुविधेषु योगेषु] बहुत प्रकारके

(वसंततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ १६७ ॥

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २४७ ॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु

"जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं; करना तो कर्मका राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान बन्धका कारण है।"—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं। करना तो वास्तवमें कर्मका राग है और रागको (मुनियोंने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि नियमसे मिथ्यादृष्टिके होता है और वह बंधका कारण है। १६७।

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको गाथामें स्पष्ट कहते हैं:—

गाथा २४७

अन्वयार्थः—[यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवों को मारता हूँ [परैः सत्त्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं,' [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीकाः—'मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'—ऐसा *अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (नियमसे, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है।

* अध्यवसाय = मिथ्या अभिप्राय; आशय।

जो मानता—मैं मारूँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २४७ ॥

रागादीनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवन्केवलं
बंधं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दगात्मा ध्रुवम् ॥ १६५ ॥

(पृथ्वी)

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥

भावार्थः—यहाँ सम्यग्दृष्टिकी अद्भुत महिमा बताई है, और यह कहा है कि—लोक, योग, करण, चैतन्य-अचैतन्यका घात—वे बंधके कारण नहीं हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परजीवकी हिंसासे बन्धका होना नहीं कहा इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी। किंतु यहाँ यह आशय है कि अबुद्धिपूर्वक कदाचित् परजीवका घात भी हो जाये तो उससे बन्ध नहीं होता। किन्तु जहाँ बुद्धिपूर्वक जीवोंको मारनेके भाव होंगे वहाँ अपने उपयोगमें रागादिका अस्तित्व होगा और उससे वहाँ हिंसाजन्य बन्ध होगा ही। जहाँ जीवको जिलानेका अभिप्राय हो वहाँ भी अर्थात् उस अभिप्रायको भी निश्चयनयमें मिथ्यात्व कहा है तब फिर जीवको मारनेका अभिप्राय मिथ्यात्व क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसलिये कथनको नयविभागसे यथार्थ समझकर श्रद्धान करना चाहिये। सर्वथा एकान्त मानना मिथ्यात्व है। १६५।

अब उपरोक्त भावार्थमें कथित आशयको प्रगट करनेके लिये, व्यवहारनयकी प्रवृत्ति करानेके लिये, काव्य कहते हैं:—

अर्थः—तथापि (अर्थात् लोक आदि कारणोंसे बन्ध नहीं कहा और रागादिकसे ही बन्ध कहा है तथापि) ज्ञानियोंको निरर्गल (स्वच्छन्दतापूर्वक) प्रवर्तना योग्य नहीं है, क्योंकि वह निरर्गल प्रवर्तन वास्तवमें बन्धका ही स्थान है। ज्ञानियोंके वांछारहित कर्म (कार्य) होता है वह बन्धका कारण नहीं कहा है, क्योंकि जानता भी है और (कर्मको) करता भी है—यह दोनों क्रियायें क्या विरोधरूप नहीं हैं? (करना और जानना निश्चयसे विरोधरूप ही है।)

भावार्थः—पहले काव्यमें लोक आदिको बन्धका कारण नहीं कहा इसलिये वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि बाह्यव्यवहारप्रवृत्तिका बन्धके कारणोंमें सर्वथा ही निषेध किया है, बाह्यव्यवहारप्रवृत्ति रागादि परिणामकी—बन्धके कारणकी—निमित्तभूत है, उस निमित्तताका यहाँ निषेध नहीं समझना चाहिये। ज्ञानियोंके अबुद्धिपूर्वक—वांछा रहित—प्रवृत्ति होती है इसलिये बन्ध नहीं कहा है, उन्हें कहीं स्वच्छन्द होकर प्रवर्तनेको नहीं कहा है; क्योंकि मर्यादारहित (निरंकुश) प्रवर्तना तो बन्धका ही कारण है। जाननेमें और करनेमें तो परस्पर विरोध है; ज्ञाता रहेगा तो बन्ध नहीं होगा, कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा। १६६।

(वसंततिलका)

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बंधहेतुः ॥ १६७ ॥

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २४७ ॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु

"जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं; करना तो कर्मका राग है, और जो राग है सो अज्ञान है तथा अज्ञान वन्धका कारण है।"—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो जानता है सो करता नहीं और जो करता है सो जानता नहीं। करना तो वास्तवमें कर्मका राग है और रागको (मुनियोंने) अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है; जो कि नियमसे मिथ्यादृष्टिके होता है और वह बंधका कारण है। १६७।

अब मिथ्यादृष्टिके आशयको गाथामें स्पष्ट कहते हैं:—

गाथा २४७

अन्वयार्थः—[यः] जो [मन्यते] यह मानता है कि [हिनस्मि च] 'मैं पर जीवों को मारता हूँ [परैः सत्त्वैः हिंस्ये च] और पर जीव मुझे मारते हैं,' [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता वह) [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीकाः—'मैं परजीवोंको मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं'—ऐसा *अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (नियमसे, निश्चयतः) अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है।

* अध्यवसाय = मिथ्या अभिप्राय; आशय।

जो मानता—मैं मारूँ पर अरु घात पर मेरा करे।
वो मूढ़ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २४७ ॥

यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥ २४८ ॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥ २४९ ॥

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥ २४८ ॥
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥ २४९ ॥

भावार्थः—'परजीवोंको मैं मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अभिप्राय अज्ञान है इसलिये जिसका ऐसा आशय है वह अज्ञानी है—मिथ्यादृष्टि है और जिसका ऐसा आशय नहीं है वह ज्ञानी है—सम्यग्दृष्टि है।

निश्चयनयसे कर्ताका स्वरूप यह है:—स्वयं स्वाधीनतया जिस भावरूप परिणमित हो उस भावका स्वयं कर्ता कहलाता है। इसलिये परमार्थतः कोई किसीका मरण नहीं करता। जो परसे परका मरण मानता है, वह अज्ञानी है। निमित्त-नैमित्तिक भावसे कर्ता कहना सो व्यवहारनयका कथन है; उसे यथार्थतया (-अपेक्षाको समझ कर) मानना सो सम्यग्ज्ञान है।

अब यह प्रश्न होता है कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? उसके उत्तर स्वरूप गाथा कहते हैं:—

गाथा २४८-२४९

अन्वयार्थः—(हे भाई! तू जो यह मानता है कि 'मैं पर जीवोंको मारता हूँ'

है आयुक्षयसे मरण जीवका ये हि जिनवरने कहा।
तू आयु तो हरता नहीं, तैंने मरण कैसे किया? ॥ २४८ ॥
है आयुक्षयसे मरण जीवका ये हि जिनवरने कहा।
वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया? ॥ २४९ ॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं, तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवोंका [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; [त्वं] तू [आयुः] पर जीवोंके आयुकर्मको तो [न हरसि] हरता नहीं है, [त्वया] तो तूने [तेषाम् मरणं] उनका मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया ?

(हे भाई ! तू जो यह मानता है कि 'पर जीव मुझे मारते हैं' सो यह तेरा अज्ञान है।) [जीवानां] जीवोंका [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवने [प्रज्ञप्तम्] कहा है; पर जीव [तव आयुः] तेरे आयुकर्मको तो [न हरंति] हरते नहीं हैं, [तैः] तो उन्होंने [ते मरणं] तेरा मरण [कथं] कैसे [कृतं] किया ?

टीकाः—प्रथम तो, जीवोंका मरण वास्तवमें अपने आयुकर्मके क्षयसे ही होता है, क्योंकि अपने आयुकर्मके क्षयके अभावमें मरण होना अशक्य है; और दूसरेसे दूसरेका स्व-आयुकर्म हरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (स्व-आयुकर्म) अपने उपभोगसे ही क्षयको प्राप्त होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई दूसरा किसी दूसरेका मरण नहीं कर सकता। इसलिये 'मैं परजीवोंको मारता हूँ, और परजीव मुझे मारते हैं' ऐसा अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (-नियमसे) अज्ञान है।

भावार्थः—जीवकी जो मान्यता हो तदनुसार जगतमें नहीं बनता हो, तो वह मान्यता अज्ञान है। अपने द्वारा दूसरेका तथा दूसरेसे अपना मरण नहीं किया जा सकता, तथापि यह प्राणी व्यर्थ ही ऐसा मानता है सो अज्ञान है। यह कथन निश्चयनयकी प्रधानतासे है।

व्यवहार इसप्रकार है:—परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे पर्यायका जो उत्पाद-व्यय हो उसे जन्म-मरण कहा जाता है; वहाँ जिसके निमित्तसे मरण (-पर्यायका व्यय) हो उसके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि "इसने इसे मारा" यह व्यवहार है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि व्यवहारका सर्वथा निषेध है। जो निश्चयको नहीं जानते,

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत्—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्। स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः।

उनका अज्ञान मिटानेके लिये यहाँ कथन किया है। उसे जाननेके बाद दोनों नयोंको अविरोधरूपसे जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिये।

अब पुनः प्रश्न होता है कि "(मरणका अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरणके अध्यवसायका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?" उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५०

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं पर जीवोंको जिलाता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः] पर जीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उलटा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीकाः—'परजीवोंको मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (-अत्यन्त निश्चितरूपसे) अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थः—यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं परको जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है।

जो मानता—मैं पर जिलाऊं, मुझ जीवन परसे रहे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २५० ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥ २५१ ॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥ २५२ ॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवनका) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५१–२५२

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] पर जीवोंको आयुकर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई !) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया ?

[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; पर जीव [तव] तुझे [आयुः च] आयुकर्म तो [न ददति] देते नहीं हैं [तैः] तो (हे भाई !) उन्होंने [ते जीवितं] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथं नु कृतं] कैसे किया ?

जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवर ने कहा ।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जीवन कैसे किया ॥ २५१ ॥
जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया ॥ २५२ ॥

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्तेति चेत्—

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः, यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।

उनका अज्ञान मिटानेके लिये यहाँ कथन किया है। उसे जाननेके बाद दोनों नयोंको अविरोधरूपसे जानकर यथायोग्य नय मानना चाहिये।

अब पुनः प्रश्न होता है कि "(मरणका अध्यवसाय अज्ञान है यह कहा सो जान लिया; किन्तु अब) मरणके अध्यवसायका प्रतिपक्षी जो जीवनका अध्यवसाय है उसका क्या हाल है ?" उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५०

अन्वयार्थः—[यः] जो जीव [मन्यते] यह मानता है कि [जीवयामि] मैं पर जीवोंको जिलाता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः] पर जीव [जीव्ये च] मुझे जिलाते हैं, [सः] वह [मूढः] मूढ (–मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] इससे विपरीत (जो ऐसा नहीं मानता किन्तु इससे उल्टा मानता है) वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीकाः—'परजीवोंको मैं जिलाता हूँ, और परजीव मुझे जिलाते हैं' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (–अत्यन्त निश्चितरूपसे) अज्ञान है। यह अध्यवसाय जिसके है वह जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थः—यह मानना अज्ञान है कि 'परजीव मुझे जिलाता है और मैं परको जिलाता हूँ' जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है, तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है।

जो मानता—मैं पर जिलावूं, मुझ जीवन परसे रहे।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है ॥ २५० ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥ २५१ ॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददति तव कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥ २५२ ॥

अब यह प्रश्न होता है कि यह (जीवनका) अध्यवसाय अज्ञान कैसे है? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५१–२५२

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; [त्वं] तू [आयुः च] पर जीवोंको आयुकर्म तो [न ददासि] नहीं देता [त्वया] तो (हे भाई!) तूने [तेषाम् जीवितं] उनका जीवन (जीवित रहना) [कथं कृतं] कैसे किया?

[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आयुकर्मके उदयसे [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [भणंति] कहते हैं; पर जीव [तव] तुझे [आयुः च] आयुकर्म तो [न ददति] देते नहीं हैं [तैः] तो (हे भाई!) उन्होंने [ते जीवितं] तेरा जीवन (जीवित रहना) [कथं नु कृतं] कैसे किया?

जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवर ने कहा ।
तू आयु तो देता नहीं, तैंने जीवन कैसे किया ॥ २५१ ॥
जीतव्य जीवका आयुदयसे, ये हि जिनवरने कहा ।
वो आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे किया ॥ २५२ ॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात्; स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्; ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात्। अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः॥ २५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेऽहमि-

---

टीका:—प्रथम तो, जीवोंका जीवित (जीवन) वास्तवमें अपने आयुकर्मके उदयसे ही है, क्योंकि अपने आयुकर्मके उदयके अभावमें जीवित रहना अशक्य है; और अपना आयुकर्म दूसरेसे दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना आयुकर्म) अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे कोई दूसरेका जीवन नहीं कर सकता। इसलिये 'मैं परको जिलाता हूँ और पर मुझे जिलाता है' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे (-नियतरूपसे) अज्ञान है।

भावार्थ:—पहले मरणके अध्यवसायके संबंधमें कहा था इसीप्रकार यहाँ भी जानना।

अब यह कहते हैं कि दुःख-सुख करनेके अध्यवसायकी भी यही गति है:—

गाथा २५३

अन्वयार्थ:—[यः] जो [इति मन्यते] यह मानता है कि [आत्मना तु] अपने द्वारा [सत्त्वान्] मैं (पर) जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [सः] वह [मूढः] मूढ (-मोही) है, [अज्ञानी] अज्ञानी है, [तु] और [अतः विपरीतः] जो इससे विपरीत है वह [ज्ञानी] ज्ञानी है।

टीका:—'परजीवोंको मैं दुःखी तथा सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी तथा सुखी करते हैं' इसप्रकारका अध्यवसाय ध्रुवरूपसे अज्ञान है। वह अध्यवसाय जिसके है वह

जो मानते आपसे दुःखीसुखी, मैं करूं परजीवको।
वो मूढ है, अज्ञानि है, विपरीत इससे ज्ञानि है॥ २५३॥

त्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः; यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुह कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥ २५४ ॥
कर्मोदयेनजीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कृतोऽसि कथं दुःखितस्तैः ॥ २५५ ॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥ २५६ ॥

जीव अज्ञानीपनेके कारण मिथ्यादृष्टि है; और जिसके वह अध्यवसाय नहीं है वह जीव ज्ञानीपनेके कारण सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थः—यह मानना अज्ञान है कि-'मैं परजीवोंको दुःखी या सुखी करता हूँ और परजीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं' । जिसे यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है; और जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानी है—सम्यग्दृष्टि है ।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २५४-२५६

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन]

जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें ।
तू कर्म तो देता नहीं, कैसे तु दुखित सुखी करे ? ॥ २५४ ॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुखित तुझ कैसे करें ? ॥ २५५ ॥
जहँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुखित अवरु सुखी बनें ।
वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें ? ॥ २५६ ॥

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे
स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं, तस्य .. .
कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितान्
दुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ।

(वसंततिलका)

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और [त्वं] तू [कर्म] उन्हें कर्म तो [न ददासि] देता नहीं है, तो (हे भाई !) तूने [ते] उन्हें [दुःखितसुखिताः] दुःखी-सुखी [कथं कृताः] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नही देते, तो (हे भाई !) [तैः] उन्होंने [दुःखितः] तुझको दुःखी [कथं कृतः असि] कैसे किया ?

[यदि] यदि [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] कर्मके उदयसे [दुःखितसुखिताः] दुखी-सुखी [भवंति] होते हैं, [च] और वे [तव] तुझे [कर्म] कर्म तो [न ददति] नही देते, तो (हे भाई !) [तैः] उन्होंने [त्वं] तुझको [सुखितः] सुखी [कथं कृतः] कैसे किया ?

टीका:—प्रथम तो, जीवोंको सुख-दुःख वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें सुख-दुःख होना अशक्य है; और अपना कर्म दूसरे द्वारा दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह (अपना कर्म) अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है; इसलिये किसी भी प्रकारसे एक दूसरेको सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिये यह अध्यवसाय ध्रुवरूपसे अज्ञान है कि 'मैं परजीवोंको सुखी-दुःखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं'।

भावार्थ:—जीवका जैसा आशय हो तदनुसार जगतमें कार्य न होते हों तो वह आशय अज्ञान है। इसलिये, सभी जीव अपने अपने कर्मोदयसे सुखी-दुःखी होते हैं वहाँ यह मानना कि 'मैं परको सुखी-दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी-दुःखी करता है,' सो अज्ञान है। निमित्तनैमित्तिकभावके आश्रयसे (किसीको किसीके) सुखदुःखका कर्ता कहना सो व्यवहार है; जो कि निश्चयकी दृष्टिमें गौण है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ १६८ ॥

(वसंततिलका)

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ १६९ ॥

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥

अर्थः—इस जगतमें जीवोंके मरण, जीवित, दुःख, सुख—सब सदैव नियमसे (-निश्चित रूपसे) अपने कर्मोदयसे होता है; यह मानना तो अज्ञान है कि—'दूसरा पुरुष दूसरेके मरण, जीवन, दुःख सुखको करता है' । १६८ ।

पुनः इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला और आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस (पूर्वकथित मान्यतारूप) अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण, जीवन, दुःख, सुखको देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष—जो कि इसप्रकार अहंकार-रससे कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं (अर्थात् 'मैं इन कर्मोंको करता हूँ' ऐसे अहंकाररूपी रससे जो कर्म करनेकी—मारने-जिलानेकी, सुखी-दुःखी करनेकी—वांछा करनेवाले हैं) वे—नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं, अपने आत्माका घात करनेवाले हैं ।

भावार्थः—जो परको मारने-जिलानेका तथा सुख-दुःख करनेका अभिप्राय रखते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं । वे अपने स्वरूपसे च्युत होते हुए रागी, द्वेषी, मोही होकर स्वतः ही अपना घात करते हैं, इसलिये वे हिंसक हैं । १६९ ।

मरता दुखी होता जु जीव सब कर्म उदयोंसे बनें ।
मुझसे मरा अरु दुखि हुआ क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ! ॥२५७॥
अरु नहिं मरे, नहिं दुखि बने, वे कर्म उदयोंसे बने ।
"मैंने न मारा दुखि करा" क्या मत न तुझ मिथ्या अरे ! ॥२५८॥

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७ ॥
यो न म्रियते न च दुःखितः सोऽपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८ ॥

यो हि म्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति वा स खलु स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात् । ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ।

अब इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

गाथा २५७–२५८

अन्वयार्थः—[यः म्रियते] जो मरता है [च] और [यः दुःखितः जायते] और जो दुःखी होता है [सः सर्वः] वह सब [कर्मोदयेन] कर्मोदयसे होता है; [तस्मात् तु] इसलिये [मारितः च दुःखितः] 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' [इति] ऐसा [ते] तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

[च] और [यः न म्रियते] जो न मरता है [च] और [नः दुःखितः] न दुःखी होता है [सः अपि] वह भी [खलु] वास्तवमें [कर्मोदयेन च एव] कर्मोदयसे ही होता है; [तस्मात्] इसलिये [न मारितः च न दुःखितः] 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नही किया' [इति] ऐसा तेरा अभिप्राय [न खलु मिथ्या] क्या वास्तवमें मिथ्या नही है ?

टीका:—जो मरता है या जीता है, दुःखी होता है या सुखी होता है, वह वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें उसका वैसा होना (मरना, जीना, दुःखी या सुखी होना) अशक्य है। इसलिये ऐसा देखनेवाला अर्थात् माननेवाला मिथ्यादृष्टि है कि—'मैंने इसे मारा, इसे जिलाया, इसे दुःखी किया, इसे सुखी किया'।

भावार्थ:—कोई किसीके मारे नहीं मरता और जिलाये नहीं जीता, तथा किसीके सुखी-दुःखी किये सुखी-दुःखी नहीं होता; इसलिये जो मारने, जिलाने आदिका अभिप्राय करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है—यह निश्चयका वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है।

अब आगेके कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुभ्)

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ १७० ॥

एसा दु जा मई दे दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते ति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५६ ॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २५९ ॥

परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ।

अर्थः—मिथ्यादृष्टिके जो यह अज्ञानस्वरूप *अध्यवसाय दिखाई देता है वही, विपर्ययस्वरूप (मिथ्या) होनेसे, उस मिथ्यादृष्टिके बंधका कारण है ।

भावार्थः—मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बंधका कारण है—ऐसा जानना चाहिए । १७० ।

अब, यह कहते हैं कि यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है:—

गाथा २५९

अन्वयार्थः—[ते] तेरी [एषा या मतिः तु] यह जो बुद्धि है कि मैं [सत्त्वान्] जीवोंको [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि इति] करता हूँ, [एषा ते मूढमतिः] यह तेरी मूढबुद्धि ही (मोहस्वरूप बुद्धि ही) [शुभाशुभं कर्म] शुभाशुभ कर्मको [बध्नाति] बाँधती है ।

टीकाः—'मैं पर जीवोंको मारता हूँ, नहीं मारता, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टिके है, वही स्वयं रागादिरूप होनेसे उसे (-मिथ्यादृष्टिको) शुभाशुभ बन्धका कारण है ।

भावार्थः—मिथ्या अध्यवसाय बन्धका कारण है ।

---

* जो परिणाम मिथ्या अभिप्राय सहित हो (-स्वपरके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणामके लिये अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त किया जाता है । (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्रायके अर्थमें भी अध्यवसाय शब्द प्रयुक्त होता है ।

ये बुद्धि तेरी 'दुखित अवरु सुखी करूं हूँ जीवको' ।
वो मूढमति तेरी अरे ! शुभ अशुभ बांधे कर्मको ॥ २५९ ॥

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ ॥

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६० ॥
मारयामि जीवयामि वा सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६१ ॥

अब, अध्यवसायको बंधके कारणके रूपमें भलीभाँति निश्चित करते हैं (अर्थात् मिथ्या अध्यवसाय ही बंधका कारण है ऐसा नियमसे कहते हैं):—

गाथा २६०–२६१

अन्वयार्थः—'[सत्त्वान्] जीवोंको मैं [दुःखितसुखितान्] दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा *अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पापका बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्यका बन्धक [भवति] होता है।

'[सत्त्वान्] जीवोंको मैं [मारयामि वा जीवयामि] मारता हूँ और जिलाता हूँ' [एवम्] ऐसा [यत् ते अध्यवसितं] जो तेरा अध्यवसान, [तत्] वही [पापबन्धकं वा] पापका बन्धक [पुण्यस्य बंधकं वा] अथवा पुण्यका बन्धक [भवति] होता है।

---

* जो परिणमन मिथ्या अभिप्राय सहित है (-स्वपरके एकत्वके अभिप्रायसे युक्त हो) अथवा वैभाविक हो उस परिणमनके लिये 'अध्यवसान' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। (मिथ्या) निश्चय अथवा (मिथ्या) अभिप्राय करनेके अर्थमें भी अध्यवसान प्रयुक्त होता है।

करता तु अध्यवसान—"दुःखित सुखी करूँ हूँ जीवको"।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्यको ॥ २६० ॥
करता तु अध्यवसान—"मैं मारूँ जिवाऊँ जीवको"।
वो बांधता है पापको वा बांधता है पुण्यको ॥ २६१ ॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः इत्यवधारणीयम् । न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं; एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि मारयामि इति, सुखयामि जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ।

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातम्—

अज्झवसिदेण बंधो सत्तो मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥ २६२ ॥

टीका:—मिथ्यादृष्टिके इस अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला रागमय अध्यवसाय ही बंधका कारण है यह भलीभाँति निश्चित करना चाहिये। और पुण्य-पापरूपसे बन्धका द्वित्व (दो-पनाँ) होनेसे बन्धके कारणका भेद नहीं ढूंढना चाहिये (अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि पुण्यबन्धका कारण दूसरा है और पापबन्धका कारण कोई दूसरा है), क्योंकि यह एक ही अध्यवसाय 'दुःखी करता हूँ, मारता हूँ' इसप्रकार और 'सुखी करता हूँ, जिलाता हूँ' यों दो प्रकारसे शुभ-अशुभ अहंकाररससे परिपूर्णताके द्वारा पुण्य और पाप-दोनोंके बन्धके कारण होनेमें अविरोध है-(अर्थात् एक ही अध्यवसायसे पुण्य और पाप—दोनोंका बन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं है)।

भावार्थ:—यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्धका कारण है। उसमें, 'मैं जिलाता हूँ, सुखी करता हूँ' ऐसे शुभ अहंकारसे भरा हुआ वह शुभ अध्यवसाय है और 'मैं मारता हूँ, दुखी करता हूँ' ऐसे अशुभ अहंकारसे भरा हुआ वह अशुभ अध्यवसाय है। अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनोंमें है; इसलिये अज्ञानमयतासे दोनों अध्यवसाय एक ही हैं। अतः यह न मानना चाहिये कि पुण्यका कारण दूसरा है और पापका कारण कोई अन्य। अज्ञानमय अध्यवसान ही दोनोंका कारण है।

'इसप्रकार वास्तवमें हिंसाका अध्यवसाय ही हिंसा है यह फलित हुआ'—यह कहते हैं:—

मारो—न मारो जीवको, है बंध अध्यवसानसे ।
—यह आतमाके बंधका, संक्षेप निश्चयनय विषैं ॥ २६२ ॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद्भवतु कदाचिन्मा भवतु, य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात्।

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥ २६३ ॥

गाथा २६२

अन्वयार्थः—[सत्त्वान्] जीवोंको [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा न मारो—[बंधः] कर्मबन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसान से ही होता है। [एषः] यह, [निश्चयनयस्य] निश्चयनयसे, [जीवानां] जीवोंके [बन्धसमासः] बन्धका संक्षेप है।

टीकाः—परजीवोंको अपने कर्मोदयकी विचित्रतावश प्राणोंका व्यपरोप (-उच्छेद, वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो,—किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रससे भरा हुआ हिंसाका अध्यवसाय ही निश्चयसे उसके (हिंसाका अध्यवसाय करनेवाले जीवको) बन्धका कारण है, क्योंकि निश्चयसे परका भाव जो प्राणोंका व्यपरोप वह दूसरेसे किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह परसे नहीं किया जा सकता)।

भावार्थः—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं किया जा सकता, वह उसके अपने कर्मोंके उदयकी विचित्रताके कारण कभी होता है और कभी नहीं होता। इसलिये जो यह मानता है—अहंकार करता है कि—'मैं परजीवको मारता हूँ,' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है—अपने विशुद्ध चैतन्य-प्राणका घात है, और वही बन्धका कारण है। यह निश्चयनयका मत है।

यहाँ व्यवहारनयको गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये यह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिये, सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

अब, (हिंसा-अहिंसाकी भाँति सर्व कार्योंमें) अध्यवसायको ही पाप-पुण्यके बन्धके कारणरूपसे दिखाते हैं:—

यों झूठ माँहि, अदत्तमें, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
जो होय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है ॥ २६२ ॥

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम् ॥ २६३ ॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम् ॥ २६४ ॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा

गाथा २६३–२६४

अन्वयार्थः—[एवम्] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसाके अध्यवसायके संबंधमें कहा गया है उसीप्रकार) [अलीके] असत्यमें, [अदत्ते] चोरीमें, [अब्रह्मचर्ये] अब्रह्मचर्यमें [च एव] और [परिग्रहे] परिग्रहमें [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पापं बध्यते] पापका बंध होता है; [तथापि च] और इसीप्रकार [सत्ये] सत्यमें, [दत्ते] अचौर्यमें, [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्यमें [च एव] और [अपरिग्रहत्वे] अपरिग्रहमें [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्यका बंध होता है ।

टीकाः—इसप्रकार अज्ञानसे यह जो हिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहमें भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्धका एकमात्र कारण है; और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबंधका एकमात्र कारण है ।

भावार्थः—जैसे हिंसामें अध्यवसाय पापबन्धका कारण है, उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका अध्यवसाय भी पापबन्धका कारण है । और जैसे अहिंसामें

इस रीत सत्य रु दत्तमें, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं ।
जो होंय अध्यवसान उससे पुण्यबन्धन होय है ॥ २६४ ॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः भवतु, य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ।

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥ २६३ ॥

गाथा २६२

अन्वयार्थः—[सत्त्वान्] जीवोंको [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा न मारो—[बंधः] कर्मबन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसान से ही होता है । [एषः] यह, [निश्चयनयस्य] निश्चयनयसे, [जीवानां] जीवोंके [बन्धसमासः] बन्धका संक्षेप है ।

टीकाः—परजीवोंको अपने कर्मोदयकी विचित्रतावश प्राणोंका व्यपरोप (—वियोग) कदाचित् हो, कदाचित् न हो,—किन्तु 'मैं मारता हूँ' ऐसा अहंकार रससे भरा हुआ हिंसाका अध्यवसाय ही निश्चयसे उसके (हिंसाका अध्यवसाय करनेवाले जीवको) बन्धका कारण है, क्योंकि निश्चयसे परका भाव जो प्राणोंका व्यपरोप वह दूसरेसे किया जाना अशक्य है (अर्थात् वह परसे नहीं किया जा सकता)।

भावार्थः—निश्चयनयसे दूसरेके प्राणोंका वियोग दूसरेसे नहीं किया जा सकता; वह उसके अपने कर्मोंके उदयकी विचित्रताके कारण कभी होता है और कभी नहीं होता। इसलिये जो यह मानता है—अहंकार करता है कि—'मैं परजीवको मारता हूँ,' उसका यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वह अध्यवसाय ही हिंसा है—अपने विशुद्ध चैतन्य-प्राणका घात है, और वही बन्धका कारण है। यह निश्चयनयका मत है।

यहाँ व्यवहारनयको गौण करके कहा है ऐसा जानना चाहिये। इसलिये यह कथन कथंचित् (अपेक्षापूर्वक) है ऐसा समझना चाहिये; सर्वथा एकान्तपक्ष मिथ्यात्व है।

अब, (हिंसा-अहिंसाकी भाँति सर्व कार्योंमें) अध्यवसायको ही पाप-पुण्यके बन्धके कारणरूपसे दिखाते हैं:—

यों झूठ माँहिं, अदत्तमें, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं ।
जो होय अध्यवसान उससे पापबंधन होय है ॥ २६३ ॥

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥ २६४ ॥

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम् ॥ २६३ ॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम् ॥ २६४ ॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा

गाथा २६३–२६४

अन्वयार्थः—[**एवम्**] इसीप्रकार (जैसा कि पहले हिंसाके अध्यवसायके संबंधमें कहा गया है उसीप्रकार) [**अलीके**] असत्यमें, [**अदत्ते**] चोरीमें, [**अब्रह्मचर्ये**] अब्रह्मचर्यमें [**च एव**] और [**परिग्रहे**] परिग्रहमें [**यत्**] जो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान [**क्रियते**] किया जाता है [**तेन तु**] उससे [**पापं बध्यते**] पापका बंध होता है; [**तथापि च**] और इसीप्रकार [**सत्ये**] सत्यमें, [**दत्ते**] अचौर्यमें, [**ब्रह्मणि**] ब्रह्मचर्यमें [**च एव**] और [**अपरिग्रहत्वे**] अपरिग्रहमें [**यत्**] जो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान [**क्रियते**] किया जाता है [**तेन तु**] उससे [**पुण्यं बध्यते**] पुण्यका बंध होता है ।

टीकाः—इसप्रकार अज्ञानसे यह जो हिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहमें भी जो (अध्यवसाय) किया जाता है, वह सब पाप बन्धका एकमात्र कारण है; और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी (अध्यवसाय) किया जाये, वह सब पुण्यबंधका एकमात्र कारण है ।

भावार्थः—जैसे हिंसामें अध्यवसाय पापबन्धका कारण है, उसीप्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका अध्यवसाय भी पापबन्धका कारण है । और जैसे अहिंसामें

इस रीत सत्य रु दत्तमें, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रहविषैं ।
जो होंय अध्यवसान उससे पुण्यबन्धन होय है ॥ २६४ ॥

विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु .
एव पुण्यबंधहेतुः ।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम्—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम् ।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति ॥ २६५ ॥

अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य

अध्यवसाय पुण्यबन्धका कारण है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और . .
वसाय भी पुण्यबन्धका कारण है। इसप्रकार, पाँच पापोंमें (अव्रतोंमें)
जाये सो पापबन्धका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतोंमें अध्यवसाय [illegible]
जाये सो पुण्यबन्धका कारण है। पाप और पुण्य दोनोंके बन्धनमें, अध्यवसाय ही [illegible]
बन्धका कारण है।

और भी यह कहना शक्य नहीं है कि 'बाह्यवस्तु दूसरा भी बन्धका कारण है'।
('अध्यवसाय बन्धका एक कारण है और बाह्यवस्तु बन्धका दूसरा कारण है' ऐसा भी नहीं
कहा जा सकता; क्योंकि अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) [illegible]
अर्थकी गाथा अब कहते हैं:—

गाथा २६५

अन्वयार्थः—[पुनः] और, [जीवानाम्] जीवोंके [यत्] जो [[illegible]
तु] अध्यवसान [भवति] होता है वह [वस्तु] वस्तुको [प्रतीत्य] [illegible]
होता है [न तु] तथापि [वस्तुतः] वस्तुसे [न बंधः] बंध नहीं होता,
[अध्यवसानेन] अध्यवसानसे ही [बंधः अस्ति] बंध होता है।

टीकाः—अध्यवसान ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि बन्धका कारण
जो अध्यवसान है उसके कारणत्वसे ही बाह्यवस्तुकी चरितार्थता है (अर्थात् बंधके कारणरूप

जो होय अध्यवसान जीवके, वस्तु-आश्रित वो बने ।
पर वस्तुसे नहिं बन्ध, अध्यवसानसे ही बन्ध है ॥ २६५ ॥

चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते । यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत । न च जायते । ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति नियमः । तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः; हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात् । न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यवस्तु बन्धहेतुः स्यात्, ईर्यासमितिपरिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत् बाह्यवस्तुनो बंध-

---

अध्यवसानका कारण होनेमें ही बाह्यवस्तुका कार्यक्षेत्र पूरा हो जाता है, वह वस्तु बन्धका कारण नहीं होती)। यहाँ प्रश्न होता है कि—यदि बाह्यवस्तु बन्धका कारण नहीं है तो ('बाह्यवस्तुका प्रसंग मत करो, किन्तु त्याग करो' इसप्रकार) बाह्यवस्तुका निषेध किसलिये किया जाता है ? इसका समाधान इसप्रकार है:—अध्यवसानके निषेधके लिये बाह्यवस्तुका निषेध किया जाता है। अध्यवसानको बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तुका आश्रय किये विना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। यदि बाह्यवस्तुके आश्रयके विना भी अध्यवसान उत्पन्न होता हो तो, जैसे आश्रयभूत वीरजननीके पुत्रके सद्भावमें (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि 'मैं वीरजननीके पुत्रको मारता हूँ' इसीप्रकार आश्रयभूत बंध्यापुत्रके असद्भावमें भी (किसीको) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होना चाहिये कि 'मैं बंध्यापुत्रको मारता हूँ'। परन्तु ऐसा अध्यवसाय तो (किसीको) उत्पन्न नहीं होता। (जहाँ बन्ध्याका पुत्र ही नहीं होता वहाँ मारनेका अध्यवसाय कहाँ से उत्पन्न होगा ?) इसलिये यह नियम है कि (बाह्यवस्तुरूप) आश्रयके बिना अध्यवसान नहीं होता। और इसीलिये अध्यवसानको आश्रयभूत बाह्यवस्तुका अत्यन्त निषेध किया है, क्योंकि कारणके प्रतिषेधसे ही कार्यका प्रतिषेध होता है। (बाह्यवस्तु अध्यवसानका कारण है इसलिये उसके प्रतिषेधसे अध्यवसानका प्रतिषेध होता है)। परन्तु, यद्यपि बाह्यवस्तु बंधके कारणका (अर्थात् अध्यवसानका) कारण है तथापि वह (बाह्यवस्तु) बंधका कारण नहीं है; क्योंकि ईर्यासमितिमें परिणमित मुनींद्रके चरणसे मर जानेवाले-ऐसे किसी वेगसे आपतित कालप्रेरित उड़ते हुए जीवकी भाँति, बाह्यवस्तु—जो कि बंधके कारणका कारण है वह-बंधका कारण न होनेसे, बाह्यवस्तुको बंधका कारणत्व माननेमें अनैकान्तिक हेत्वाभासत्व है—व्यभिचार आता है। (इसप्रकार निश्चयसे बाह्यवस्तुको बंधका कारणत्व निर्बाधतया सिद्ध नहीं होता।) इसलिये बाह्यवस्तु जो कि जीवको अतद्भावरूप है वह बन्धका कारण नहीं है; किन्तु अध्यवसान जो कि जीवको तद्भावरूप है वही बंधका कारण है।

विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स एव पुण्यबंधहेतुः ।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति शंक्यम्—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥ २६५ ॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम् ।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोऽस्ति ॥ २६५ ॥

अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु, तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य [illegible]

अध्यवसाय पुण्यबन्धका कारण है उसीप्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें अध्यवसाय भी पुण्यबन्धका कारण है। इसप्रकार, पाँच पापोंमें (अव्रतोंमें) अध्यवसाय किया जाये सो पापबन्धका कारण है और पाँच (एकदेश या सर्वदेश) व्रतोंमें अध्यवसाय किया जाये सो पुण्यबन्धका कारण है। पाप और पुण्य दोनोंके बन्धनमें, अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है।

और भी यह कहना शक्य नहीं है कि 'बाह्यवस्तु दूसरा भी बन्धका कारण है'। ('अध्यवसाय बन्धका एक कारण है और बाह्यवस्तु बन्धका दूसरा कारण है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अध्यवसाय ही एकमात्र बन्धका कारण है, बाह्यवस्तु नहीं।) इसी अर्थकी गाथा अब कहते हैं:—

गाथा २६५

अन्वयार्थः—[पुनः] और, [जीवानाम्] जीवोंके [यत्] जो [अध्यवसानं तु] अध्यवसान [भवति] होता है वह [वस्तु] वस्तुको [प्रतीत्य] [illegible] होता है [च तु] तथापि [वस्तुतः] वस्तुसे [न बंधः] बंध नहीं होता, [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे ही [बंधः अस्ति] बंध होता है।

टीका:—अध्यवसान ही बन्धका कारण है; बाह्य वस्तु नहीं, क्योंकि [illegible] जो अध्यवसान है उसके कारणत्वसे ही बाह्यवस्तुकी चरितार्थता है (अर्थात् बंधके [illegible]

जो होय अध्यवसान जीवके, वस्तु-आश्रित सो बने ।
पर वस्तुसे नहिं बन्ध, अध्यवसानसे ही बन्ध है ॥ २६५ ॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि मोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव।

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम् ॥ २६७ ॥

दुःखी-सुखी [**करोमि**] करता हूँ, [**बंधयामि**] बँधाता हूँ [**तथा विमोचयामि**] तथा छुड़ाता हूँ' [**या एषा ते मूढमतिः**] ऐसी जो यह तेरी मूढ़ मति (-मोहितबुद्धि) है [**सा**] वह [**निरर्थिका**] निरर्थक होनेसे [**खलु**] वास्तवमें [**मिथ्या**] मिथ्या है।

टीका:—मैं परजीवोंको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभावका परमें व्यापार न होनेके कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये 'मैं आकाश पुष्पको तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसानकी भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थके लिये ही है (अर्थात् मात्र अपने लिये ही हानिका कारण होता है, परका तो कुछ कर नहीं सकता)।

भावार्थ:—जो अपनी अर्थक्रिया (-प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवोंको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिये वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होनेसे मिथ्या है—झूँठी है।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २६७

अन्वयार्थः—हे भाई! [**यदि हि**] यदि वास्तवमें [**अध्यवसाननिमित्तं**]

सब जीव अध्यवसानकारण, कर्मसे बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला॥ २६७॥

हेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। ततो न
बन्धहेतुः, अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य .

दर्शयति—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥ २६६ ॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥ २६६ ॥

भावार्थः—बंधका कारण निश्चयसे अध्यवसान ही है; और जो बाह्यवस्तुयें हैं वे अध्यवसानका आलम्बन हैं—उनको अवलम्बकर अध्यवसान उत्पन्न होता है, इसलिये उन्हें अध्यवसानका कारण कहा जाता है। बाह्यवस्तुके बिना निराश्रयतया अध्यवसान उत्पन्न नहीं होते इसलिये बाह्यवस्तुओंका त्याग कराया जाता है। यदि बाह्यवस्तुओंको बन्धका कारण कहा जावे तो उसमें व्यभिचार (दोष) आता है। (कारण होने पर भी कहीं कार्य दिखाई देता है और कहीं नहीं दिखाई देता उसे व्यभिचार कहते हैं और ऐसे कारणको व्यभिचारी—अनैकान्तिक-कारणाभास कहते हैं।) कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यत्नसे गमन करते हों और उनके पैरके नीचे कोई उड़ता हुआ जीव वेगपूर्वक आ गिरे तथा मर जावे तो मुनिको उसकी हिंसा नहीं लगती। यहाँ यदि बाह्यदृष्टिसे देखा जावे तो हिंसा हुई है, परन्तु मुनिके हिंसाका अध्यवसाय नहीं होनेसे उन्हें बन्ध नहीं होता। जैसे पैरके नीचे आकर मर जानेवाला जीव मुनिके बन्धका कारण नहीं है उसीप्रकार अन्य बाह्यवस्तुओंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। इसप्रकार बाह्यवस्तुको बंधका कारण माननेमें व्यभिचार आता है, इसलिये बाह्यवस्तु बंधका कारण नहीं है यह सिद्ध हुआ। और बाह्यवस्तु बिना निराश्रयसे अध्यवसान नहीं होता, इसलिये बाह्यवस्तुका निषेध भी है ही।

इसप्रकार बन्धके कारणरूपसे निश्चित किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला न होनेसे मिथ्या है—यह अब बतलाते हैं:—

गाथा २६६

अन्वयार्थः—हे भाई! '[जीवान्] मैं जीवोंको [दुःखितसुखितान्]

करता दुखी सुखि जीवको, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे।
ये मूढ मति तुझ है निरर्थक, इस हि से मिथ्या हि है॥ २६६ ॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि मोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव।

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारीति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करेसि तुमं ॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वम् ॥ २६७ ॥

दुःखी-सुखी [करोमि] करता हूँ, [बंधयामि] बँधाता हूँ [तथा विमोचयामि] तथा छुड़ाता हूँ' [या एषा ते मूढ़मतिः] ऐसी जो यह तेरी मूढ़ मति (-मोहितबुद्धि) है [सा] वह [निरर्थिका] निरर्थक होनेसे [खलु] वास्तवमें [मिथ्या] मिथ्या है।

टीकाः—मैं परजीवोंको दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि तथा बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि जो यह अध्यवसान है वह सब, परभावका परमें व्यापार न होनेके कारण अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये 'मैं आकाश पुष्पको तोड़ता हूँ' ऐसे अध्यवसानकी भाँति मिथ्यारूप है, मात्र अपने अनर्थके लिये ही है (अर्थात् मात्र अपने लिये ही हानिका कारण होता है, परका तो कुछ कर नहीं सकता)।

भावार्थः—जो अपनी अर्थक्रिया (-प्रयोजनभूत क्रिया) नहीं कर सकता वह निरर्थक है, अथवा जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परजीवोंको दुःखी-सुखी आदि करनेकी बुद्धि करता है, परन्तु परजीव अपने किये दुःखी-सुखी नहीं होते; इसलिये वह बुद्धि निरर्थक है और निरर्थक होनेसे मिथ्या है—झूँठी है।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला कैसे नहीं है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २६७

अन्वयार्थः—हे भाई ! [यदि हि] यदि वास्तवमें [अध्यवसाननिमित्तं]

सब जीव अध्यवसानकारण, कर्मसे बँधते जहाँ।
अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू हि क्या करता भला ॥ २६७ ॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बंधनं मोचनं जीवानाम्। जीवस्त्वस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरामयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते न मुच्यते; सरागवीतरामयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्या-ध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते मुच्यते च। ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि; ततश्च मिथ्यैवेति भावः।

(अनुष्टुभ्)

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ १७१ ॥

अध्यवसानके निमित्तसे [जीवाः] जीव [कर्मणा बध्यंते] कर्मसे बंधते हैं [च] और [मोक्षमार्गे स्थिताः] मोक्षमार्गमें स्थित [मुच्यंते] छूटते हैं, [तद्] तो [त्वम् किं करोषि] तू क्या करता है? (तेरा बांधने-छोड़नेका अभिप्राय व्यर्थ गया।)

टीका:—'मैं बँधाता हूँ, छुड़ाता हूँ' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अपनी अर्थक्रिया जीवोंको बाँधना, छोड़ना है। किन्तु जीव तो, इस अध्यवसायका सद्भाव होने पर भी, अपने सराग-वीतराग परिणामके अभावसे नहीं बँधता और मुक्त नहीं होता; तथा अपने सराग-वीतराग परिणामके सद्भावसे, उस अध्यवसायका अभाव होने पर भी, बँधता है, छूटता है। इसलिये परमें अकिंचित्कर होनेसे (अर्थात् कुछ नहीं कर सकता होनेसे) यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है; और इसलिये मिथ्या ही है।—ऐसा भाव (आशय) है।

भावार्थ:—जो हेतु कुछ भी नहीं करता वह अकिंचित्कर कहलाता है। यह बाँधने-छोड़नेका अध्यवसान भी परमें कुछ नहीं करता; क्योंकि यदि वह अध्यवसान न हो तो भी जीव अपने सराग-वीतराग परिणामसे बंध-मोक्षको प्राप्त होता है, और वह अध्यवसान हो तो भी अपने सराग-वीतराग परिणामके अभावसे बंध-मोक्षको प्राप्त नहीं होता। इसप्रकार अध्यवसान परमें अकिंचित्कर होनेसे स्व-अर्थक्रिया करनेवाला नहीं है इसलिये मिथ्या है।

अब इस अर्थका कलशरूप और आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसायसे मोहित होता हुआ आत्मा अपनेको सर्वरूप करता है,—ऐसा कुछ भी नहीं है जिसरूप अपनेको न करता हो।

भावार्थ:—यह आत्मा मिथ्या अभिप्रायसे भूला हुआ चतुर्गति-संसारमें जितनी अवस्थाएँ हैं, जितने पदार्थ हैं उन सर्वरूप अपनेको हुआ मानता है; अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं पहिचानता। १७१।

अब इस अर्थको स्पष्टतया गाथामें कहते हैं:—

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥ २६८ ॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥ २६९ ॥

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥ २६८ ॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम् ॥ २६९ ॥

यथायमेव क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकं, इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमान

गाथा २६८–२६९

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [तिर्यङ्नैरयिकान्] तिर्यंच, नारक, [देवमनुजान् च] देव और मनुष्य [सर्वान्] इन सर्व पर्यायों, [च] तथा [नैकविधम्] अनेक प्रकारके [पुण्यं पापं] पुण्य और पाप—[सर्वान्] इन सबरूप [करोति] अपनेको करता है । [तथा च] और उसीप्रकार [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसानसे [धर्माधर्मं] धर्म-अधर्म, [जीवाजीवौ] जीव-अजीव [च] और [अलोकलोकं] लोक-अलोक [सर्वान्] इन सबरूप [आत्मानम् करोति] अपनेको करता है ।

टीकाः—जैसे यह आत्मा *क्रिया जिसका गर्भ है ऐसे हिंसाके अध्यवसानसे अपनेको हिंसक करता है, (अहिंसाके अध्यवसानसे अपनेको अहिंसक करता है) और अन्य

* हिंसा आदिके अध्यवसान राग-द्वेषके उदयमय हनन आदिकी क्रियाओंसे परिपूर्ण हैं, अर्थात् उन क्रियाओंके साथ आत्माकी तन्मयता होनेकी मान्यतारूप हैं ।

तिर्यंच, नारक, देव, मानव, पुण्य पाप अनेक जे ।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥ २६८ ॥
अरु त्यों हि धर्म अधर्म, जीव अजीव, लोक अलोक जे ।
उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसानसे ॥ २६९ ॥

तिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, ध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, पापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात्। तथैव च ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, पुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं, लोकाकाशाध्यवसानेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात्।

(इन्द्रवज्रा)

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककंदोऽध्यवसाय एवं
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

अध्यवसानोंसे अपनेको अन्य करता है, इसीप्रकार उदयमें आते हुवे नारकके अध्यवसानसे अपनेको नारकी करता है, उदयमें आते हुवे तिर्यंचके अध्यवसानसे अपनेको तिर्यंच करता है, उदयमें आते हुवे मनुष्यके अध्यवसानसे अपनेको मनुष्य करता है, उदयमें आते हुवे देवके अध्यवसानसे अपनेको देव करता है, उदयमें आते हुवे सुख आदि पुण्यके अध्यवसानसे अपनेको पुण्यरूप करता है और उदयमें आते हुवे दुःख आदि पापके अध्यवसानसे अपनेको पापरूप करता है; और इसीप्रकार जाननेमें आता हुवा जो धर्म (धर्मास्तिकाय) है उसके अध्यवसानसे अपनेको धर्मरूप करता है, जाननेमें आते हुवे अधर्मके (अधर्मास्तिकायके) अध्यवसानसे अपनेको अधर्मरूप करता है, जाननेमें आते हुवे अन्य जीवके अध्यवसानोंसे अपनेको अन्यजीवरूप करता है, जाननेमें आते हुए पुद्गलके अध्यवसानोंसे अपनेको पुद्गलरूप करता है, जाननेमें आते हुवे लोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको लोकाकाशरूप करता है और जाननेमें आते हुवे अलोकाकाशके अध्यवसानसे अपनेको अलोकाकाशरूप करता है। (इसप्रकार आत्मा अध्यवसानसे अपनेको सर्वरूप करता है।)

भावार्थः—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये उसे अपना परमार्थस्वरूप नहीं जानना चाहिये। उस अध्यवसानसे ही आत्मा अपनेको अनेक अवस्थारूप करता है अर्थात् उनमें अपनापन मानकर प्रवर्तता है।

अब इस अर्थका कलशरूप तथा आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—विश्वसे (समस्त द्रव्योंसे) भिन्न होने पर भी आत्मा जिसके प्रभावसे अपनेको विश्वरूप करता है ऐसा यह अध्यवसान—कि जिसका मोह ही एक मूल है वह— जिनके नहीं है वे ही मुनि हैं। १७२।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।
ते अशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥ २७० ॥

एतानि किल यानि त्रिविधान्यध्यवसानानि तानि समस्तान्यपि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथा हि—यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तत् ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् । * * * यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपि ज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् । ततो बंधनिमित्तान्ये-

---

यह अध्यवसाय जिनके नहीं हैं वे मुनि कर्मसे लिप्त नहीं होते—यह अब गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७०

अन्वयार्थः—[एतानि] यह (पूर्व कथित) [एवमादीनि] तथा ऐसे और भी [अध्यवसानानि] अध्यवसान [येषाम्] जिनके [न संति] नहीं हैं, [ते मुनयः] वे मुनि [अशुभेन] अशुभ [वा शुभेन] या शुभ [कर्मणा] कर्मसे [न लिप्यंते] लिप्त नहीं होते ।

टीकाः—यह जो तीनों प्रकारके अध्यवसान हैं वे सभी स्वयं अज्ञानादिरूप (अर्थात् अज्ञान, मिथ्यादर्शन और अचारित्ररूप) होनेसे शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं । इसे विशेष समझाते हैं:—'मैं (परजीवोंको) मारता हूँ' इत्यादि जो अध्यवसान है

---

* संस्कृत टीकामें इस स्थान पर एक वाक्य छूट गया है; वह प्रायः निम्नप्रकार होगा ऐसा प्रतीत होता है ।

यत्पुनर्नारकोहमित्याद्यध्यवसानं तदप्यज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञायकैकभावस्य कर्मोदयजनितनारकादिभावानां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं ।

इन आदि अध्यवसान विधविध वर्तते नहिं जिनहिको ।
शुभ-अशुभ कर्म अनेकसे, मुनिराज वे नहिं लिप्त हों ॥ २७० ॥

वैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न विद्यंते त एव
सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं

उस अध्यवसान वाले जीवको ज्ञानमयपनेके सद्भावसे [1]सतरूप, [2]अहेतुक,
एक क्रिया है ऐसे आत्माका और रागद्वेषके उदयमय ऐसी [4]हनन आदि
नहीं जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे, वह अध्यवसान प्रथम तो
आत्माका अदर्शन (अश्रद्धान) होनेसे (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन है
अनाचरण होनेसे (वह अध्यवसान) अचारित्र है। × × × और
है' इत्यादि जो अध्यवसान है उस अध्यवसानवाले जीवको भी
सद्भावसे सतरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे आत्माका
धर्मादिकरूपोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे,
प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे (वह अध्यवसान) मिथ्यादर्शन
भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे (वह अध्यवसान) अचारित्र है। इसलिये यह
अध्यवसान बंधके ही निमित्त हैं।

मात्र जिनके यह अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही कोई (विरले) मुनि
सतरूप अहेतुक ज्ञप्ति ही जिसकी एक क्रिया है, सतरूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसके एक भाव है
और सतरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है ऐसे भिन्न आत्माको (-सर्व अन्यद्रव्य
भिन्न आत्माको) जानते हुए, सम्यक्प्रकारसे देखते (श्रद्धा करते) हुए और आचरण करते
हुए, स्वच्छ और स्वच्छन्दतया उदयमान (स्वाधीनतया प्रकाशमान) ऐसी अमंद अन्तर्ज्योतिको
अज्ञानादिरूपताका अत्यन्त अभाव होनेसे (अर्थात् अन्तरंगमें प्रकाशित होती हुई ज्ञानज्योति
किंचित् मात्र भी अज्ञानरूप, मिथ्यादर्शनरूप और अचारित्ररूप नहीं होती इसलिये) शुभ
या अशुभ कर्मसे वास्तवमें लिप्त नहीं होते।

इसका हिन्दी-अनुवाद इसप्रकार है:—

और 'मैं नारक हूँ' इत्यादि अध्यवसान अज्ञानमय है वह अध्यवसानवाले जीवको ज्ञानमयपनेके सद्भावसे सतरूप अहेतुक ज्ञायक ही जिसका एक भाव है ऐसा आत्माका और कर्मोदयजनित नारक आदि भावोंका विशेष न जाननेके कारण भिन्न आत्माका अज्ञान होनेसे, वह अध्यवसान प्रथम तो अज्ञान है, भिन्न आत्माका अदर्शन होनेसे मिथ्यादर्शन है और भिन्न आत्माका अनाचरण होनेसे अचारित्र है।

१ सतरूप=सत्तास्वरूप; अस्तित्वरूप (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सतरूप ज्ञप्ति ही उसकी एक क्रिया है।) २ अहेतुक=जिसका कोई कारण नहीं है ऐसी; अकारण; स्वतःसिद्ध; सहज। ३ ज्ञप्ति=जानना; जाननेरूपक्रिया। ज्ञप्तिक्रिया सतरूप है, और सतरूप होनेसे अहेतुक है।) ४ हनन=घात करना; घात करनेरूप क्रिया। (घात करना आदि क्रियायें रागद्वेषके उदयमय हैं।)

× विशेष=अंतर; भिन्न लक्षण। ÷ आत्मा ज्ञानमय है इसलिये सतरूप अहेतुक ज्ञान ही जिसका एक रूप है।

जानंतः सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा न खलु लिप्येरन् ।

किमेतदध्यवसानंनामेति चेत्—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम् ।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥ २७१ ॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं; तदेव च बोधन-

---

भावार्थः—यह जो अध्यवसान हैं वे 'मैं परका हनन करता हूँ' इसप्रकारके हैं, 'मैं नारक हूँ,' इसप्रकारके हैं तथा 'मैं परद्रव्यको जानता हूँ' इसप्रकारके हैं। वे, जबतक आत्माका और रागादिका, आत्माका और नारकादि कर्मोदयजनित भावोंका तथा आत्माका और ज्ञेयरूप अन्यद्रव्योंका भेद न जाना हो, तबतक रहते हैं। वे भेदज्ञानके अभावके कारण मिथ्याज्ञानरूप हैं, मिथ्यादर्शनरूप हैं और मिथ्याचारित्ररूप हैं; यों तीन प्रकारके होते हैं। वे अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनिकुंजर हैं। वे आत्माको सम्यक् जानते हैं, सम्यक् श्रद्धा करते हैं और सम्यक् आचरण करते हैं, इसलिये अज्ञानके अभावसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप होते हुये कर्मोंसे लिप्त नहीं होते।

"यहाँ बारम्बार अध्यवसान शब्द कहा गया है, वह अध्यवसान क्या है ? उसका स्वरूप भलीभाँति समझमें नहीं आया"। ऐसा प्रश्न होने पर, अध्यवसानका स्वरूप गाथा द्वारा कहते हैं।

गाथा २७१

अन्वयार्थः—[**बुद्धिः**] बुद्धि, [**व्यवसायः अपि च**] व्यवसाय, [**अध्यवसानं**] अध्यवसान, [**मतिः च**] मति, [**विज्ञानम्**] विज्ञान, [**चित्तं**] चित्त, [**भावः**] भाव [**च**] और [**परिणामः**] परिणाम—[**सर्वं**] ये सब [**एकार्थम् एव**] एकार्थ ही हैं (अर्थात् नाम अलग २ हैं किन्तु अर्थ भिन्न नहीं हैं)।

टीकाः—स्व-परका अविवेक हो (स्व-परका भेदज्ञान न हो) तब जीवकी अध्य-

---

जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान, अरु विज्ञान है।
परिणाम, चित्त रु भाव-शब्दहि सर्व ये एकार्थ हैं ॥ २७१ ॥

मात्रत्वाद्बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद्व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, ज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चितो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः मात्रत्वात्परिणामः ।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम् ॥ १७३ ॥

वसितिमात्र* अध्यवसान है; और वही (जिसे अध्यवसान कहा है वही) बोधनमात्रत्वसे बुद्धि है, ×व्यवसानमात्रत्वसे व्यवसाय है, ÷मननमात्रत्वसे मति है, विज्ञप्तिमात्रत्वसे विज्ञान है, चेतनामात्रत्वसे चित्त है, चेतनके भवनमात्रत्वसे भाव है, चेतनके परिणमनमात्रत्वसे परिणाम है । (इसप्रकार यह सब शब्द एकार्थवाची हैं ।)

भावार्थः—यह जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे गये हैं वे सब चेतन आत्माके परिणाम हैं । जबतक स्वपरका भेदज्ञान न हो तबतक जीवके जो अपने और परके एकत्वकी निश्चयरूप परिणति पाई जाती है उसे बुद्धि आदि आठ नामोंसे कहा जाता है ।

'अध्यवसान त्यागनेयोग्य कहे हैं इससे ऐसा ज्ञात होता है कि व्यवहारका त्याग और निश्चयका ग्रहण कराया है'—इस अर्थका, एवं आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आचार्यदेव कहते हैं कि—सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब (अध्यवसान) जिनेन्द्र भगवानने पूर्वोक्त रीतिसे त्यागनेयोग्य कहे हैं इसलिये हम यह मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है ।' तब फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चयको ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निज महिमामें (-आत्मस्वरूपमें) स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

भावार्थः—जिनेन्द्रदेवने अन्य पदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं इससे यह समझना चाहिये कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है । इसलिये आचार्यदेवने शुद्धनिश्चयके ग्रहणका ऐसा उपदेश दिया है कि—'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें स्थिरता रखो' । और, "जब कि भगवानने अध्यवसान छुड़ाये हैं तब फिर सत्पुरुष निश्चयको निश्चलतापूर्वक अंगीकार करके स्वरूपमें स्थिर क्यों नहीं होते ?—यह हमें आश्चर्य होता है," यह कहकर आचार्यदेवने आश्चर्य प्रगट किया है । १७३ ।

---

* अध्यवसिति—(एकमें दूसरेकी मान्यतापूर्वक) परिणति; (मिथ्या) निश्चिति; (मिथ्या) निश्चय होना । ×व्यवसान—काममें लगे रहना; उद्यमी होना; निश्चय होना । ÷मनन=मानना; जानना ।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन।
निश्चयनयाश्रिताः पुनर्मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणम् ॥ २७२ ॥

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः,

---

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७२

अन्वयार्थः—[एवं] इसप्रकार [व्यवहारनयः] (पराश्रित) व्यवहारनय [निश्चयनयेन] निश्चयनयके द्वारा [प्रतिषिद्धः जानीहि] निषिद्ध जान; [पुनः निश्चयनयाश्रिताः] निश्चयनयके आश्रित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] निर्वाणको [प्राप्नुवंति] प्राप्त होते हैं।

टीका:—आत्माश्रित (अर्थात् स्व-आश्रित) निश्चयनय है, पराश्रित (अर्थात् परके आश्रित) व्यवहारनय है। वहाँ, पूर्वोक्त प्रकारसे पराश्रित समस्त अध्यवसान (अर्थात् अपने और परके एकत्वकी मान्यतापूर्वक परिणमन) बंधका कारण होनेसे मुमुक्षुओंको उसका (–अध्यवसानका) निषेध करते हुए ऐसे निश्चयनयके द्वारा वास्तवमें व्यवहारनयका ही निषेध कराया है, क्योंकि व्यवहारनयके भी पराश्रितता समान ही है (–जैसे अध्यवसान पराश्रित है उसीप्रकार व्यवहारनय भी पराश्रित है, उसमें अन्तर नहीं है)। और इसप्रकार यह व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनयका आश्रय करनेवाले ही (कर्मोंसे) मुक्त होते हैं और पराश्रित व्यवहारनयका आश्रय तो एकांततः मुक्त नहीं होनेवाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ:—आत्माके परके निमित्तसे जो अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनयके विषय हैं इसलिये व्यवहारनय पराश्रित है, और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वही निश्चयनयका विषय है इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनयका ही विषय है इसलिये अध्यवसानका त्याग व्यवहारनयका ही त्याग है, और जो पूर्वोक्त गाथाओंमें

व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनयहिसे।
मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्षकी प्राप्ती करे ॥ २७२ ॥

तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् । प्रतिषेध्य एव चायं, ... नामेव मुच्यमानत्वात् ... माणत्वाच्च ।

कथमभव्येनाप्याश्रियते व्यवहारनयः इति चेत्—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥ २७३ ॥

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहार-

---

अध्यवसानके त्यागका उपदेश है वह व्यवहारनयके ही त्यागका उपदेश है। इसप्रकार निश्चय-नयको प्रधान करके व्यवहारनयके त्यागका उपदेश किया है उसका कारण यह है कि—जो निश्चयनयके आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे ही कर्मोंसे मुक्त होते हैं और जो एकान्तसे व्यवहारनयके ही आश्रयसे प्रवर्तते हैं वे कर्मोंसे कभी मुक्त नहीं होते।

अब प्रश्न होता है कि अभव्य जीव व्यवहारनयका आश्रय कैसे करते हैं? उसका उत्तर गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २७३

अन्वयार्थः—[जिनवरैः] जिनेन्द्रदेवके द्वारा [प्रज्ञप्तम्] कथित [व्रत-समितिगुप्तयः] व्रत, समिति, गुप्ति, [शीलतपः] शील और तप [कुर्वन् अपि] करता हुआ भी [अभव्यः] अभव्य जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [मिथ्यादृष्टिः तु] और मिथ्यादृष्टि है।

टीकाः—शील और तपसे परिपूर्ण, तीन गुप्ति और पाँच समितियोंके प्रति सावधानीसे युक्त, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र (का पालन) अभव्य भी करता है, तथापि वह (अभव्य) निश्चारित्र (-चारित्ररहित), अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि (वह) निश्चयचारित्रके कारणरूप ज्ञान-श्रद्धानसे शून्य है।

भावार्थः—अभव्यजीव महाव्रत-समिति-गुप्तिरूप व्यवहार चारित्रका पालन करे तथापि

जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ती अवरु तप शीलको ।
करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ॥ २७३ ॥

चारित्रं अभव्योऽपि कुर्यात्, तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ।

तस्यैकादशांगज्ञानमस्ति इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥ २७४ ॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥ २७४ ॥

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् । ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते । ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात् । स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञान-

---

निश्चय सम्यग्ज्ञानश्रद्धानके विना वह चारित्र 'सम्यक्चारित्र' नामको प्राप्त नहीं होता; इसलिये वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि और निश्चारित्र ही है।

अब शिष्य पूछता है कि—उसे (अभव्यको) ग्यारह अंगका ज्ञान तो होता है; फिर भी उसको अज्ञानी क्यों कहा है ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७४

अन्वयार्थः—[मोक्षम् अश्रद्दधानः] मोक्षकी श्रद्धा न करता हुआ [यः अभव्यसत्त्वः] जो अभव्य जीव है वह [तु अधीयीत] शास्त्र तो पढ़ता है, [तु] परन्तु [ज्ञानं अश्रद्दधानस्य] ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले उसको [पाठः] शास्त्रपठन [गुणम् न करोति] गुण नहीं करता।

टीका:—प्रथम तो अभव्य जीव, (स्वयं) शुद्धज्ञानमय आत्माके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण मोक्षकी ही श्रद्धा नहीं करता। इसलिये वह ज्ञानकी भी श्रद्धा नहीं करता। और ज्ञानकी श्रद्धा न करता हुआ वह (अभव्य) आचारांग आदि ग्यारह अंगरूप श्रुतको (शास्त्रोंको) पढ़ता हुआ भी, शास्त्रपठनके जो गुण उसके अभावके कारण ज्ञानी नहीं है। जो भिन्नवस्तुभूत ज्ञानमय आत्माका ज्ञान वह शास्त्र पठनका गुण है; और वह तो (ऐसा शुद्धात्मज्ञान तो), भिन्न वस्तुभूत ज्ञानकी श्रद्धा न करनेवाले अभव्यके शास्त्र-पठनके द्वारा नहीं किया जा

मोक्षकी श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़े ।
पर ज्ञानकी श्रद्धारहितको, पठन ये नहिं गुण करै ॥ २७४ ॥

मयात्मज्ञानं; तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य शक्येत । ततस्तस्य तद्गुणाभावः । ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् प्रतिनियतः ।

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ॥ २७५ ॥

अभव्यो हि नित्यकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न हि

सकता (अर्थात् शास्त्र-पठन उसको शुद्धात्मज्ञान नहीं कर सकता); इसलिये उसके शास्त्रपठनके गुणका अभाव है; और इसलिये ज्ञान-श्रद्धानके अभावके कारण वह अज्ञानी सिद्ध हुआ ।

भावार्थः—अभव्य जीव ग्यारह अंगोंको पढ़े तथापि उसे शुद्ध आत्माका ज्ञान-श्रद्धान नहीं होता; इसलिये उसे शास्त्रपठनने गुण नहीं किया; और इसलिये वह अज्ञानी ही है ।

शिष्य पुनः पूछता है कि-अभव्यको धर्मका श्रद्धान तो होता है; फिर भी यह क्यों कहा है कि 'उसके श्रद्धान नहीं है' ? इसका उत्तर कहते हैं:—

गाथा २७५

अन्वयार्थः—[सः] वह (अभव्य जीव) [भोगनिमित्तं धर्मं] भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही [श्रद्दधाति च] श्रद्धा करता है, [प्रत्येति च] उसीकी प्रतीति करता है, [रोचयति च] उसीकी रुचि करता है [तथा पुनः स्पृशति च] और उसीका स्पर्श करता है, [न तु कर्मक्षयनिमित्तम्] परन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मको नहीं । (अर्थात् कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी न तो श्रद्धा करता है, न उसकी प्रतीति करता है, न रुचि करता है और न उसका स्पर्श करता है ।)

टीका:—अभव्य जीव नित्यकर्मफलचेतनारूप वस्तुकी श्रद्धा करता है किन्तु नित्य-ज्ञानचेतनामात्र वस्तुकी श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा (स्व-परके) भेदविज्ञानके अयोग्य है। इसलिये वह कर्मोंसे छूटनेके निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (सत्यार्थ) धर्मकी

वो धर्मको श्रद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे ।
वो भोगहेतू धर्मको, नहिं कर्मक्षयके हेतुको ॥ २७५ ॥

श्रद्धत्ते, नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात् । ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते, भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते । तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेन्न पुनः कदाचनापि विमुच्येत । ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति । एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ।

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

श्रद्धा नहीं करता, (किन्तु) भोगके निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्मकी ही श्रद्धा करता है; इसीलिये वह अभूतार्थ धर्मकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शनसे ऊपरके ग्रैवेयक तकके भोगमात्रको प्राप्त होता है किन्तु कभी भी कर्मोंसे मुक्त नहीं होता। इसलिये उसे भूतार्थ धर्मके श्रद्धानका अभाव होनेसे (यथार्थ) श्रद्धान भी नहीं है।

ऐसा होनेसे निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनयका निषेध योग्य ही है।

भावार्थः—अभव्य जीवके भेदज्ञान होनेकी योग्यता न होनेसे वह कर्मफलचेतनाको जानता है किन्तु ज्ञानचेतनाको नहीं जानता; इसलिये उसे शुद्ध आत्मिक धर्मकी श्रद्धा नहीं है। वह शुभ कर्मको ही धर्म समझकर उसकी श्रद्धा करता है इसलिये उसके फलस्वरूप ग्रैवेयक तकके भोगोंको प्राप्त होता है किन्तु कर्मोंका क्षय नहीं होता। इसप्रकार सत्यार्थ धर्मका श्रद्धान न होनेसे उसके श्रद्धान ही नहीं कहा जा सकता।

इसप्रकार व्यवहारनयके आश्रित अभव्य जीवको ज्ञान-श्रद्धान न होनेसे निश्चयनय द्वारा किया जानेवाला, व्यवहारका निषेध योग्य ही है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि—यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधान ग्रन्थ है इसलिये इसमें अनुभवकी अपेक्षासे भव्य-अभव्यका निर्णय है। अब यदि इसे अहेतुवाद आगमके साथ मिलायें तो—अभव्यको व्यवहारनयके पक्षका सूक्ष्म, केवलीगम्य आशय रह जाता है जो कि छद्मस्थको अनुभवगोचर नहीं भी होता, मात्र सर्वज्ञदेव जानते हैं; इसप्रकार केवल व्यवहारका पक्ष रहनेसे उसके सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यात्व रहता है। इस व्यवहारनयके पक्षका आशय अभव्यके सर्वथा कभी भी मिटता ही नहीं है।

अब यह प्रश्न होता है कि "निश्चयनयके द्वारा निषेध्य व्यवहारनय, और व्यवहारनयका निषेधक निश्चयनय कैसा है ?" अतः व्यवहार और निश्चयनयका स्वरूप कहते हैं:—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम् ।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥ २७६ ॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥ २७७ ॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्या-

---

गाथा २७६–२७७

अन्वयार्थः—[आचारादि] आचारांगादि शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान है, [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयम् च] दर्शन जानना चाहिये [च] तथा [षड्जीवनिकायं] छह जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है—[तथा तु] ऐसा तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है ।

[खलु] निश्चयसे [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (-समाधि, ध्यान) है ।

टीकाः—आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञानका आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे दर्शनके आश्रय हैं, और छह जीव-निकाय चारित्र है

"आचार" आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना ।
षट् जीवकाय चरित्र है,—ये कथन नय व्यवहारका ॥ २७६ ॥
मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है ।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है ॥ २७७ ॥

श्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः । शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः । तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः । निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः । तथा हि—नाचारादिशब्दश्रुतमेकांतेन ज्ञानस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्; न च जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्; न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयः, तत्सद्भावेऽप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात् । शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थ-

---

क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार व्यवहार है। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञानका आश्रय है, शुद्ध आत्मा दर्शन है क्योंकि वह दर्शनका आश्रय है, और शुद्ध आत्मा चारित्र है क्योंकि वह चारित्रका आश्रय है; इसप्रकार निश्चय है। इनमें, व्यवहारनय प्रतिषेध्य अर्थात् निषेध्य है, क्योंकि आचारांगादिको ज्ञानादिका आश्रयत्व अनैकान्तिक है—व्यभिचारयुक्त है; (शब्दश्रुतादिको ज्ञानादिका आश्रयस्वरूप माननेमें व्यभिचार आता है क्योंकि शब्दश्रुतादिके होने पर भी ज्ञानादि नहीं भी होते, इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध्य है;) और निश्चयनय व्यवहारनयका प्रतिषेधक है, क्योंकि शुद्ध आत्माके ज्ञानादिका आश्रयत्व ऐकान्तिक है। (शुद्ध आत्माको ज्ञानादिक आश्रय माननेमें व्यभिचार नहीं है क्योंकि जहाँ शुद्ध आत्मा होता है वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता ही है।) यही बात हेतुपूर्वक समझाई जाती है:—

आचारांगादि शब्दश्रुत एकान्तसे ज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि उसके (अर्थात् शब्दश्रुतके) सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण ज्ञानका अभाव है; जीवादि नवपदार्थ दर्शनके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण दर्शनका अभाव है; छह जीव-निकाय चारित्रके आश्रय नहीं हैं, क्योंकि उनके सद्भावमें भी अभव्योंको शुद्ध आत्माके अभावके कारण चारित्रका अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है, क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुतके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही ज्ञानका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही दर्शनका आश्रय है, क्योंकि जीवादि नवपदार्थोंके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही दर्शनका सद्भाव है; शुद्ध आत्मा ही चारित्रका आश्रय है, क्योंकि छह जीव-निकायके सद्भावमें या असद्भावमें उसके (–शुद्ध आत्माके) सद्भावसे ही चारित्रका सद्भाव होता है।

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकायं च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः ॥ २७७

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था

गाथा २७६–२७७

अन्वयार्थः—[आचारादि] आचारांगादि शास्त्र [ज्ञानं] ज्ञान [जीवादि] जीवादि तत्त्व [दर्शनं विज्ञेयम् च] दर्शन जानना चाहिये [च] [षड्जीवनिकायं] छह जीव-निकाय [चरित्रं] चारित्र है—[तथा तु] ऐसा [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है।

[खलु] निश्चयसे [मम आत्मा] मेरा आत्मा ही [ज्ञानम्] ज्ञान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है, [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान है, [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (-समाधि, ध्यान) है।

टीकाः—आचारांगादि शब्दश्रुतज्ञान है क्योंकि वह (शब्दश्रुत) ज्ञानका आश्रय है, जीवादि नव पदार्थ दर्शन हैं क्योंकि वे दर्शनके आश्रय हैं, और छह जीव-निकाय चारित्र है

"आचार" आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
षट् जीवकाय चरित्र है,—ये कथन नय व्यवहारका ॥ २७६ ॥
मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है ॥ २७७ ॥

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते; तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते,

---

शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादिरूपसे (ललाई-आदिरूपसे) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः] अन्य रक्तादि द्रव्योंसे [सः] वह [रज्यते] रक्त (-लाल) आदि किया जाता है, [एवं] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादिरूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषोंसे [सः] वह [रज्यते] रागी आदि किया जाता है ।

टीका:—जैसे वास्तवमें केवल (-अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपनेको शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेमें ललाई-आदिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे स्फटिकमणिके रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तवमें केवल (-अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेको रागादिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे आत्माको रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है । —ऐसा वस्तु-स्वभाव है ।

भावार्थ:—स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि

सद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्; शुद्ध आत्मैव षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्

(उपजाति)

रागादयो बंधनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८ ॥

भावार्थः—आचारांगादि शब्दश्रुतका ज्ञान, जीवादि नव पदार्थोंका श्रद्धान तथा छह कायके जीवोंकी रक्षा—इत्यादिके होते हुये भी अभव्यके ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं होते, इसलिये व्यवहारनय तो निषेध्य है; और जहाँ शुद्धात्मा होता है वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता ही है, इसलिये निश्चयनय व्यवहारका निषेधक है। अतः शुद्धनय उपादेय कहा गया है।

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—"रागादिको बंधका कारण कहा और उन्हें शुद्धचैतन्यमात्र ज्योतिसे (आत्मासे) भिन्न कहा, तब फिर उस रागादिका निमित्त आत्मा है या कोई अन्य ?" इस प्रश्नसे प्रेरित होते हुये आचार्यभगवान पुनः इसप्रकार (निम्नप्रकारसे) कहते हैं। १७४।

उपरोक्त प्रश्नके उत्तररूपमें आचार्यदेव कहते हैं:—

गाथा २७८–२७९

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [स्फटिकमणिः] स्फटिकमणि [शुद्धः]

ज्यों फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे ।
पर अन्य रक्त पदार्थसे, रक्तादिरूप जु परिणमे ॥ २७८ ॥
त्यों 'ज्ञानी' भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे ।
पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने ॥ २७९ ।

एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते; तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते,

---

शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादिरूपसे (ललाई-आदिरूपसे) [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः द्रव्यैः] अन्य रक्तादि द्रव्योंसे [सः] वह [रज्यते] रक्त (-लाल) आदि किया जाता है, [एवं] इसीप्रकार [ज्ञानी] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [शुद्धः] शुद्ध होनेसे [रागाद्यैः] रागादिरूप [स्वयं] अपने आप [न परिणमते] परिणमता नहीं है [तु] परन्तु [अन्यैः रागादिभिः दोषैः] अन्य रागादि दोषोंसे [सः] वह [रज्यते] रागी आदि किया जाता है।

टीका:—जैसे वास्तवमें केवल (-अकेला) स्फटिकमणि, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपनेको शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेमें ललाई-आदिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता, किन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे स्फटिकमणिके रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ, रागादिरूप परिणमित किया जाता है; इसीप्रकार वास्तवमें केवल (-अकेला) आत्मा, स्वयं परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी, अपने शुद्धस्वभावत्वके कारण रागादिका निमित्तत्व न होनेसे (स्वयं अपनेको रागादिरूप परिणमनका निमित्त न होनेसे) अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता, परन्तु जो अपने आप रागादिभावको प्राप्त होनेसे आत्माको रागादिका निमित्त होता है ऐसे परद्रव्यके द्वारा ही, शुद्धस्वभावसे च्युत होता हुआ ही, रागादिरूप परिणमित किया जाता है। —ऐसा वस्तु-स्वभाव है।

भावार्थ:—स्फटिकमणि स्वयं तो मात्र एकाकार शुद्ध ही है; वह परिणमन-स्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप ललाई-आदिरूप नहीं परिणमता किन्तु लाल आदि

परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन
च्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते । इति तावद्वस्तुस्वभावः ।

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।। १७५ ।।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ।। १७६ ।।

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ।। २८० ।।

परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्यके निमित्तसे) ललाई-आदि रूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है, वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्यके निमित्तसे) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तुका ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्कको अवकाश नहीं है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—सूर्यकांतमणिकी भाँति (जैसे सूर्यकांतमणि स्वतःसे ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमनमें सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें निमित्त परसंग ही (-परद्रव्यका संग ही) है।—ऐसा वस्तुभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसीने बनाया नहीं है।) । १७५ ।

"ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता" इस अर्थका तथा आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता, अतः वह (रागादिका) कर्ता नहीं है। १७६ ।

कभि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं ।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने ।। २८० ।।

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥ २८० ॥

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति प्रतिनियमः ।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २८०

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [रागद्वेषमोहं] रागद्वेषमोहको [वा कषायभावं] अथवा कषायभावको [स्वयम्] अपने आप [आत्मनः] अपनेमें [न च करोति] नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह, [तेषां भावानाम्] उन भावोंका [कारकः न] कर्ता नहीं है ।

टीका:—यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभावसे ही च्युत नहीं होता इसलिये वह रागद्वेषमोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरेके द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावोंका अकर्ता ही है—ऐसा नियम है ।

भावार्थ:—आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता है;' इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावोंका कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है ।

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादि भावोंका कर्ता होता है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादिको (-रागादिभावोंको) अपना करता है, अतः वह उनका कर्ता होता है । १७७ ।

अब इसी अर्थकी गाथा कहते हैं:—

परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन
रप्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते । इति तावद्वस्तुस्वभावः ।

(उपजाति)

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककांतः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥ २८० ॥

परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं ललाई आदिरूप परिणमते ऐसे परद्रव्यके निमित्तसे) ललाई-आदि रूप परिणमता है। इसीप्रकार आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है; वह परिणमनस्वभाववाला होने पर भी अकेला अपने आप रागादिरूप नहीं परिणमता परन्तु रागादिरूप परद्रव्यके निमित्तसे (स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेवाले परद्रव्यके निमित्तसे) रागादिरूप परिणमता है। ऐसा वस्तुका ही स्वभाव है, उसमें अन्य किसी तर्कको अवकाश नहीं है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—सूर्यकांतमणिकी भाँति (जैसे सूर्यकांतमणि स्वतःसे ही अग्निरूप परिणमित नहीं होता, उसके अग्निरूप परिणमनमें सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार) आत्मा अपनेको रागादिका निमित्त कभी भी नहीं होता, उसमें निमित्त परसंग ही (-परद्रव्यका संग ही) है।—ऐसा वस्तुभाव प्रकाशमान है। (सदा वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है, इसे किसीने बनाया नहीं है।) । १७५ ।

"ऐसे वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी रागादिको निजरूप नहीं करता" इस अर्थका, तथा आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभावको जानता है इसलिये वह रागादिको निजरूप नहीं करता, अतः वह (रागादिका) कर्ता नहीं है। १७६ ।

कमि रागद्वेषविमोह अगर कषायभाव जु निजविषैं ।
ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने ॥ २८० ॥

न च रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा।
स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥ २८० ॥

यथोक्तवस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति प्रतिनियमः।

(अनुष्टुभ्)

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १७७ ॥

अब इसीप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा २८०

अन्वयार्थः—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**रागद्वेषमोहं**] रागद्वेषमोहको [**वा कषायभावं**] अथवा कषायभावको [**स्वयम्**] अपने आप [**आत्मनः**] अपनेमें [**न च करोति**] नहीं करता [**तेन**] इसलिये [**सः**] वह, [**तेषां भावानाम्**] उन भावोंका [**कारकः न**] कर्ता नहीं है।

टीकाः—यथोक्त (अर्थात् जैसा कहा वैसा) वस्तुस्वभावको जानता हुआ ज्ञानी (अपने) शुद्धस्वभावसे ही च्युत नहीं होता इसलिये वह रागद्वेषमोहादि भावरूप स्वतः परिणमित नहीं होता और दूसरेके द्वारा भी परिणमित नहीं किया जाता, इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावोंका अकर्ता ही है—ऐसा नियम है।

भावार्थः—आत्मा जब ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तुका ऐसा स्वभाव जाना कि 'आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है—द्रव्यदृष्टिसे अपरिणमनस्वरूप है, पर्यायदृष्टिसे परद्रव्यके निमित्तसे रागादिरूप परिणमित होता है;' इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावोंका कर्ता नहीं होता, जो उदय आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है।

'अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादि भावोंका कर्ता होता है' इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानी अपने ऐसे वस्तुस्वभावको नहीं जानता इसलिये वह रागादिको (-रागादिभावोंको) अपना करता है, अतः वह उनका कर्ता होता है। १७७।

अब इसी अर्थकी गाथा कहते हैं:—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणो वि ॥ २८१ ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥ २८१ ॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव, ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः।

ततः स्थितमेतत्—

गाथा २८१

अन्वयार्थः—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमित होता हुआ (अज्ञानी) [रागादीन्] रागादिको [पुनः अपि] पुनः पुनः [बध्नाति] बाँधता है।

टीका:—यथोक्त वस्तुस्वभावको न जानता हुआ अज्ञानी अनादि संसारसे लेकर (अपने) शुद्धस्वभावसे च्युत ही है इसलिये कर्मोदयसे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषमोहादि भावरूप परिणमता हुआ अज्ञानी रागद्वेषमोहादि भावोंका कर्ता होता हुआ (कर्मोंसे) बद्ध होता ही है—ऐसा नियम है।

भावार्थ:—अज्ञानी वस्तुस्वभावको तो यथार्थ नहीं जानता और कर्मोदयसे जो भाव होते हैं उन्हें अपना समझकर परिणमता है, इसलिये वह उनका कर्ता होता हुआ पुनः पुनः आगामी कर्मोंको बाँधता है—ऐसा नियम है।

"अतः यह सिद्ध हुआ (पूर्वोक्त कारणसे निम्नप्रकार निश्चित हुआ)" ऐसा अब कहते हैं:—

पर राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन रूप जो जीव परिणमे फिर बाँधता रागादिको ॥२८१॥

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ २८२ ॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति।

कथमात्मा रागादीनामकारक एवेति चेत्—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥ २८३ ॥

गाथा २८२

अन्वयार्थः—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु च एव] राग, द्वेष और कषायकर्मोंके होने पर (अर्थात् उनके उदय होने पर) [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैः तु] उन-रूप [परिणममानः] परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादिको [बध्नाति] बाँधता है।

टीकाः—निश्चयसे अज्ञानीको, पुद्गलकर्म जिनका निमित्त है ऐसे जो यह रागद्वेष-मोहादि परिणाम हैं, वे ही पुनः रागद्वेषमोहादि परिणामके निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बंधके कारण हैं।

भावार्थः—अज्ञानीके कर्मके निमित्तसे जो रागद्वेषमोहादि परिणाम होते हैं वे ही पुनः आगामी कर्मबन्धके कारण होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि आत्मा रागादिका अकारक ही कैसे है? इसका समाधान (आगम प्रमाण देकर) करते हैं:—

यों राग-द्वेष-कषायकर्मनिमित्त होवें भाव जो।
उन-रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादिको ॥ २८२ ॥
अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति है।
जीवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥ २८३ ॥

अपडिकमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चखाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया
जावं अपडिक्कमणं अपच्चखाणं च दव्वभावाणं।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८३ ॥
अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाप्रत्याख्यानम्।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥ २८४ ॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥ २८५ ॥

गाथा २८३–२८५

अन्वयार्थः—[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधम्] दो प्रकारका [तथा एव] उसी तरह [अप्रत्याख्यानं] अप्रत्याख्यान दो प्रकारका [विज्ञेयम्] जानना चाहिये; [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेशसे [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है।

[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधं] दो प्रकारका है—[द्रव्ये भावे] द्रव्य सम्बन्धी तथा भाव सम्बन्धी; [तथा अप्रत्याख्यानम्] इसीप्रकार अप्रत्याख्यान भी दो प्रकारका है—द्रव्य सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी;— [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेशसे [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा गया है।

[यावत्] जबतक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्यका और भावका [अप्रतिक्रमणम् च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान

अनप्रतिक्रमण दो—द्रव्यभाव जु, यों हि अनप्रत्याख्यान है।
जीवको अकारक है कहा इस रीतके उपदेशसे ॥ २८४ ॥
अनप्रतिक्रमण अरु त्योंहि अनप्रत्याख्यान द्रव्य रु भावका।
जबतक करै है आतमा, कर्ता बने है जानना ॥ २८५ ॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः । यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्, तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः

[करोति] करता है [तावत्] तबतक [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकाः—आत्मा स्वतः रागादिका अकारक ही है; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो (अर्थात् यदि आत्मा स्वतः ही रागादिभावोंका कारक हो तो) अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानकी द्विविधताका उपदेश नहीं हो सकता । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका जो वास्तवमें द्रव्य और भावके भेदसे द्विविध (दो प्रकारका) उपदेश है वह, द्रव्य और भावके निमित्तनैमित्तिकत्वको प्रगट करता हुआ, आत्माके अकर्तृत्वको ही बतलाता है । इसलिये यह निश्चित हुआ कि परद्रव्य निमित्त है और आत्माके रागादिभाव नैमित्तिक हैं । यदि ऐसा न माना जाये तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानका कर्तृत्वके निमित्तरूपका उपदेश निरर्थक ही होगा, और वह निरर्थक होने पर एक ही आत्माको रागादिभावोंका निमित्तत्व आ जायेगा, जिससे नित्य-कर्तृत्वका प्रसंग आजायेगा, जिससे मोक्षका अभाव सिद्ध होगा । इसलिये परद्रव्य ही आत्माके रागादिभावोंका निमित्त हो । और ऐसा होनेपर, यह सिद्ध हुआ कि आत्मा रागादिका अकारक ही है । (इस प्रकार यद्यपि आत्मा रागादिका अकारक ही है) तथापि जबतक वह निमित्तभूत द्रव्यका (-परद्रव्यका) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तब तक नैमित्तिकभूत भावोंका (-रागादिभावोंका) प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता, और जबतक इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान नहीं करता तबतक वह उनका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत द्रव्यका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है तभी नैमित्तिकभूत भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान करता है, और जब इन भावोंका प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान होता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है ।

भावार्थः—अतीत कालमें जिन परद्रव्योंका ग्रहण किया था उन्हें वर्तमानमें अच्छा समझना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, वह द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उन परद्रव्योंके निमित्तसे जो रागादिभाव हुए थे उन्हें वर्तमानमें अच्छा जानना, उनके संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व रहना, भाव अप्रतिक्रमण है । इसीप्रकार आगामी काल संबंधी परद्रव्योंकी

प्रसजेच्च । ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु । तथा सति कारक एवात्मा । तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तैव स्यात् । यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च, यदा तु भावं प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ।

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥ २८६ ॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पुग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥ २८७ ॥

इच्छा रखना, ममत्व रखना, द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उन परद्रव्योंके निमित्तसे [illegible] कालमें होनेवाले रागादिभावोंकी इच्छा रखना, ममत्व रखना, भाव अप्रत्याख्यान है। [illegible] द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण तथा द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान— ऐसा जो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यानका दो प्रकारका उपदेश है वह द्रव्य-भावके निमित्त-नैमित्तिक-भावको बतलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि–परद्रव्य तो निमित्त हैं और रागादि भाव नैमित्तिक हैं। इसप्रकार आत्मा रागादिभावोंको स्वयमेव न करनेसे रागादिभावोंका अकर्ता ही है ऐसा सिद्ध हुआ। इसप्रकार यद्यपि यह आत्मा रागादिभावोंका अकर्ता ही है तथापि जब-तक उसके निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है तबतक उसके रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है, और जबतक रागादिभावोंका अप्रतिक्रमण–अप्रत्याख्यान है तबतक वह रागादिभावोंका कर्ता ही है; जब वह निमित्तभूत परद्रव्यका प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान करता है तब उसके नैमित्तिक रागादिभावोंका भी प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान हो जाता है, और जब रागादिभावोंका प्रतिक्रमण–प्रत्याख्यान होजाता है तब वह साक्षात् अकर्ता ही है।

अब द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकताका उदाहरण देते हैं:—

हैं अधःकर्मादिक जु पुद्गलद्रव्यके ही दोष ये।
कैसे करे 'ज्ञानी' सदा परद्रव्यके जो गुणहि हैं? ॥ २८६ ॥
उद्देशि त्योंही अधःकर्मी पौद्गलिक यह द्रव्य जो।
कैसे हि मुझकृत होय नित्य अजीव वर्णा जिसविषे ॥२८७॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः ।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम् ॥२८६॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥ २८७ ॥

यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे, तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे । यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्

गाथा २८६–२८७

अन्वयार्थः—[**अधःकर्माद्याः ये इमे**] अधःकर्म आदि जो यह [**पुद्गलद्रव्यस्य दोषाः**] पुद्गलद्रव्यके दोष हैं (उनको ज्ञानी अर्थात् आत्मा करता नहीं है;) [**तान्**] उनको [**ज्ञानी**] ज्ञानी अर्थात् आत्मा [**कथं करोति**] कैसे करे [**ये तु**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**परद्रव्यगुणाः**] परद्रव्यके गुण हैं ?

इसलिये [**अधःकर्म उद्देशिकं च**] अधःकर्म और उद्देशिक [**इदं**] ऐसा यह [**पुद्गलमयम् द्रव्यं**] पुद्गलमय द्रव्य है (जो मेरा किया नहीं होता;) [**तत्**] वह [**मम कृतं**] मेरा किया [**कथं भवति**] कैसे हो [**यत्**] कि जो [**नित्यम्**] सदा [**अचेतनम् उक्तम्**] अचेतन कहा गया है ?

टीकाः—जैसे अधःकर्मसे उत्पन्न और उद्देशसे उत्पन्न हुए निमित्तभूत (आहारादि) पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा (-मुनि) नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान (त्याग) नहीं करता, इसीप्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता । और, "अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोंको आत्मा वास्तवमें नहीं करता क्योंकि वे परद्रव्यके परिणाम हैं इसलिये उन्हें आत्माके कार्यत्वका अभाव है; इसलिये अधःकर्म और उद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिये उसको मेरे कार्यत्वका अभाव है;"—इसप्रकार तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा (-मुनि) जैसे नैमित्तिकभूत बंधसाधक भावका प्रत्याख्यान करता है, उसी प्रकार समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है । इसप्रकार द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिकता है ।

नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्,
च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात्,
पूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं
तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे । एवं
योरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १७८ ॥

भावार्थः—यहाँ अधःकर्म और उद्देशिक आहारके दृष्टान्तसे द्रव्य और भावकी निमित्त-नैमित्तिकता दृढ़ की है।

जिस पापकर्मसे आहार उत्पन्न हो उसे अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहारको भी अधःकर्म कहते हैं। जो आहार, ग्रहण करनेवालेके निमित्तसे ही बनाया गया हो उसे उद्देशिक कहते हैं, ऐसे (अधःकर्म और उद्देशिक) आहारका जिसने प्रत्याख्यान नहीं किया उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान नहीं किया और जिसने तत्त्वज्ञानपूर्वक उस आहारका प्रत्याख्यान किया है उसने उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान किया है। इसप्रकार समस्त द्रव्य और भावको निमित्त-नैमित्तिकभाव जानना चाहिये। जो परद्रव्यको ग्रहण करता है उसे रागादिभाव भी होते हैं, वह उनका कर्ता भी होता है और इसलिये कर्मोंका बन्ध भी करता है; जब आत्मा ज्ञानी होता है तब उसे कुछ ग्रहण करनेका राग नहीं होता, इसलिये रागादिरूप परिणमन भी नहीं होता और इसलिये आगामी बंध भी नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानी परद्रव्यका कर्ता नहीं है।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं, जिसमें परद्रव्यके त्यागनेका उपदेश है—

अर्थः—इसप्रकार (परद्रव्य और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकताको) विचार करके, परद्रव्यमूलक बहुभावोंकी सन्ततिको एक ही साथ उखाड़ फेंकनेका इच्छुक पुरुष, उस समस्त परद्रव्यको बलपूर्वक (–उद्यमपूर्वक, पराक्रमपूर्वक) भिन्न करके (–त्याग करके), अतिशयतासे बहते हुए (–धारावाही) पूर्ण एक संवेदनसे युक्त अपने आत्माको प्राप्त करता है कि जिससे जिसने कर्मबन्धनको मूलसे ही उखाड़ फेंका है ऐसा वह भगवान आत्मा अपनेमें ही (–आत्मामें ही) स्फुरायमान होता है।

भावार्थः—जब परद्रव्यकी और अपने भावकी निमित्त-नैमित्तिकता जानकर समस्त

(मंदाक्रांता)

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७९ ॥

इति बंधो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंध प्ररूपकः सप्तमोंकः ॥

पर द्रव्योंको भिन्न करनेमें—त्यागनेमें आते हैं तब समस्त रागादिभावोंकी संतति कट जाती है और तब आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म बन्धनको काटकर अपनेमें ही प्रकाशित होता है। इसलिये जो अपना हित चाहते हैं वे ऐसा ही करें। १७८।

अब बंध अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलके रूपमें ज्ञानकी महिमाके अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—बन्धके कारणरूप रागादिके उदयको निर्दयता पूर्वक (उग्र पुरुषार्थसे) विदारण करती हुई, उस रागादिके कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकारके बन्धको अब तत्काल ही दूर करके, यह ज्ञानज्योति–कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकारका नाश किया है— भलीभाँति ऐसी सज्ज हुई कि उसके विस्तारको अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता।

भावार्थः—जब ज्ञान प्रगट होता है, रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य जो बन्ध वे भी नहीं रहता, तब फिर उस ज्ञानको आवृत करनेवाला कोई नहीं रहता, वह सदा प्रकाशमान ही रहता है। १७९।

टीकाः—इस प्रकार बन्ध (रंगभूमिसे) बाहर निकल गया।

भावार्थः—रंगभूमिमें बन्धके स्वांगने प्रवेश किया था, जब ज्ञानज्योति प्रगट हुई कि तब वह बंध स्वांगको अलग करके बाहर निकल गया।

* सवैया तेईसा *

जो नर कोय परै रजमाहिं सचिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यौं मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बंधन बाढै;
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै,
नाहिं बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै परभावनि काटै।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रणित श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य देव विरचित आत्मख्याति नामक टीकामें बंधका प्ररूपक ७ वाँ अंक समाप्त हुआ।

८

मोक्ष अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः ।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाककचदलनाद्‌बंधपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १८० ॥

* दोहा *

कर्मबंध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान ।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब मोक्ष प्रवेश करता है ।"

जैसे नृत्यमंच पर स्वांग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्वका स्वांग प्रवेश करता है । वहाँ ज्ञान सर्व स्वांगका ज्ञाता है, इसलिये अधिकारके प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञानकी महिमाके रूपमें मंगलाचरण करते हैं:—

अर्थः—अब (बन्ध पदार्थके पश्चात्), प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बंध और पुरुषको द्विधा (भिन्न भिन्न—दो) करके, पुरुषको—कि जो पुरुषमात्र *अनुभूतिके द्वारा ही निश्चित है। उसे—साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, पूर्ण ज्ञान जयवंत प्रवर्तता है । वह ज्ञान प्रगट होनेवाले सहज परमानन्दके द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, उत्कृष्ट है, और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है ।

भावार्थः—ज्ञान बंध और पुरुषको पृथक् करके, पुरुषको मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवंत प्रवर्तता है । इसप्रकार ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टताका कथन ही मंगलवचन है । १८० ।

अब, मोक्ष प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं । उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बन्धका छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही संतुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता:—

---

* जितना स्वरूप-अनुभवन है इतना ही आत्मा है ।

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥ २८८ ॥
जइ ण वि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ बहुएण वि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥ २८९ ॥
इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभावं ।
जाणंतो वि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥ २९० ॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥ २८८ ॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन् ।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २८९ ॥
इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम् ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥ २९० ॥

गाथा २८८-२९०

अन्वयार्थः—[यथा नाम] जैसे [बंधनके] बन्धनमें [चिरकालप्रतिबद्धः] बहुत समयसे बँधाहुआ [कश्चित् पुरुषः] कोई पुरुष [तस्य] उस बन्धनके [तीव्रमंदस्वभावं] तीव्र-मंद स्वभावको [कालं च] और कालको (अर्थात् यह बन्धन इतने कालसे है इसप्रकार) [विजानाति] जानता है, [यदि] किन्तु यदि [न अपि छेदं करोति] उस बन्धनको स्वयं नहीं काटता [तेन न मुच्यते] तो वह उससे मुक्त नहीं होता [तु] और [बन्धनवशः सन्] बन्धनवश रहता हुआ [बहुकेन अपि कालेन] बहुत कालमें भी [सः नरः] वह पुरुष

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकालका ।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंधका ॥ २८८ ॥
पर जो करे नहिं छेद तो छूटे न, बन्धनवश रहे ।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने ॥ २८९ ॥
त्यों कर्म बंधनके प्रकृति प्रदेश, स्थिति, अनुभागको ।
जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो ॥ २९० ॥

— ८ —

मोक्ष अधिकार

अथ प्रविशति मोक्षः ।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानंदसरसं
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥ १८० ॥

* दोहा *

कर्मबंध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि "अब मोक्ष प्रवेश करता है।"

जैसे नृत्यमंच पर स्वांग प्रवेश करता है उसीप्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्वका स्वांग प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वांगका ज्ञाता है, इसलिये अधिकारके प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञानकी महिमाके रूपमें मंगलाचरण करते हैं:—

अर्थः—अब (बन्ध पदार्थके पश्चात्), प्रज्ञारूपी करवतसे विदारण द्वारा बंध और पुरुषको द्विधा (भिन्न भिन्न—दो) करके, पुरुषको—कि जो पुरुषमात्र *अनुभूतिके द्वारा ही निश्चित है। उसे—साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, पूर्ण ज्ञान जयवंत प्रवर्तता है। वह ज्ञान प्रगट होनेवाले सहज परमानन्दके द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, उत्कृष्ट है, और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

भावार्थः—ज्ञान बंध और पुरुषको पृथक् करके, पुरुषको मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवंत प्रवर्तता है। इसप्रकार ज्ञानकी सर्वोत्कृष्टताका कथन ही मंगलवचन है। १८०।

अब, मोक्ष प्राप्ति कैसे होती है सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि जो जीव बन्धका छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही संतुष्ट है वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता:—

---

* जितना स्वरूप-अनुभवन है उतना ही आत्मा है।

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत् । एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते ।

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥ २९२ ॥

यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९२ ॥

[बंधान् चिंतयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बंधसे नहीं छूटता), [तथा] इसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बंधान् चिंतयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त नहीं करता ।

टीका:—अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बंध सम्बन्धी विचारशृङ्खला मोक्षका कारण है', किन्तु यह भी असत् है; कर्मसे बँधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचारकी शृङ्खला मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बँधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला (-विचारकी परंपरा) बन्धसे छूटनेका कारण नहीं है उसीप्रकार कर्मसे बँधे हुए (पुरुष) की कर्म बन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खला कर्मबन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचारशृङ्खलात्मक विशुद्ध (-शुभ) धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है ।

भावार्थ:—कर्मबन्धकी चिन्तामें मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता । यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है । जो केवल (मात्र) शुभपरिणामसे ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि—शुभ परिणामसे मोक्ष नहीं होता ।

"(यदि बन्धके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे भी मोक्ष नहीं होता और बन्धके विचार करनेसे भी मोक्ष नहीं होता) तब फिर मोक्षका कारण क्या है ?" ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्षका उपाय बताते हैं:—

जो बन्धनोंसे बद्ध वो नर बन्धछेदनसे छुटे ।
त्यों जीव भी इन बन्धनोंका छेद कर मुक्ती वरे ॥ २९२ ॥

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः । बंधस्वरूपज्ञानमात्रं
कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य
मात्रवत् । एतेन कर्मबन्धप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते ।

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावइ विमोक्खं

यथा बंधांश्चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बन्धांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥

[विमोक्षम् न प्राप्नोति] बन्धनसे छूटनेरूप मुक्तिकोप्राप्त नहीं करता; [
इसीप्रकार जीव [कर्मबंधनानां]कर्म–बन्धनोंके [प्रदेशस्थितिप्रकृतिम् एवम्
प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभागको [जानन् अपि] जानता
[न मुच्यते] (कर्मबन्धसे) नहीं छूटता, [च यदि सः एव शुद्धः] किन्तु
वह स्वयं (रागादिको दूर करके) शुद्ध होता है [मुच्यते] तभी छूटता
होता है ।

टीका:—आत्मा और बंधको द्विधाकरण (अलग अलग कर देना)
कितने ही लोग कहते हैं कि 'बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है' किन्तु यह [illegible]
कर्मसे बँधे हुए (जीव) को बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र मोक्षका कारण नहीं है, [illegible]
बेड़ी आदिसे बँधे हुए (जीव) को बंधके स्वरूपका ज्ञानमात्र बन्धसे मुक्त होनेका [illegible]
है । उसीप्रकार कर्मसे बँधेहुए (जीव) को कर्मबन्धके स्वरूपका ज्ञानमात्र [illegible]
होनेका कारण नहीं है । इस कथनसे, उनका उत्थापन (खंडन) किया गया है जो [illegible]
प्रपंचका (–विस्तारकी) रचनाके ज्ञानमात्रसे सन्तुष्ट हो रहे हैं ।

भावार्थ:—कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्धके स्वरूपको जाननेसे ही [illegible]
हो जाता है । उनकी इस मान्यताका इस कथनसे निराकरण कर दिया गया है । [illegible]
मात्रसे ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटनेसे ही कटता है ।

अब यह कहते हैं कि बन्धका विचार करने रहनेसे भी बन्ध नहीं कटता:—

गाथा २९१

अन्वयार्थ:—[यथा] जैसे [बन्धनबद्धः] बन्धनोंसे बँधा हुआ [illegible]

ज्यों बंधनोंसे बद्ध तो नहिं बन्धचिन्तासे छुटे ।
त्यों जीव भी इन बन्धकी चिन्ता करे से नहिं छुटे ॥ २९१ ॥

बंधचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बन्धचिंताप्रबन्धवत् । एतेन कर्मबन्धविषयचिंताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते ।

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥ २९२ ॥

यथा बंधांश्छित्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बंधांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥ २९२ ॥

[बंधान् चिंतयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बंधसे नहीं छूटता), [तथा] इसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बंधान् चिंतयन्] बन्धोंका विचार करनेसे [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त नहीं करता ।

टीका:—अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बंध सम्बन्धी विचारश्रृङ्खला मोक्षका कारण है', किन्तु यह भी असत् है; कर्मसे बँधे हुए (जीव) को बंध सम्बन्धी विचारकी श्रृङ्खला मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बँधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचारश्रृङ्खला (-विचारकी परंपरा) बन्धसे छूटनेका कारण नहीं है उसीप्रकार कर्मसे बँधे हुए (पुरुष) की कर्म बन्ध सम्बन्धी विचारश्रृङ्खला कर्मबन्धसे मुक्त होनेका कारण नहीं है । इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचारश्रृङ्खलात्मक विशुद्ध (-शुभ) धर्मध्यानसे जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है ।

भावार्थ:—कर्मबन्धकी चिन्तामें मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता । यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है । जो केवल (मात्र) शुभपरिणामसे ही मोक्ष मानते हैं उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि—शुभ परिणामसे मोक्ष नहीं होता ।

"(यदि बन्धके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे भी मोक्ष नहीं होता और बन्धके विचार करनेसे भी मोक्ष नहीं होता) तब फिर मोक्षका कारण क्या है ?" ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्षका उपाय बताते हैं:—

जो बन्धनोंसे बद्ध वो नर बन्धछेदनसे छुटे ।
त्यों जीव भी इन बन्धनोंका छेद कर मुक्ती वरे ॥ २९२ ॥

कर्मबद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् ...
एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते ।

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत्—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३ ॥

गाथा २९२

अन्वयार्थः—[यथा च] जैसे [बंधनबद्धः तु] बंधनबद्ध पुरुष [बंधान् छित्वा] बन्धनोंको छेद कर [विमोक्षम् प्राप्नोति] मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, [तथा च] इसीप्रकार [जीवः] जीव [बंधान् छित्वा] बंधोंको छेदकर [विमोक्षम् संप्राप्नोति] मोक्षको प्राप्त करता है।

टीका:—कर्मसे बन्धे हुए (पुरुष) को बन्धका छेद मोक्षका कारण है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदिसे बद्धको बंधका छेद बन्धसे छूटनेका कारण है उसीप्रकार कर्मसे बँधे हुएको कर्मबंधका छेद कर्मबंधसे छूटनेका कारण है। इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनोंको (जो बंधके स्वरूपके ज्ञानमात्रसे सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्धका विचार किया करते हैं उनको-) आत्मा और बन्धके द्विधाकरणमें व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्धको भिन्न भिन्न करनेके प्रति लगाया जाता है—उद्यम कराया जाता है-)।

'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्षका कारण क्यों है ?' ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं:—

गाथा २९३

अन्वयार्थः—[बन्धानां स्वभावं च] बन्धोंके स्वभावको [आत्मनः स्वभावं च] और आत्माके स्वभावको [विज्ञाय] जानकर [बंधेषु] बन्धोंके प्रति [यः] जो [विरज्यते] विरक्त होता है, [सः] वह [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मोंसे मुक्त होता है।

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्मका ।
जो बन्धमें हि विरक्त होवे, कर्म मोक्ष करे अहा ॥ २९३ ॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय बन्धेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात् । एतेनात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ।

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ ॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
प्रज्ञाछेदनकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ २९४ ॥

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम् । तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते; ततः प्रज्ञयैवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम् । ननु कथमात्मबन्धौ

टीकाः—जो, निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभावको और उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बंधके स्वभावको जानकर, बंधोंसे विरक्त होता है, वही समस्त कर्मोंसे मुक्त होता है । इस (कथन) से, ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बंधका द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्षका कारण है । (अर्थात् आत्मा और बंधको भिन्न भिन्न करना ही मोक्षका कारण है ऐसा निर्णीत किया जाता है ।)

'आत्मा और बंध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं ?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:—

गाथा २९४

अन्वयार्थः—[जीवः च तथा बंधः] जीव तथा बंध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] नियत स्वलक्षणोंसे (अपने-अपने निश्चित लक्षणोंसे) [छिद्येते] छेदे जाते हैं; [प्रज्ञाछेदनकेन] प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा [छिन्नौ तु] छेदे जाने पर [नानात्वम् आपन्नौ] वे नानापनको प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं ।

टीकाः—आत्मा और बंधके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा उसके *करण संबंधी +मीमांसा करने पर, निश्चयतः अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती-प्रज्ञा (-ज्ञानस्वरूप बुद्धि) ही छेदनात्मक (छेदनके स्वभाववाला) करण है । उस प्रज्ञाके द्वारा

* करण=साधन; करण नामका कारक । + मीमांसा=गहरी विचारणा; तपास समालोचना ।

छेदन करो जीव बन्धका तुम नियत निज निज चिह्न से ।
प्रज्ञा-छैनीसे छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं ॥ २९४ ॥

चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ? ...

आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम् । तत्तु व्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयः तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्; प्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणम् । न च रागादय द्रव्यसाधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासंते, नित्यमेव प्रतिभासमानत्वात् । न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं

उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्वको प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्धका द्विधा किया जाता है।

(यहाँ प्रश्न होता है कि—) आत्मा और बन्ध जो कि *चेत्यचेतकभावके द्वारा अत्यन्त निकटताके कारण (–एक जैसे) हो रहे हैं, और भेदविज्ञानके अभावके कारण, मानों वे एक चेतक ही हों,—ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, अर्थात् जिन्हें एक आत्माके रूपमें ही व्यवहारमें माना जाता है) उन्हें प्रज्ञाके द्वारा वास्तवमें कैसे छेदा जा सकता है ?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं:—) आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षणोंकी सूक्ष्म अन्तःसंधिमें (अन्तरंगकी संधिमें) प्रज्ञाछैनीको सावधान होकर पटकनेसे (डालनेसे, मारनेसे) उनको छेदा जा सकता है—अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है ऐसा हम जानते हैं।

आत्माका स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्योंसे असाधारण है (वह अन्य द्रव्योंमें नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस जिस पर्यायको ग्रहण करके निवर्तता है वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं इसप्रकार लक्षित करना (लक्षणसे पहचानना) चाहिये (अर्थात् जिन जिन गुण-पर्यायोंमें चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है वे सब आत्मा हैं, ऐसा जानना चाहिये) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षणसे लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्यलक्षणसे ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायोंके साथ चैतन्यका अविनाभावी भाव होनेसे चिन्मात्र ही आत्मा है ऐसा निश्चय करना चाहिये। इतना आत्माके स्वलक्षणके संबंधमें है)।

---

* आत्मा चेतक है और बंध चेत्य है; वे दोनों अज्ञान दशामें एकसे अनुभवमें आते हैं।

तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात्; चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव चेतकतामेव प्रथयेन्न पुना रागादिताम् । एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।

(अब बंधके स्वलक्षणके संबंधमें कहते हैं:—) बन्धका स्वलक्षण तो आत्मद्रव्यसे असाधारण ऐसे रागादि हैं । यह रागादिक आत्मद्रव्यके साथ साधारणता धारण करते हुये प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्यचमत्कारसे भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं । और जितना, चैतन्य आत्माकी समस्त पर्यायोंमें व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही, रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादिके विना भी चैतन्यका आत्मलाभ संभव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों वहाँ भी चैतन्य होता है) । और जो, रागादिकी चैतन्यके साथ ही उत्पत्ति होती है वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटताके कारण ही है, एकद्रव्यत्वके कारण नहीं; जैसे (दीपकके द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपकके प्रकाशकत्वको ही प्रगट करते हैं—घटत्वादिको नहीं, इसप्रकार (आत्माके द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्माके चेतकत्वको ही प्रगट करते हैं–रागादिकत्वको नहीं ।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (-आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटताके कारण भेदसंभावनाका अभाव होनेसे अर्थात् भेद दिखाई न देनेसे (अज्ञानीको) अनादि कालसे एकत्वका व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है ।

भावार्थः—आत्मा और बन्ध दोनोंको लक्षणभेदसे पहचान कर बुद्धिरूपी छैनीसे छेद कर भिन्न भिन्न करना चाहिये ।

आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओंका स्कंध है इसलिये छद्मस्थके ज्ञानमें दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते, मात्र एक स्कंध ही दिखाई देता है (अर्थात् दोनों एकपिण्डरूप दिखाई देते हैं); इसलिये अनादि अज्ञान है । श्रीगुरुओंका उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न भिन्न अनुभव करके जानना चाहिये कि चैतन्यमात्र तो आत्माका लक्षण है और रागादिक बन्धका लक्षण है, तथापि वे मात्र ज्ञेयज्ञायकभावकी अति निकटतासे वे एक जैसे ही दिखाई देते हैं । इसलिये तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनीको—जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करनेका शस्त्र है उसे—उनकी सूक्ष्मसंधिको ढूंढ़कर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिये । उसके पड़ते ही दोनों भिन्न २ दिखाई देने लगते हैं । और ऐसा होने पर, आत्माको

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ १८१ ॥

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं
बंधो छेएयव्वो सुद्धो अप्पा य घित्तव्वो ॥ २९५ ॥

ज्ञानभावमें ही और बन्धको अज्ञानभावमें रखना चाहिये। इसप्रकार दोनोंको भिन्न करना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषोंके द्वारा किसी भी प्रकारसे (यत्नपूर्वक) सावधानतया (निष्प्रमादतया) पटकने पर, आत्मा और कर्म-दोनोंके सूक्ष्म अन्तरंग सन्धिके बन्धमें शीघ्र पड़ती है। किसप्रकार पड़ती है? वह आत्माको तो जिसका तेज अन्तरंगमें स्थिर और निर्मलतया देदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाहमें मग्न करती हुई और बन्धको अज्ञानभावमें निश्चल करती हुई—इसप्रकार आत्मा और बन्धको सर्वतः भिन्न भिन्न करती हुई पड़ती है।

भावार्थः—यहाँ आत्मा और बन्धको भिन्न भिन्न करनेरूप कार्य है। उसका कर्ता आत्मा है, वहाँ करणके बिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा? इसलिये करण भी आवश्यक है। निश्चयनयसे कर्तासे करण भिन्न नहीं होता, इसलिये आत्मासे अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्यमें करण है, आत्माके अनादि बन्ध ज्ञानावरणादिकर्म हैं, उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिये बुद्धिके द्वारा आत्माको शरीरसे, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्मसे तथा रागादिक भावकर्मसे भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञानमें ही लीन रखना सो यही (आत्मा और बन्धको) दूर करना है। इसीसे सर्व कर्मोंका नाश होता है और सिद्धपदकी प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ १८१ ॥

'आत्मा और बन्धका द्विधा करके क्या करना चाहिये'? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:—

छेदन होवे जीव बन्धका जहँ नियत निज २ चिह्न से।
वह छोड़ना इस बन्धको, जीव ग्रहण करना शुद्धको ॥ २९५ ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥ २९५ ॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ; ततो रागादिलक्षण-समस्त एव बन्धो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणशुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः । एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानम् ।

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२९६ ॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥ २९६ ॥

गाथा २९५

अन्वयार्थः—[तथा] इसप्रकार [जीवः बन्धः च] जीव और बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] अपने निश्चित स्वलक्षणोंसे [छिद्येते] छेदे जाते हैं । [बंधः] वहाँ, बन्धको [छेत्तव्यः] छेदना चाहिये अर्थात् छोड़ना चाहिये [च] और [शुद्धः आत्मा] शुद्ध आत्माको [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिये ।

टीका:—आत्मा और बन्धको प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणोंके ज्ञानसे सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिये; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है ऐसे समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिये तथा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसे शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिये । वास्तवमें यही आत्मा और बन्धके द्विधा करनेका प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्ध आत्माको ग्रहण करना ।

भावार्थ:—शिष्यने प्रश्न किया था कि आत्मा और बन्धको द्विधा करके क्या करना चाहिये ? उसका यह उत्तर दिया है कि बन्धका तो त्याग करना और शुद्ध आत्माका ग्रहण करना ।

('आत्मा और बन्धको प्रज्ञाके द्वारा भिन्न तो किया परन्तु आत्माको किसके द्वारा ग्रहण किया जाये ?'—इस प्रश्नकी तथा उसके उत्तरकी गाथा कहते हैं:—

यह जीव कैसे ग्रहण हो ? जीवका ग्रहण प्रज्ञाहि से ।
ज्यों अलग प्रज्ञासे किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से ॥ २९६ ॥

ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ।

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९७ ॥

गाथा २९६

अन्वयार्थः—(शिष्य पूछता है कि—) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाय ? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—) [प्रज्ञया तु] प्रज्ञाके द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है । [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [विभक्तः] भिन्न किया, [तथा] उसीप्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञाके द्वारा ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिये ।

टीका:—(प्रश्न) यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिये ? (उत्तर) प्रज्ञाके द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको ग्रहण करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है—जैसे भिन्न करनेमें प्रज्ञा ही एक करण था । इसलिये जैसे प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

भावार्थ:—भिन्न करने और ग्रहण करनेमें करण अलग-अलग नहीं हैं; इसलिये प्रज्ञाके द्वारा ही आत्माको भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये ।

अब प्रश्न होता है कि—इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिये ? इसका उत्तर कहते हैं:—

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥ २९७ ॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा—न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये,

---

गाथा २९७

अन्वयार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्माको) इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[यः चेतयिता] जो चेतनेवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये।

टीकाः—नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापकके व्याप्य नहीं होते इसलिये, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है इसलिये, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुयेके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुयेसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ। अथवा—न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुयेके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिए चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेतते हुयेमें चेतता हूँ, न चेतते हुयेको चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (–चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थः—प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन्न छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ', क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिए मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवालेके द्वारा ही, चेतनेवालेके लिये ही, चेतनेवालेसे ही, चेतनेवालेमें ही, चेतनेवालेको ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टिसे

ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात्। विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत्—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९७ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९७ ॥

गाथा २९६

अन्वयार्थः—(शिष्य पूछता है कि–) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाय ? (आचार्यदेव उत्तर देते [प्रज्ञया तु] प्रज्ञाके द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते किया जाता है। [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [विभक्तः] भिन्न [तथा] उसीप्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञाके द्वारा ही [गृहीतव्यः] करना चाहिये।

टीका:—(प्रश्न) यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिये ? (प्रज्ञाके द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि शुद्ध आत्माको, स्वयं निजको करनेमें प्रज्ञा ही एक करण है—जैसे भिन्न करनेमें प्रज्ञा ही एक करण था। प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया था उसीप्रकार प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये।

भावार्थ:—भिन्न करने और ग्रहण करनेमें करण अलग-अलग नहीं। प्रज्ञाके द्वारा ही आत्माको भिन्न किया और प्रज्ञाके द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये।

अब प्रश्न होता है कि—इस आत्माको प्रज्ञाके द्वारा कैसे ग्रहण करना इसका उत्तर कहते हैं:—

कर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥ २९७ ॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा—न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये,

---

गाथा २९७

अन्वयार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्माको) इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि–[यः चेतयिता] जो चेतनेवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये।

टीका:—नियत स्वलक्षणका अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणोंसे लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षणके अतिरिक्त अन्य लक्षणोंसे जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापकके व्याप्य नहीं होते इसलिये, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिये ही, अपनेमेंसे ही, अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ। आत्माकी, चेतना ही एक क्रिया है इसलिये, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुयेके लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुयेसे ही चेतता हूँ, चेततेमें ही चेतता हूँ, चेततेको ही चेतता हूँ। अथवा—न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुयेके द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुएके लिए चेतता हूँ, न चेतते हुएसे चेतता हूँ, न चेतते हुयेमें चेतता हूँ, न चेतते हुयेको चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (-चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थ:—प्रज्ञाके द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिये (अभिन्न छह कारकोंसे) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ', क्योंकि चेतना ही आत्माकी एक क्रिया है। इसलिए मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवालेके द्वारा ही, चेतनेवालेके लिये ही, चेतनेवालेसे ही, चेतनेवालेमें ही, चेतनेवालेको ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टिसे

न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये;
चिन्मात्रो भावोऽस्मि ।

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥२९८॥

तो—मुझमें छह कारकोंके भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ ।—इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करना चाहिये अर्थात् अपनेको चेतयिताके रूपमें अनुभव करना चाहिये ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो कुछ भी भेदा जा सकता है उस सबको स्वलक्षणके बलसे भेदकर, जिसकी चिन्मुद्रासे अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्यकी मुद्रासे अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ । यदि कारकके, अथवा धर्मोंके या गुणोंके भेद हों, तो भले हों; किन्तु शुद्ध (—समस्त विभावोंसे रहित–) *विभु, ऐसा चैतन्यभावमें तो कोई भेद नहीं है । (इसप्रकार प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण किया जाता है ।)

भावार्थः—जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्त्व असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों तो भले हों; परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें तो कोई भेद नहीं है ।—इसप्रकार शुद्धनयसे अभेदरूप आत्माको ग्रहण करना चाहिये । १८२ ।

(आत्माको शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया, अब सामान्य चेतना दर्शनज्ञान-सामान्यमय है इसलिये अनुभवमें दर्शनज्ञानस्वरूप आत्माको इसप्रकार अनुभव करना चाहिये—सो कहते हैं:—)

---

* विभु = दृढ़ अचल; नित्य, समर्थ, सर्व गुणपर्यायोंमें व्यापक ।

पर ग्रहण प्रज्ञासे नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही जानना ॥ २९८ ॥

पण्णाए घित्तव्वो जो दादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा ॥ २९९ ॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९८ ॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥ २९९ ॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि,

---

गाथा २९८–२९९

अन्वयार्थः—[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि—[यः द्रष्टा] जो देखनेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूं, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये ।

[प्रज्ञया] प्रज्ञाके द्वारा [गृहीतव्यः] इसप्रकार ग्रहण करना चाहिये कि–[यः ज्ञाता] जो जाननेवाला है [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चयसे [अहं] मैं हूं, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिये ।

टीकाः—चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदोंका उल्लंघन नहीं करती है। इसलिये चेतकत्वकी भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्माका स्वलक्षण ही है। इसलिये मैं देखनेवाला आत्माको ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखता हुआ ही देखता हूँ; देखते हुयेके द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुयेके लिये ही देखता हूँ, देखते हुयेसे ही देखता हूँ, देखते हुयेमें ही देखता हूँ, देखते हुयेको ही देखता हूँ। अथवा—नहीं देखता; न देखते हुएको देखता हूँ, न देखते हुएके द्वारा देखता हूँ, न देखते हुएके लिये देखता हूँ, न देखते हुयेसे देखता हूँ, न

करे ग्रहण प्रज्ञासे नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरेसे पर ही–जानना ॥ २९९ ॥

न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न
न पश्यंतं पश्यामि; किंतु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि ।
गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव; जानन्नेव जानामि,
जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि,
अथवा—न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते
न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि; किंतु
ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि ।

देखते हुयेमें देखता हूँ, न देखते हुएको देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसीप्रकार—मैं जाननेवाले आत्माको ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् जानता ही हूँ; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुएके द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुएके लिये ही जानता हूँ, जानते हुएसे ही जानता हूँ, जानते हुएमें ही जानता हूँ, जानते हुएको ही जानता हूँ। अथवा—नहीं जानता; न जानते हुएको जानता हूँ, नहीं जानते हुएके द्वारा जानता हूँ, न जानते हुएके लिये जानता हूँ, न जानते हुयेसे जानता हूँ, न जानते हुएमें जानता हूँ, न जानते हुएको जानता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (-जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इसप्रकार देखनेवाले आत्माको तथा जाननेवाले आत्माको कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकोंके भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदोंका निषेध करके आत्माको अर्थात् अपनेको दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिये अर्थात् अभेदरूपसे अनुभव करना चाहिये।)

भावार्थ:—इन तीन गाथाओंमें, प्रज्ञाके द्वारा आत्माको ग्रहण करनेको कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तुको ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतनाका अनुभव करना ही आत्माका 'ग्रहण करना' है। पहली गाथामें सामान्य चेतनाका अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह—इत्यादि कारकभेदरूपसे आत्माको कहकर, अभेदविवक्षामें कारकभेदका निषेध करके, आत्माको एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है।

अब इन दो गाथाओंमें द्रष्टा तथा ज्ञाताका अनुभव कराया है, क्योंकि चेतनासामान्य दर्शनज्ञानविशेषोंका उल्लंघन नहीं करती। यहाँ भी, छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके, और तत्पश्चात् अभेद-अनुभवनकी अपेक्षामें कारकभेदको दूर कराके, द्रष्टाज्ञातामात्रका अनुभव कराया है।)

टीका:—यहाँ प्रश्न होता है कि—चेतना दर्शनज्ञानभेदोंका उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला द्रष्टा तथा ज्ञाता होता है? इसका उत्तर कहते हैं:—प्रथम तो चेतना

ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने। ततः सा ते नातिक्रामति। यद्यतिक्रामति, सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या।

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्।
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥ १८३॥

प्रतिभासरूप है। वह चेतना द्विरूपताका उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुऐं सामान्य विशेषात्मक हैं। (सभी वस्तुयें सामान्यविशेषस्वरूप हैं। इसलिये उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी द्विरूपताका उल्लंघन नहीं करती।) उसके जो दो रूप हैं वे दर्शन और ज्ञान हैं। इसलिये वह उनका (-दर्शनज्ञानका) उल्लंघन नहीं करती। यदि चेतना दर्शनज्ञानका उल्लंघन करे तो सामान्यविशेषका उल्लंघन करनेसे चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतनाका अभाव हो जायेगा)। उसके अभावमें दो दोष आते हैं—(१) अपने गुणका नाश होनेसे चेतनको अचेतनत्व आ जायगा, अथवा (२) व्यापक (चेतना) के अभावमें व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा) का अभाव हो जायेगा। इसलिये उन दोषोंके भयसे चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिये।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जगतमें निश्चयतः चेतना अद्वैत है तथापि यदि वह दर्शनज्ञानरूपको छोड़ दे तो सामान्यविशेषरूपके अभावसे (वह चेतना) अपने अस्तित्वको ही छोड़ देगी; और इसप्रकार चेतना अपने अस्तित्वको छोड़ने पर, (१) चेतनके जड़त्व आजायेगा (-अर्थात् आत्मा जड़ हो जाय) और (२) व्यापक (चेतना) के बिना व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जायेगा (-इसप्रकार दो दोष आते हैं)। इसलिये चेतना नियमसे दर्शनज्ञानरूप ही हो।

भावार्थः—समस्त वस्तुयें सामान्यविशेषात्मक हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्यप्रतिभासरूप (-दर्शनरूप) और विशेषप्रतिभासरूप (-ज्ञानरूप) होनी चाहिए। चेतनाका अभाव होने पर, या तो चेतन आत्माको (अपने चेतना गुणका अभाव होने पर) जड़त्व आ जायेगा, अथवा व्यापकके अभावसे व्याप्य ऐसा आत्माका अभाव हो

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ १८४ ॥

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे पराइए भावे ।
मज्झमिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० ॥

को नाम भणेद्बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥ ३०० ॥

जायेगा। (चेतना आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें व्याप्त होनेसे व्यापक है और आत्मा चेतन होनेसे चेतनाका व्याप्य है। इसलिए चेतनाका अभाव होने पर आत्माका भी अभाव हो जायेगा।) इसलिये चेतनाको दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि—सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतनाको ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करनेके लिए यहाँ यह कथन किया है कि 'वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषरूप है इसलिए चेतनाको सामान्यविशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'। १८३।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—चैतन्यका (आत्माका) तो एक चिन्मय ही भाव है, और जो अन्य भाव हैं वे वास्तवमें दूसरोंके भाव हैं; इसलिए (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करने योग्य है, अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं। १८४।

अब इस उपदेशकी गाथा कहते हैं:—

गाथा ३००

अन्वयार्थः—[सर्वान् भावान्] सर्व भावोंको [परकीयान्] दूसरेका [ज्ञात्वा] जानकर [कः नाम बुधः] कौन ज्ञानी, [आत्मानं] अपनेको [शुद्धम्] शुद्ध [जानन्] जानता हुआ, [इदम् मम] 'यह मेरा है' (—'यह भाव मेरे हैं') [इति च वचनं] ऐसा वचन [भणेत्] बोलेगा ?

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्मको ।
वह कौन ज्ञानी "मेरा है यह" यों वचन बोले अहो ॥ ३०० ॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति, शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात्? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासंभवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः।

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

(अनुष्टुभ्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यतिः॥ १८६ ॥

टीका:—जो (पुरुष) परके और आत्माके नियत स्वलक्षणोंके विभागमें पड़नेवाली प्रज्ञाके द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तवमें एक चिन्मात्र भावको अपना जानता है और शेष सर्व भावोंको दूसरोंका जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावोंको 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि परमें और अपनेमें निश्चयसे स्वस्वामिसम्बन्धका असम्भव है। इसलिये, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़ने योग्य हैं—ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ:—लोकमें भी यह न्याय है कि—जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है वह दूसरेके धनादिको अपना नहीं कहता। इसीप्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्योंको अपना नहीं मानता। किन्तु अपने निजभावको ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जिनके चित्तका चरित्र उदात्त (-उदार, उच्च, उज्ज्वल) है ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्तका सेवन करें कि—"मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ; और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकारके भाव प्रगट होते हैं वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिये परद्रव्य हैं"। १८५।

अब आगामी कथनका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है इसलिये बन्धमें पड़ता है,

थेयाई अवराहे जो कुव्वइ सो उ संकिदो
मा बज्झेजं केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको उ जणवए भमई
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जइ कयाइ ॥ ३०२ ॥
एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेया ।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ॥ ३०३ ॥

स्तेयादीनपराधान् यः करोति स तु शंकितो भ्रमति ।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥ ३०१ ॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति ।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिंतोत्पद्यते कदाचित् ॥ ३०२ ॥
एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता ।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥ ३०३ ॥

और जो स्वद्रव्यमें ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्यमें ही गुप्त-मग्न है-संतुष्ट है, परद्रव्यका ग्रहण नहीं करता) ऐसा यति निरपराधी है इसलिये बँधता नहीं है । १८६ ।

अब इस कथनको दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ३०१–३०३

अन्वयार्थः—[यः] जो पुरुष [स्तेयादीन् अपराधान्] चोरी आदिके अपराध [करोति] करता है [सः तु] वह '[जने विचरन्] लोकमें घूमता हुआ [केन अपि] मुझे कोई [चोरः इति] चोर समझकर [मा बध्ये] पकड़ न ले,' इसप्रकार [शंकितः भ्रमति] शंकित होता हुआ घूमता है ; [यः]

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै ।
को लोकमें फिरते हुएको, चोर जान जु बांध ले ॥ ३०१ ॥
अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविषैं फिरै ।
"बँध जाउँगा" ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है ॥ ३०२ ॥
त्यों आत्मा अपराधी "मैं बँधता हुँ" यों हि सशंक है ।
जरु निरपराधी आत्मा, "नाहीं बँधूँ" निःशंक है ॥ ३०३ ॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति, यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवतीति नियमः । अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ।

को हि नामायमपराधः ?—

जो पुरुष [अपराधान्] अपराध [न करोति] नहीं करता [सः तु] वह [जनपदे] लोकमें [निश्शंकः भ्रमति] निःशंक घूमता है, [यद्] क्योंकि [तस्य] उसे [बद्धुं चिन्ता] बँधनेकी चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती । [एवम्] इसीप्रकार [चेतयिता] (अपराधी) आत्मा '[सापराधः अस्मि] मैं अपराधी हूँ [बध्ये तु अहं] इसलिये मैं बँधूँगा' इसप्रकार [शंकितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो '[अहं न बध्ये] 'मैं नहीं बँधूँगा' इसप्रकार [निश्शंकः] निःशंक होता है ।

टीकाः—जैसे इस जगतमें जो पुरुष, परद्रव्यका ग्रहण जिसका लक्षण है ऐसा अपराध करता है उसीको बंधकी शंका होती है और जो अपराव नहीं करता उसे बंधकी शंका नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्यग्रहणात्मक अपराध करता है उसीको बंधकी शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता उसे बंधकी शंका नहीं होती—ऐसा नियम है । इसलिये सर्वथा समस्त परकीय भावोंके परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्यके सर्व भावोंको छोड़कर) शुद्ध आत्माको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है ।

भावार्थः—यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बंधनकी शंका हो; निरपराधको शंका क्यों होगी ? इसीप्रकार यदि आत्मा परद्रव्यका ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बंधकी शंका अवश्य होगी; यदि अपनेको शुद्ध अनुभव करे, परका ग्रहण न करे, तो बंधकी शंका क्यों होगी ? इसलिये परद्रव्यको छोड़कर शुद्ध आत्माका ग्रहण करना चाहिये । तभी निरपराध हुआ जाता है ।

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है ? उसके उत्तरमें अपराधका स्वरूप कहते हैं:—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥
जो पुण णिरावराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणए णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥ ३०५ ॥

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥ ३०४ ॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन् ॥ ३०५ ॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः । अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः । अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः, तेन

गाथा ३०४–३०५

अन्वयार्थः—[संसिद्धिराधसिद्धं] संसिद्धि, *राध, सिद्ध, [साधितं आराधितं च] साधित और आराधित—[एकार्थम्] ये एकार्थवाची शब्द हैं; [यः खलु चेतयिता] जो आत्मा [अपगतराधः] 'अपगतराध' अर्थात् राधसे रहित है [सः] वह आत्मा [अपराधः] अपराध [भवति है ।

[पुनः] और [यः चेतयिता] जो आत्मा [निरपराधः] निरपराध है [सः तु] वह [निश्शंकितः भवति] निःशंक होता है; [अहं इति जानन्] 'जो शुद्ध आत्मा है सो ही मैं हूँ' ऐसा जानता हुआ [आराधनया] आराधनासे [नित्यं वर्तते] सदा वर्तता है ।

टीका:—परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है । जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो वह आत्मा अपराध है । अथवा (दूसरा समासविग्रह

---

* राध=आराधना; प्रसन्नता; कृपा; पूर्णता; सिद्ध करना; पूर्ण करना ।

संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित आराधित एक है ।
वे राधसे जो रहित है, वो आतमा अपराध है ॥ ३०४ ॥
अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशङ्क वो ।
वर्ते सदा आराधनासे, जानता 'मैं' आत्मको ॥ ३०५ ॥

सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः । स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्धशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात् । यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशंकाया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध :आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात् ।

* मालिनी *

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

इसप्रकार है :) जो भाव राध रहित हो वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो वह आत्मा सापराध है । वह आत्मा, परद्रव्यके ग्रहणके सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभावके कारण बन्धकी शंका होती है इसलिये स्वयं अशुद्ध होनेसे, अनाराधक ही है । और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धिके सद्भावके कारण बन्धकी शंका नहीं होती इसलिए 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इसप्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसी आराधना पूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है ।

भावार्थ:—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधनका नाम 'राध' है । जिसके वह राध नहीं है वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है वह आत्मा निरपराध है । जो सापराध है उसे बन्धकी शंका होती है इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होनेसे अनाराधक है; और जो निरपराध है वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोगमें लीन होता है इसलिए उसे बन्धकी शंका नहीं होती, इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके एक भावरूप निश्चय आराधनाका आराधक ही है ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—सापराध आत्मा निरंतर अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मोंसे बँधता है; निरपराध आत्मा बन्धनको कदापि स्पर्श नहीं करता । जो सापराध आत्मा है वह तो नियमसे अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है; निरपराध आत्मा तो भलीभाँति शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला होता है । १८७ ।

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः भवत्यात्मा, सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे देस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात् । उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—
अप्पडिहारो अधारणा चेव । अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य ।
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य । णिंदा गरहा
अमयकुम्भो दु ॥ २ ॥

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनयको अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि:—) "शुद्ध आत्माकी उपासनाका प्रयास करनेका क्या काम है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदिसे ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराधके, जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराधको दूर करनेवाले न होनेसे, विषकुम्भ हैं, इसलिये जो प्रतिक्रमणादि हैं वे, अपराधको दूर करनेवाले होनेसे अमृतकुम्भ हैं । व्यवहारका कथन करनेवाले आचारसूत्रमें भी कहा है कि:—

> अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
> अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ॥ १ ॥
> पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
> णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु ॥ २ ॥ अत्रोच्यते—

अर्थ:—"अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि—(इन आठ प्रकारसे लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित् न करना) सो *विषकुम्भ है । १ ।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि—(इन आठ प्रकारसे लगे हुए दोषोंका प्रायश्चित् करना) सो अमृतकुम्भ है । २ ।"

उपरोक्त तर्कका समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनयकी प्रधानतासे) गाथा द्वारा करते हैं:—

---

* प्रतिक्रमण=कृत दोषोंका निराकरण । प्रतिसरण=सम्यक्त्वादि गुणोंमें प्रेरणा । परिहार=मिथ्यात्व-रागादि दोषोंका निवारण । धारणा=पंचनमस्कारादि मंत्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्योंके आलम्बन द्वारा चित्तको स्थिर करना । निवृत्ति=बाह्य विषयकषायादि इच्छामें प्रवर्तमान चित्तको हटा लेना । निन्दा=आत्मसाक्षीपूर्वक दोषोंका प्रगट करना । गर्हा=गुरुसाक्षीसे दोषोंका प्रगट करना । शुद्धि=दोष होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना ।

कारयति । वक्ष्यते चात्रैव—*कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं । तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ इत्यादि ।

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनम् ।
आत्मन्येवालानितं च चित्त-
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १८८ ॥

(वसंततिलका)
यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

क्या प्रयोजन है ? शुद्ध होनेके बाद उसका आलम्बन होगा; पहलेसे ही आलम्बनका खेद निष्फल है ।" उसे आचार्य समझाते हैं कि:—जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं वे दोषोंके मिटानेवाले हैं, तथापि शुद्ध आत्मा स्वरूप जो कि प्रतिक्रमणादिसे रहित हैं उसके अवलम्बनके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषोंके मिटानेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चयकी अपेक्षासे युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्गमें है, केवल व्यवहारका ही पक्ष मोक्षमार्गमें नहीं है, बंधका ही मार्ग है। इसलिये यह कहा है कि—अज्ञानीके जो अप्रतिक्रमणादिक हैं सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है ? किन्तु व्यवहारचारित्रमें जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं वे भी निश्चयनयसे विषकुम्भ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादिसे रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादिस्वरूप ही है।

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस कथनसे, सुखासीन (सुखसे बैठे हुए) प्रमादी जीवोंको हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्षका सर्वथा अनधिकारी कहा है), चापल्यका (-अविचारित कार्यका) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीतिसे रहित क्रियाओंको मोक्षके कारण में नहीं माना), आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टिके द्रव्यप्रतिक्रमण इत्यादिको भी निश्चयसे बंधका कारण मानकर हेय कहा है), जबतक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्माकी प्राप्ति न हो तब-तक (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भसे ही चित्तको बाँध रखा है (-अर्थात् व्यवहारके आलम्बनसे अनेक प्रवृत्तियोंमें चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मामें ही लगानेको कहा है क्योंकि वही मोक्षका कारण है)। १८८।

यहाँ निश्चयनयसे प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिको अमृत-कुम्भ कहा इसलिये यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादिको छोड़कर प्रमादी हो जाये तो उसे समझानेके लिये कलशरूप काव्य कहते हैं:—

---

*गाथा० ३८३—३८५

प्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः
कारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात् । अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु
सिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो
हारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुंभत्वं साधयति । तयैव च
चेतयिता । तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव ।
निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते । तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः ।
यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न [illegible]
प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं

अपराधरूप होनेसे विषकुम्भ ही है; उनका विचार करनेका क्या प्रयोजन है ? — तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं ।) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब विषके दोषको (क्रमशः) कम करनेमें समर्थ होनेसे अमृतकुम्भ हैं (ऐसा व्यवहार सूत्रमें कहा है) तथापि प्रतिकमण-अप्रतिक्रमणादिसे विलक्षण ऐसी तीसरी भूमिकाको न देखनेवाले पुरुषको वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप कार्य करनेको असमर्थ होनेसे विपक्ष (अर्थात् बंधका) कार्य करते होनेसे [illegible] जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्माकी सिद्धिरूप होनेके [illegible] समस्त अपराधरूपी विषके दोषोंको सर्वथा नष्ट करनेवाली होनेसे, साक्षात् स्वयं [illegible] है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहारसे द्रव्यप्रतिक्रमणादिको भी [illegible] साधती है । उस तीसरी भूमिसे ही आत्मा निरपराध होता है । उस (तीसरी भूमि) के अभावमें द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है । इसलिये, तीसरी भूमिसे ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है । उसकी प्राप्तिके लिये ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि है । ऐसा होनेसे यह नहीं मानना चाहिये कि (निश्चयनयका) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादिको छुड़ाता है । तब फिर क्या करता है ? द्रव्यप्रतिक्रमणादिसे छुड़ा नहीं देता (—अटका नहीं देता, [illegible] नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे [illegible] अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्माकी सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर [illegible] कराता है । इस ग्रन्थमें ही आगे कहेंगे कि—

अर्थ.—अनेकप्रकारके विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे जो अपने [illegible] निवृत्त कराता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है । इत्यादि ।

भावार्थः—व्यवहारनयावलम्बीने कहा था कि—"लगे हुये दोषोंका [illegible] करनेसे ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहलेसे ही शुद्धात्माके [illegible] और [illegible]

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

(मंदाक्रांता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर स्वयं स्वद्रव्यमें लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, बंधके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, अपनी ज्योतिसे (आत्मस्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृतके प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ, कर्मोंसे मुक्त होता है ।

भावार्थः—जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करके निज द्रव्यमें (आत्मस्वरूपमें) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बन्धका नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञानको प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मोंका नाश करके, मोक्षको प्राप्त करता है । यह, मोक्ष होनेका अनुक्रम है । १९१ ।

अब मोक्ष अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलरूप पूर्ण ज्ञानकी महिमाका (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्यकी महिमाका) कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्मबंधके छेदनेसे अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, एकांत शुद्ध (-कर्ममलके न रहनेसे अत्यन्त शुद्ध), और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकारमें परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और अपनी अचल महिमामें लीन हुआ है ।

भावार्थः—कर्मका नाश करके मोक्षका अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारोंको गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥ १९० ॥

अर्थः—(हे भाई !) जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता ।) तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमाद होता हुआ ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ?

भावार्थः—अज्ञानावस्थामें जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही क्या ! किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादिका पक्ष छुड़ानेके लिये उन्हें (द्रव्यप्रतिक्रमणादिको) निश्चयनयकी प्रधानतासे विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबंधके ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादिसे रहित होनेसे अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँके अप्रतिक्रमणादिको अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमिपर चढ़ानेके लिये आचार्यदेवने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहनेकी बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं कि—'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं ? तृतीय भूमिमें ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते ?' जहाँ प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहा है वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानीका नहीं। इसलिये जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानीके अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिये, किन्तु तीसरी भूमिके शुद्ध आत्मामय जानना चाहिये । १८९ ।

अब इस अर्थको दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कषायके भारसे भारी होनेसे आलस्यका होना सो प्रमाद है; इसलिये यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये निजरससे परिपूर्ण स्वभावमें निश्चल होनेवाला मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है अथवा अल्पकालमें ही—(कर्मबंधसे) छूट जाता है ।

भावार्थः—प्रमाद तो कषायके गौरवसे होता है इसलिये प्रमादीके शुद्ध भाव नहीं होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभावमें प्रवृत्त होता है वह शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त करता है। १९०।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

(मंदाक्रांता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर स्वयं स्वद्रव्यमें लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, बंधके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, अपनी ज्योतिसे (आत्मस्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृतके प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ, कर्मोंसे मुक्त होता है।

भावार्थः—जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करके निज द्रव्यमें (आत्मस्वरूपमें) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बन्धका नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञानको प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मोंका नाश करके, मोक्षको प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होनेका अनुक्रम है। १९१।

अब मोक्ष अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलरूप पूर्ण ज्ञानकी महिमाका (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्यकी महिमाका) कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्मबंधके छेदनेसे अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, एकांत शुद्ध (-कर्ममलके न रहनेसे अत्यन्त शुद्ध), और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकारमें परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य आज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और अपनी अचल महिमामें लीन हुआ है।

भावार्थः—कर्मका नाश करके मोक्षका अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारोंको गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १८९ ॥

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात् ॥ १९० ॥

अर्थः—(हे भाई !) जहाँ प्रतिक्रमणको ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण [illegible] कहाँसे हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता ।) तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता [illegible] प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमाद होता हुआ ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ?

भावार्थः—अज्ञानावस्थामें जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं उनकी तो बात ही [illegible] किन्तु यहाँ तो, शुभप्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादिका पक्ष छुड़ानेके लिये उन्हें ([illegible] क्रमणादिको) निश्चयनयकी प्रधानतासे विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबंधके ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादिसे रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है [illegible] प्रतिक्रमणादिसे रहित होनेसे अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् [illegible] अप्रतिक्रमणादिको अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमिपर चढ़ानेके लिये आचार्यदेवने यह [illegible] देश दिया है। प्रतिक्रमणादिको विषकुम्भ कहनेकी बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं उनके सम्बन्धमें आचार्य कहते हैं कि—'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं ? तृतीय भूमिमें ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते ?' जहाँ प्रतिक्रमणको विषकुम्भ कहा है वहाँ उसका [illegible] अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानीका नहीं। इसलिये जो [illegible] अमृतकुम्भ कहे हैं वे अज्ञानीके अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिये, किन्तु तीसरी भूमिके [illegible] आत्मामय जानना चाहिये। १८९।

अब इस अर्थको दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कषायके भारसे भारी होनेसे आलस्यका होना सो प्रमाद है; इसलिये [illegible] प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है ? इसलिये निजरससे परिपूर्ण [illegible] निश्चल होनेवाला मुनि परम शुद्धताको प्राप्त होता है अथवा अल्पकालमें ही-([illegible]) छूट जाता है।

भावार्थः—प्रमाद तो कषायके गौरवसे होता है इसलिये प्रमादीके [illegible] होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभावमें प्रवृत्त होता है वह [illegible] होकर [illegible] करता है। १९०।

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः।
बंधध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १९१ ॥

(मंदाक्रांता)

बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धम्।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

अब, मुक्त होनेका अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष वास्तवमें अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्यको छोड़कर स्वयं स्वद्रव्यमें लीन होता है, वह पुरुष नियमसे सर्व अपराधोंसे रहित होता हुआ, बंधके नाशको प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान) होता हुआ, अपनी ज्योतिसे (आत्मस्वरूपके प्रकाशसे) निर्मलतया उछलता हुआ चैतन्यरूपी अमृतके प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा शुद्ध होता हुआ, कर्मोंसे मुक्त होता है।

भावार्थः—जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्यका त्याग करके निज द्रव्यमें (आत्मस्वरूपमें) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधोंसे रहित होकर आगामी बन्धका नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञानको प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मोंका नाश करके, मोक्षको प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होनेका अनुक्रम है। १९१।

अब मोक्ष अधिकारको पूर्ण करते हुए उसके अन्तिममंगलरूप पूर्ण ज्ञानकी महिमाका (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्यकी महिमाका) कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कर्मबंधके छेदनेसे अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्षका अनुभव करता हुआ, नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, एकांत शुद्ध (-कर्ममलके न रहनेसे अत्यन्त शुद्ध), और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकारमें परिणमित) निजरसकी अतिशयतासे जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है ऐसा यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और अपनी अचल महिमामें लीन हुआ है।

भावार्थः—कर्मका नाश करके मोक्षका अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयाकारोंको गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार

इति मोक्षो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां
प्ररूपकः अष्टमोंकः ॥

नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलतारहित)—ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट देदीप्यमान अपनी महिमामें लीन होगया । १६२ ।

टीका:—इसप्रकार मोक्ष (रंगभूमिमेंसे) बाहर निकल गया ।

भावार्थ:—रंग भूमिमें मोक्षतत्त्वका स्वाँग आया था । जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ उस मोक्षका स्वाँग रंगभूमिसे बाहर निकल गया ।

* सवैया *

ज्यों नर कोय परयो दृढ़बंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित समयसार व्याख्या-आत्मख्याति नामक मोक्ष प्ररूपक अष्टम अंक समाप्त ।

* आठवाँ मोक्ष अधिकार समाप्त *

— ९ —

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम् ।

(मंदाक्रांता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १९३ ॥

---

* दोहा *

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।
परकूं करै न भोगवै, जानै *जपि तसु नाम ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि-"अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।"

मोक्ष तत्त्वके स्वाँगके निकल जानेके बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमिमें जीव-अजीव, कर्ताकर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये आठ स्वाँग आये, उनका नृत्य हुआ और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँगोंके दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूपसे ज्ञानपुञ्ज आत्माकी महिमाका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावोंको सम्यक् प्रकारसे (भलीभाँति) नाशको प्राप्त कराके पद पद पर (अर्थात् कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे होनेवाली प्रत्येक पर्यायमें) बंध-मोक्षकी रचनासे दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरणसे रहित), जिसका पवित्र अचल तेज निजरसके (-ज्ञानरसके, ज्ञानचेतनारूपी रसके) विस्तारसे परिपूर्ण है ऐसा, और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

भावार्थः—शुद्धनयका विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्वभोक्तृत्वके

---

* जपि=यद्यपि।

(अनुष्टुभ्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ १९४ ॥

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥ ३११ ॥

भावोंसे रहित है, बन्धमोक्षकी रचनासे रहित है, परद्रव्यसे और परद्रव्यके समस्त भावोंसे रहित होनेसे शुद्ध है, निजरसके प्रवाहसे पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है। १९३।

अब सर्वविशुद्ध ज्ञानको प्रगट करते हैं, उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभावसे रहित है' इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार कर्तृत्व भी इस चित्स्वरूप आत्माका स्वभाव नहीं है, वह अज्ञानसे ही कर्ता है, अज्ञानका अभाव होने पर अकर्ता है। १९४।

जो द्रव्य उपजे जिन गुणोंसे, उनसे जान अनन्य वो।
है जगतमें कटकादि, पर्यायोंसे कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥
जीव-अजीवके परिणाम जो, शास्त्रोंविषें जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणामसे ॥ ३०९ ॥
उपजे न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतारके।
आश्रित हुवे उपजे नियमसे, अन्य नहिं सिद्धी दिखे ॥ ३११ ॥

दव्वं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥३१०॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३११ ॥

अब, आत्माका अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

गाथा ३०८–३११

अन्वयार्थः—[यत् द्रव्यं] जो द्रव्य [गुणैः] जिन गुणोंसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तैः] उन गुणोंसे [तत्] उसे [अनन्यत् जानीहि] अनन्य जानो; [यथा] जैसे [इह] जगतमें [कटकादिभिः पर्यायैः तु] कड़ा इत्यादि पर्यायोंसे [कनकम्] सुवर्ण [अनन्यत्] अनन्य है वैसे ।

[जीवस्य अजीवस्य तु] जीव और अजीवके [ये परिणामाः तु] जो परिणाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्रमें बताये हैं, [तैः] उन परिणामोंसे [तं जीवम् अजीवं वा] उस जीव अथवा अजीवको [अनन्यं विजानीहि] अनन्य जानो ।

[यस्मात्] क्योंकि [कुतश्चिद् अपि] किसीसे भी [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं हुआ [तेन] इसलिये [सः आत्मा] वह आत्मा [कार्यं न] (किसीका) कार्य नहीं है, [किंचिद् अपि] और किसीको [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह [कारणम् अपि] (किसीका) कारण भी [न भवति] नहीं है ।

[नियमात्] नियमसे [कर्म प्रतीत्य] कर्मके आश्रयसे (—कर्मका अवलम्बन लेकर) [कर्ता] कर्ता होता है; [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्ताके आश्रयसे [कर्माणि उत्पद्यंते] कर्म उत्पन्न होते हैं; [अन्या तु] अन्य किसी प्रकारसे [सिद्धिः] कर्ताकर्मकी सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती ।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति, तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।

टीका:—प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्णका कंकण आदि परिणामोंके साथ तादात्म्य है उसीप्रकार सर्व द्रव्योंका अपने परिणामोंके साथ तादात्म्य है। इसप्रकार जीव अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीवके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्योंका अन्यद्रव्यके साथ उत्पाद्य-उत्पादक भावका अभाव है; उसके (कार्यकारणभावके) सिद्ध न होने पर, अजीवके जीवका कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (-अजीवके जीवका कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्मकी अन्यनिरपेक्षतया (अन्यद्रव्यसे निरपेक्षतयास्वद्रव्यसे ही) सिद्धिहोनेसे जीवके अजीवका कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ:—सर्व द्रव्योंके परिणाम भिन्न भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने अपने परिणामोंके कर्ता हैं; वे उन परिणामोंके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयसे किसीका किसीके साथ कर्ताकर्मसंबंध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामोंका कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामोंका ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरेके परिणामोंका अकर्ता है।

'इसप्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे बन्ध होता है यह अज्ञानकी महिमा है' इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जो निजरससे विशुद्ध है, और जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्यज्योतियोंके द्वारा लोकका समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है, ऐसा यह जीव पूर्वोक्त प्रकारसे (परद्रव्यका तथा परभावोंका) अकर्ता सिद्ध हुआ, तथापि उसे इस जगतमें

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ १९५ ॥

चेया उ पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंधो उ दुह्णं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ ३१३ ॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

कर्म प्रकृतियोंके साथ यह (प्रगट) बंध होता है सो वह वास्तवमें अज्ञानकी कोई गहन महिमा स्फुरायमान है ।

भावार्थः—जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयोंमें व्याप्त होनेवाला है ऐसा यह जीव शुद्धनयसे परद्रव्यका कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्मका बन्ध होता है यह अज्ञानकी कोई गहन महिमा है—जिसका पार नहीं पाया जाता । १९५ ।

(अब अज्ञानकी इस महिमाको प्रगट करते हैं:—)

गाथा ३१२-३१३

अन्वयार्थः—[चेतयिता तु] चेतक अर्थात् आत्मा [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृतिके निमित्तसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] और नष्ट होता है, [प्रकृतिः अपि] तथा प्रकृति भी [चेतकार्थम्] चेतक अर्थात् आत्माके निमित्तसे [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा नष्ट होती है । [एवं] इसप्रकार [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्तसे [द्वयोः अपि] दोनों ही—[आत्मनः

पर जीव प्रकृतीके निमित्त जु, उपजता नशता अरे !
अरु प्रकृतिका जीवके निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥ ३१२ ॥
अन्योन्यके जु निमित्तसे यों, बंध दोनोंका बने ।
इस जीव प्रकृती उभयका, संसार इससे होय है ॥ ३१३ ॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति । प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति । एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ।

> जा एस पयडीअट्ठं चेया णेव विमुंचए ।
> अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ३१४ ॥
> जया विमुंचए चेया कम्मफलमणंतयं ।
> तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

प्रकृतेः च] आत्माका और प्रकृतिका—[बंधः तु भवेत्] बन्ध होता है, [तेन] और इससे [संसारः] संसार [जायते] उत्पन्न होता है ।

टीकाः—यह आत्मा, (उसे) अनादि संसारसे ही (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे दूसरेका और अपना एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता होता हुआ, प्रकृतिके निमित्तसे उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होता है; प्रकृति भी आत्माके निमित्तसे उत्पत्ति-विनाशको प्राप्त होती है (अर्थात् आत्माके परिणामानुसार परिणमित होती है)। इसप्रकार—यद्यपि ये आत्मा और प्रकृतिके कर्ताकर्मभावका अभाव है तथापि—परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावसे दोनोंके बन्ध देखा जाता है, इससे संसार है और उनके (आत्मा और प्रकृतिके) कर्ताकर्मका व्यवहार है।

भावार्थः—आत्माके और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी प्रकृतिओंके परमार्थसे कर्ताकर्मभावका अभाव है तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावके कारण बंध होता है, इससे संसार है और कर्ताकर्मपनका व्यवहार है।

(अब यह कहते हैं कि—'जबतक आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना-विनशना न छोड़े तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है':—)

> उत्पाद-व्यय प्रकृतीनिमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे ।
> अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जीव रहे ॥ ३१४ ॥
> ये आतमा जब ही करमका, फल अनंता परितजे ।
> ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है ॥ ३१५ ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति ।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥
यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकम् ।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुंचति, तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च

गाथा ३१४–३१५

अन्वयार्थः—[यावत्] जबतक [एषः चेतयिता] यह आत्मा [प्रकृत्यर्थं] प्रकृतिके निमित्तसे उपजना-विनशना [न एव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता, [तावत्] तबतक वह [अज्ञायकः] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि है, [असंयतः भवेत्] असंयत है ।

[यदा] जब [चेतयिता] आत्मा [अनन्तकम् कर्मफलम्] अनन्त कर्म फलको [विमुञ्चति] छोड़ता है, [तदा] तब वह [ज्ञायकः] ज्ञायक है, [दर्शकः] दर्शक है, [मुनिः] मुनि है, [विमुक्तः भवति] विमुक्त अर्थात् बन्धसे रहित है ।

टीकाः—जबतक यह आत्मा, (स्व-परके भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणोंका ज्ञान (भेदज्ञान) न होनेसे, प्रकृतिके स्वभावको-जो कि अपनेको बंधका निमित्त है उसको—नहीं छोड़ता, तबतक स्व-परके एकत्वज्ञानसे अज्ञायक (-अज्ञानी) है, स्वपरके एकत्वदर्शनसे (एकत्वरूप श्रद्धानसे) मिथ्यादृष्टि है और स्वपरकी एकत्वपरिणतिसे असंयत है; और तभी तक परके तथा अपने एकत्वका अध्यास करनेसे कर्ता है। और जब यही आत्मा (अपने और परके भिन्न भिन्न) निश्चित् स्वलक्षणोंके ज्ञानके (भेदज्ञानके) कारण प्रकृतिके स्वभावको —जो कि अपनेको बंधका निमित्त है उसको—छोड़ता है, तब स्वपरके विभागज्ञानसे (भेदज्ञानसे) ज्ञायक है, स्वपरके विभागदर्शनसे—(भेददर्शनसे) दर्शक है और स्वपरकी विभागपरिणतिसे (भेदपरिणतिसे) संयत है; और तभी स्व-परके एकत्वका अध्यास न करनेसे अकर्ता है।

भावार्थः—जबतक यह आत्मा स्व-परके लक्षणको नहीं जानता तबतक वह भेद-ज्ञानके अभावके कारण कर्मप्रकृतिके उदयको अपना समझकर परिणमित होता है; इसप्रकार

परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति, तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति।

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानदेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन,

---

मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्मका बन्ध करता है। और जब आत्माको भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिये कर्मका बन्ध नहीं करता, ज्ञातादृष्टारूपसे परिणमित होता है।

"इसीप्रकार भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है" इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—कर्तृत्वकी भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्यका (चित्स्वरूप आत्माका) स्वभाव नहीं कहा है। यह अज्ञानसे ही भोक्ता है, अज्ञानका अभाव होनेपर अभोक्ता है। १९६।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ३१६

अन्वयार्थः—[अज्ञानी] अज्ञानी [प्रकृतिस्वभावस्थितः तु] प्रकृतिके स्वभावमें स्थित रहता हुआ [कर्मफलं] कर्मफलको [वेदयते] वेदता (भोगता) है [पुनः ज्ञानी] और ज्ञानी तो [उदितं कर्मफलं] उदितमें आये हुए (उदयागत) कर्मफलको [जानाति] जानता है, [न वेदयते] भोगता नहीं है।

टीकाः—अज्ञानी शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण स्वपरके एकत्वज्ञानसे, स्व-

---

अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफलको वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता ॥ ३१६ ॥

स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते ।

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ।। १९७ ।।

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

परके एकत्वदर्शनसे और स्वपरकी एकत्वपरिणतिसे प्रकृतिके स्वभावमें स्थित होनेसे प्रकृतिके स्वभावको भी 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ कर्मफलको वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्माके ज्ञानके सद्भावके कारण स्वपरके विभागज्ञानसे, स्वपरके विभागदर्शनसे, और स्वपरकी विभागपरिणतिसे प्रकृतिके स्वभावसे निवृत्त (–दूरवर्ती) होनेसे शुद्ध आत्माके स्वभावको एकको ही 'अहं' रूपसे अनुभव करता हुआ उदित कर्मफलको, उसके ज्ञेयमात्रताके कारण, जानता ही है, किन्तु उसका 'अहं' रूपसे अनुभवमें आना अशक्य होनेसे, (उसे) नहीं भोगता।

भावार्थः—अज्ञानीको तो शुद्धात्माका ज्ञान नहीं है इसलिये जो कर्म उदयमें आता है उसीको वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानीको शुद्ध आत्माका अनुभव होगया है इसलिये वह उस प्रकृतिके उदयको अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता ।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें लीन होनेसे (–उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये–) सदा वेदक है, और ज्ञानी तो प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे (–उसे परका स्वभाव जानता है इसलिए–) कदापि वेदक नहीं है। इसप्रकारके नियमको भलीभाँति विचार करके— निश्चय करके निपुण पुरुषो ! अज्ञानीपनको छोड़ दो और शुद्ध-एक-आत्मामय तेजमें निश्चल होकर ज्ञानीपनेका सेवन करो । १९७ ।

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है) :—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥ ३१७ ॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति; तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव ।

गाथा ३१७

अन्वयार्थः—[सुष्ठु] भली भाँति [शास्त्राणि] शास्त्रोंको [अधीत्य अपि] पढ़कर भी [अभव्यः] अभव्य जीव [प्रकृतिं] प्रकृतिको (अर्थात् प्रकृतिके स्वभावको) [न मुंचति] नहीं छोड़ता, [गुडदुग्धं] जैसे मीठे दूधको [पिबंतः अपि] पीते हुए भी [पन्नगाः] सर्प [निर्विषाः] निर्विष [न भवंति] नहीं होते ।

टीकाः—जैसे इस जगतमें सर्प विषभावको अपने आप नहीं छोड़ता, और विषभावके मिटानेमें समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपानसे भी नहीं छोड़ता, इसीप्रकार वास्तवमें अभव्य जीव प्रकृतिस्वभावको अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभावको छुड़ानेमें समर्थभूत द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे भी नहीं छोड़ता, क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञानके अभावके कारण अज्ञानीपन है । इसलिये यह नियम किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभावमें स्थिर होनेसे वेदक (भोक्ता) ही है ।

भावार्थः—इस गाथामें, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफलका भोक्ता ही है । यहाँ अभव्यका उदाहरण युक्त है । जैसेः—अभव्यका स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुतका ज्ञान आदि बाह्य कारणोंके मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्माके ज्ञानके अभावके कारण, कर्मोदयको भोगनेके स्वभावको नहीं बदलता; इसलिये इस उदाहरणसे स्पष्ट हुआ कि

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे ।
ज्यों दूध गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने ॥ ३१७ ॥

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥ ३१८ ॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति ॥ ३१८ ॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात्

शास्त्रोंका ज्ञान इत्यादि होने पर भी जबतक जीवको शुद्ध आत्माका ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानभाव है तबतक वह नियमसे भोक्ता ही है ।

अब, यह नियम करते हैं कि—ज्ञानी तो कर्मफलका अवेदक ही है:—

गाथा ३१८

अन्वयार्थः—[निर्वेदसमापन्नः] निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त [ज्ञानी] ज्ञानी [मधुरं कटुकं] मीठे-कड़वे [बहुविधम्] अनेक प्रकारके [कर्मफलं] कर्मफलको [विजानाति] जानता है [तेन] इसलिये [सः] वह [अवेदकः भवति] अवेदक है ।

टीका:—ज्ञानी तो जिसमेंसे भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञानके सद्भावके कारण, परसे अत्यन्त विरक्त होनेसे प्रकृति (कर्मोदय) के स्वभावको स्वयमेव छोड़ देता है इसलिये उदयमें आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफलको ज्ञातापनेके कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञानके होने पर (-ज्ञान हो तब) परद्रव्यको 'अहं' रूपसे अनुभव करनेकी अयोग्यता होनेसे (उस कर्मफलको) नहीं वेदता । इसलिये, ज्ञानी प्रकृतिस्वभावसे विरक्त होनेसे अवेदक ही है ।

भावार्थ:—जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है, और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थसे भोक्ता नहीं कहलाता । इस न्यायसे ज्ञानी-जो कि प्रकृतिस्वभावको (कर्मोदय)को अपना न जाननेसे उससे विरक्त है वह-स्वयमेव तो प्रकृतिस्वभावको नहीं भोगता, और उदयकी बलवत्तासे परवश होता हुआ निर्बलतासे भोगता है तो उसे परमार्थसे भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहारसे भोक्ता कहलाता है ।

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता
कड़वे-मधुर बहुभाँतिको, इससे अवेदक है अहा ॥ ३१८ ॥

केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति ....
अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव ।

(वसन्ततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ १९८ ॥

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३१९ ॥

किन्तु व्यवहारका तो यहाँ शुद्धनयके कथनमें अधिकार ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी ही है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—ज्ञानी कर्मको न तो करता है और न भोगता है, वह कर्मके स्वभावको मात्र जानता ही है। इसप्रकार मात्र जानता हुआ करने और भोगनेके अभावके कारण शुद्ध स्वभावमें निश्चल ऐसा वह वास्तवमें मुक्त ही है।

भावार्थः—ज्ञानी कर्मका स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिए वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदयमें आता भी है, फिर भी वह ज्ञानीका क्या कर सकता है? जबतक निर्बलता रहती है तबतक कर्म जोर चला ले; किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्तमें कर्मका समूल नाश करेगा ही। १९८।

अब इसी अर्थको पुनः दृढ़ करते हैं:—

गाथा ३१९

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] ज्ञानी [बहुप्रकाराणि] बहुत प्रकारके [कर्माणि] कर्मोंको [न अपि करोति] न तो करता है, [न अपि वेदयति] और न भोगता ही है; [पुनः] किन्तु [पुण्यं च पापं च] पुण्य और पापरूप [बंधं] कर्मबन्धको [कर्मफलं] तथा कर्मफलको [जानाति] जानता है।

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँतिको ।
बस जानता ये बंध त्यों ही कर्मफल शुभ अशुभको ॥ ३१९ ॥

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ १९९ ॥

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥ ३२१ ॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥ ३२२ ॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोह्णं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ ॥

उद्यम भी है। जब कर्मका अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टिको जो ज्ञानी कहा जाता है सो वह मिथ्यात्वके अभावकी अपेक्षासे कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेषकी अपेक्षा लें तो जबतक किंचित्मात्र भी अज्ञान है तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता—जैसे सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भावोंका वर्णन करते हुए, जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब-तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिये यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्वकी अपेक्षासे ही जानना चाहिये।

अब, जो जैन साधु भी—सर्वथा एकान्तके आशयसे आत्माको कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—जो अज्ञान-अंधकारसे आच्छादित होते हुए आत्माको कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्षके इच्छुक हों तथापि सामान्य (लौकिक) जनोंकी भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती। १९९।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

ज्यों लोक माने "देव, नारक आदि जीव विष्णू करे"।
त्यों श्रमण भी माने कभी, "षट्कायको आत्मा करे" ॥ ३२१ ॥
तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णू करे ज्यों लोकमतमें, श्रमणमत आत्मा करे ॥ ३२२ ॥
इसभाँति लोक मुनी उभयका मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुरके त्रयलोक को नित्यहि करे ॥ ३२३ ॥

लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवल[illegible]त्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं [illegible] विभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न [illegible] केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां [illegible] जानाति ।

(जलाना), और लोहेके गोलेकी भाँति अपनेको (नेत्रको) अग्निका अनुभव [illegible] चाहिये (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थको करता और भोगता हो तो [illegible] जलनी चाहिये और नेत्रको अग्निकी उष्णताका अनुभव अवश्य होना चाहिये; [illegible] नहीं होता, इसलिये नेत्र दृश्य पदार्थका कर्ता-भोक्ता नहीं है)—किन्तु केवल [illegible] भाववाला होनेसे वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी, [illegible] भाँति) देखनेवाला होनेसे, कर्मसे अत्यंत भिन्नताके कारण निश्चयसे [illegible] में असमर्थ होनेसे, कर्मको न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल [illegible] मात्रस्वभाववाला (–जाननेका स्वभाववाला) होनेसे कर्मके बंधको तथा मोक्षको, [illegible] उदयको तथा निर्जराको मात्र जानता ही है ।

भावार्थः—ज्ञानका स्वभाव नेत्रकी भाँति दूरसे जानना है; इसलिये ज्ञानके [illegible] भोक्तृत्व नहीं है । कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है । यहाँ कोई पूछता है कि—“[illegible] केवलज्ञान है । और शेष तो जबतक मोहकर्मका उदय है तबतक सुखदुःखरागादिरूप [illegible] मन होता ही है, तथा जबतक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायका उदय है [illegible] अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होनेसे पूर्व [illegible] कैसे कहा जा सकता है ?” उसका समाधान पहलेसे ही यह कहा जा रहा है कि जो [illegible] तया करता-भोगता है, वह परमार्थसे कर्ता-भोक्ता कहलाता है । इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टित्व [illegible] अज्ञानका अभाव हुआ वहाँ परद्रव्यके स्वामित्वका अभाव हो जाता है और तब जीव [illegible] ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसीका कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलताकी [illegible] उदयकी बलवत्तासे जो कार्य होता है वह परमार्थदृष्टिसे उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता । और उस कार्यके निमित्तसे कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना जाता । मिथ्यात्व है सो ही संसार है । मिथ्यात्वके जानेके बाद संसारका अभाव ही होता है । समुद्रमें एक बूंदकी गिनती ही क्या है ?

और इतना विशेष जानना चाहिये कि—केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनयके अवलम्बनसे आत्माको ऐसा ही अनुभव करते हैं; [illegible] परोक्षका ही भेद है । इसलिये श्रुतज्ञानीको ज्ञान-श्रद्धानकी अपेक्षासे ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्रकी अपेक्षासे प्रतिपक्षी कर्मका जितना उदय है उतना घात है और [illegible]

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ १९९ ॥

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥ ३२१ ॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणइ ॥ ३२२ ॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसइ लोयसमणाण दोह्नं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ ॥

उद्यम भी है। जब कर्मका अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टिको जो ज्ञानी कहा जाता है सो वह मिथ्यात्वके अभावकी अपेक्षासे कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्यकी अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेषकी अपेक्षा लें तो जबतक किंचित्मात्र भी अज्ञान है तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता—जैसे सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भावोंका वर्णन करते हुए, जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब-तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिये यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्वकी अपेक्षासे ही जानना चाहिये।

अब, जो जैन साधु भी—सर्वथा एकान्तके आशयसे आत्माको कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—जो अज्ञान-अंधकारसे आच्छादित होते हुए आत्माको कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्षके इच्छुक हों तथापि सामान्य (लौकिक) जनोंकी भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती। १९९।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

ज्यों लोक माने "देव, नारक आदि जीव विष्णू करे"।
त्यों श्रमण भी माने कभी, "षट्कायको आत्मा करे" ॥ ३२१ ॥
तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णू करे ज्यों लोकमतमें, श्रमणमत आत्मा करे ॥ ३२२ ॥
इसभाँति लोक मुनी उभयका मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुरके त्रयलोक को नित्यहि करे ॥ ३२३ ॥

लोकस्य करोति विष्णुः
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति
लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान्

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति,

गाथा ३२१-३२३,

अन्वयार्थः—[लोकस्य] लोकके (लौकिक जनोंके) तिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्] देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य-प्राणियोंको विष्णु [करोति] करता है; [च] और [यदि] यदि [श्रमणों (मुनियों)के मन्तव्यमें भी [षड्विधान् कायान्] छह [आत्मा] आत्मा [करोति] करता हो [यदि लोकश्रमणानाम्] और श्रमणोंका [एकः सिद्धान्तः] एक ही सिद्धान्त हो गया, [विशेषः उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; (क्योंकि) [लोकस्य] [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है [श्रमणानाम् अपि] और भी [आत्मा] आत्मा [करोति] करता है। (इसलिये कर्तृत्वकी दोनों समान हुए)। [एवं] इसप्रकार, [सदेवमनुजासुरान् लोकान्] और असुर लोकको [नित्यं कुर्वताम्] सदा करते हुए (अर्थात् [illegible] कर्ताभावसे निरंतर प्रवर्तमान) ऐसे [लोकश्रमणानां द्वयेषाम् अपि] वे लोक और श्रमण—दोनोंका भी [कोऽपि मोक्षः] कोई मोक्ष [न दृश्यते] दिखाई नहीं देता।

टीका:—जो आत्माको कर्ता ही देखते—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी [illegible] भाको अतिक्रमण नहीं करते, क्योंकि, लौकिक जनोंके मतमें परमात्मा विष्णु [illegible] कार्य करता है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों)के मतमें अपना आत्मा वे [illegible] प्रकार (दोनोंमें) *अपसिद्धान्तकी समानता है। इसलिये आत्माके [illegible]

* अपसिद्धान्त = मिथ्या अर्थात् भूल भरा सिद्धान्त।

करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात् । ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ।

(अनुष्टुभ्)

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥ २०० ॥

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥३२४॥
जह को वि णरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य हुंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥

मान्यताके कारण, लौकिक जनोंकी भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थः—जो आत्माको कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों तथापि वे लौकिकजन जैसे ही हैं; क्योंकि, लोक ईश्वरको कर्ता मानता है और उन मुनियोंने आत्माको कर्ता माना है-इसप्रकार दोनोंकी मान्यता समान हुई। इसलिये जैसे लौकिक जनोंकी मोक्ष नहीं होती उसीप्रकार उन मुनियोंकी भी मुक्ति नहीं है। जो कर्ता होगा वह कार्यके फलको भी अवश्य भोगेगा और जो फलको भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी ?

अब आगेके श्लोकमें यह कहते हैं कि-"परद्रव्य और आत्माका कोई भी संबंध नहीं है ? इसलिये उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है":—

अर्थः—परद्रव्य और आत्मतत्त्वका (कोई भी) संबंध नहीं है; इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्वके संबंधका अभाव होनेसे, आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कहाँसे हो सकता है ?

भावार्थः—परद्रव्य और आत्माका कोई भी संबंध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म-संबंध कैसे हो सकता है ? इसप्रकार जहाँ कर्ताकर्मसंबंध नहीं है, वहाँ आत्माके परद्रव्यका कर्तृत्व कैसे हो सकता है ? । २०० ।

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्यको मेरा कहे ।
"अणुमात्र भी मेरा न" ज्ञानी जानता निश्चय हि से ॥३२४॥
ज्यों पुरुष कोइ कहे "हमारा ग्राम, पुर अरु देश है" ।
पर वो नहीं उसका अरे ! जीव मोहसे "मेरा" कहे ॥३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवइ एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥ ३२६ ॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोह्न वि एयाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥ ३२७ ॥

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन् जानीयात् दृष्टिरहितानाम् ॥ ३२७ ॥

अब, "जो व्यवहारनयके कथनको ग्रहण करके यह कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है,' और इसप्रकार व्यवहारको ही निश्चय मानकर आत्माको परद्रव्यका कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं," इत्यादि अर्थकी सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित कहते हैं:—

गाथा ३२४–३२७

अन्वयार्थः—[अविदितार्थाः] जिन्होंने पदार्थके स्वरूपको नहीं जाना है ऐसे पुरुष [व्यवहारभाषितेन तु] व्यवहारके वचनोंको ग्रहण करके [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [भणंति] ऐसा कहते हैं, [तु] परन्तु ज्ञानी जन [निश्चयेन जानंति] निश्चयसे जानते हैं कि [किंचित्] 'कोई [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [न च मम] मेरा नहीं है'।

[यथा] जैसे [कः अपि नरः] कोई मनुष्य [अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [जल्पति] इसप्रकार

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्यको।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्यको ॥ ३२६ ॥
इससे "न मेरा" जान जीव, परद्रव्यमें इन उभयकी।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहितकी ॥ ३२७ ॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति; ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति । ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।

कहता है, [तु] किन्तु [तानि] वे [तस्य] उसके [न च भवंति] नहीं हैं, [मोहेन च] मोहसे [सः आत्मा] वह आत्मा [भणति] 'मेरे हैं' इसप्रकार कहता है; [एवम् एव] इसीप्रकार [यः ज्ञानी] जो ज्ञानी भी [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [इति जानन्] ऐसा जानता हुआ [आत्मानं करोति] परद्रव्यको निजरूप करता है, [एषः] वह [निःसंशयं] निःसंदेह अर्थात् निश्चयतः [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [भवति] होता है।

[तस्मात्] इसलिये तत्त्वज्ञ [न मे इति ज्ञात्वा] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [एतेषां द्वयेषाम् अपि] इन दोनोंका (-लोकका और श्रमणका)— [परद्रव्ये] परद्रव्यमें [कर्तृव्यवसायं जानन्] कर्तृत्वके व्यवसाय को जानते हुए, [जानीयात्] यह जानते हैं कि [दृष्टिरहितानाम्] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषोंका है ।

टीकाः—अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहारमें ही विमूढ़) होनेसे परद्रव्यको ऐसा देखते-मानते हैं कि 'यह मेरा है'; ? और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चयके ज्ञाता) होनेसे परद्रव्यकी कणिकामात्रको भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते मानते। इसलिये, जैसे इस जगतमें कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरेके गाँवमें रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इसप्रकार मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकारसे व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्यको 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्यको निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि-'लोक और श्रमण-दोनोंके जो यह परद्रव्यमें कर्तृत्वका व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शन-रहितताके कारण ही है'।

भावार्थः—जो व्यवहारसे मोही होकर परद्रव्यके कर्तृत्वको मानते हैं, वे लौकिकजन

(वसंततिलका)

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ २०१ ॥

(वसंततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ २०२ ॥

हों या मुनिजन हों—मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्यको 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—क्योंकि इस लोकमें एक वस्तुका अन्य वस्तुके साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिये जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ कर्ताकर्मघटना नहीं होती—इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन तत्त्वको (-वस्तुके यथार्थ स्वरूपको) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धामें लाओ कि—कोई किसीका कर्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्ता ही है)। २०१।

"जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभावका नियम नहीं जानते वे अज्ञानी होते हुए कर्मको करते हैं; इसप्रकार भावकर्मका कर्ता अज्ञानसे चेतन ही होता है।"—इस अर्थका, एवं आगामी गाथाओंका सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि:) जो इस वस्तुस्वभावके नियमको नहीं जानते वे बेचारे, जिनका (पुरुषार्थरूप—पराक्रमरूप) तेज अज्ञानमें डूब गया है ऐसे, कर्मको करते हैं; इसलिये भावकर्मका कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं।

भावार्थः—वस्तुके स्वरूपके नियमको नहीं जानता इसलिये परद्रव्यका कर्ता होता हुआ अज्ञानी (-मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभावमें परिणमित होता है; इसप्रकार अपने भावकर्मका कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं। २०२।

अब, '(जीवके) जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका कर्ता कौन है ?'—इस बातकी भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्मका कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं:।

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तम्हा अचेयणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ ॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३२९ ॥
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहि कयं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३३० ॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम् ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥ ३२८ ॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३२९ ॥
अथ जीवस्प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुंजाते तस्य फलम् ॥ ३३० ॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥ ३३१ ॥

गाथा ३२८-३३१

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्व नामक

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वि जो जीवको करे ।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझ मतविषे ! ॥ ३२८ ॥
अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वको ।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गलद्रव्य आत्मा नहिं बने ॥ ३२९ ॥
जो जीव अरु प्रकृती करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको ।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभयको ॥ ३३० ॥
जो प्रकृति नहिं नहिं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्यको ।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो ? ॥३३१॥

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ,

---

(मोहनीय कर्मकी) प्रकृति [आत्मानम्] आत्माको [मिथ्यादृष्टिं] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [ते] तुम्हारे मतमें [अचेतना प्रकृतिः] अचेतन प्रकृति [ननु कारका प्राप्ता] (मिथ्यात्वभावकी) कर्ता हो गई ! (इसलिये मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ !)

[अथवा] अथवा, [एषः जीवः] यह जीव [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यके [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वको [करोति] करता है ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः] पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा !— [न पुनः जीवः] जीव नहीं !

[अथ] अथवा यदि [जीवः तथा प्रकृतिः] जीव और प्रकृति दोनों [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्यको [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वभावरूप [कुरुते] करते हैं ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [द्वाभ्यां कृतं तत्] जो दोनोंके द्वारा किया गया [तस्य फलम्] उसका फल [द्वौ अपि भुंजाते] दोनों भोगेंगे !

[अथ] अथवा यदि [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्यको [मिथ्यात्वम्] मिथ्यास्वभावरूप [न प्रकृतिः कुरुते] न तो प्रकृति करती है [न जीवः] और न जीव करता है (-दोनोंमेंसे कोई नहीं करता) ऐसा माना जाय, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं] पुद्गलद्रव्य स्वभावसे ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा, [तत् तु न खलु मिथ्या] क्या यह वास्तवमें मिथ्या नहीं है ?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभावका—भावकर्मका—कर्ता जीव ही है ।)

टीका:—जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृतिका कार्य हो तो उसे (भावकर्मको) अचेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्यके मिथ्यात्वादि भावकर्मको करे तो पुद्गलद्रव्यको चेतनत्वका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीवकी भाँति अचेतन प्रकृतिको भी उस (-भावकर्म)का फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा । और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्मके अकर्ता हों सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि

स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥ २०३ ॥

वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभावसे ही पुद्गलद्रव्यको मिथ्यात्वादि भावका प्रसंग आ जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि—जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मका कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)।

भावार्थः—इन गाथाओंमें यह सिद्ध किया है कि भावकर्मका कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिये कि—परमार्थसे अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके भावका कर्ता नहीं होता इसलिये जो चेतनके भाव हैं उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। इस जीवके अज्ञानसे जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनयसे उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इसप्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिये उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है। अभेददृष्टिमें तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्मके निमित्तसे परिणमित होता है तब वह उन उन परिणामोंसे युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामीकी भेददृष्टिमें अपने अज्ञानभावरूप परिणामोंका कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टिमें तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिये कि चेतनकर्मका कर्ता चेतन ही है।

अब इस अर्थका फलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसीके द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। और ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनोंकी कृति हो, क्योंकि यदि वह दोनोंका कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृतिको भी अपने कार्यका फल भोगनेका प्रसंग आ जायेगा। और वह (भावकर्म) एक प्रकृतिकी कृति (-अकेली प्रकृतिका कार्य-) भी नहीं है, क्योंकि प्रकृतिका तो अचेतनत्व प्रगट है (अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है)। इसलिये उस भावकर्मका कर्ता जीव ही है और चेतनका अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतनके साथ अन्वयरूप (-चेतनके परिणामरूप-) ऐसा वह भावकर्म जीवका ही कर्म है, क्योंकि पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गलका कर्म नहीं हो सकता)।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥ २०४ ॥

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥ ३३२ ॥

भावार्थः—चेतनकर्म चेतनके ही होता है; पुद्गल जड़ है, इसलिये कैसे हो सकता है? । २०३ ।

अब आगेकी गाथाओंमें, जो भावकर्मका कर्ता भी कर्मको ही मानते हैं उन्हें समझानेके लिये स्याद्वादके अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—कोई आत्माके घातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्मको ही कर्ता विचार कर आत्माके कर्तृत्वको उड़ाकर, 'यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुतिको कोपित करते हैं (-निर्बाध जिनवाणीकी विराधना करते हैं); जिनकी बुद्धि तीव्र मोहसे मुद्रित होगई है ऐसे उन आत्मघातकोंके ज्ञानकी संशुद्धिके लिये (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) वस्तुस्थिति कही जाती है—जिस वस्तुस्थितिने स्याद्वादके प्रतिबन्धसे विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियमसे निर्बाधतया सिद्ध होती है ।

भावार्थः—कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः भावकर्मका कर्ता कर्मको ही कहते हैं और आत्माको अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्माके घातक हैं । उनपर जिनवाणीका कोप है, क्योंकि स्याद्वादसे वस्तुस्थितिको निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्माको कथंचित् कर्ता कहती है । आत्माको अकर्ता ही कहनेवाले एकांतवादियोंकी बुद्धि उत्कट मिथ्यात्वसे ढक गई है; उनके मिथ्यात्वको दूर करनेके लिये आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह निम्नलिखित गाथाओंमें कहते हैं । २०४ ।

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थकी गाथायें अब कहते हैं:—

कर्महि करें अज्ञानि त्योंही ज्ञानि भी कर्महिं करें ।
कर्महि सुलाते जीवको, त्यों कर्म ही जाग्रत करें ॥ ३३२ ॥

कम्मेहि सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहि भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च ।
कम्मेहि चेव किज्जइ सुहासुहं जित्ति यं किंचि ॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥
पुरिसिच्छियाहिलासी इच्छीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥

गाथा ३३२ से ३४४

अन्वयार्थः—"[कर्मभिः तु] कर्म [अज्ञानी क्रियते] (जीवको) अज्ञानी करते हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः ज्ञानी] कर्म (जीवको) ज्ञानी करते हैं, [कर्मभिः स्वाप्यते] कर्म सुलाते हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः जागर्यते] कर्म जगाते हैं, [कर्मभिः सुखी क्रियते] कर्म सुखी करते हैं [तथा एव] उसी तरह

अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीवको करे ।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें ॥ ३३३ ॥
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं ।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्वको कर्महि करे ॥ ३३४ ॥
करता करम, देता करम, हरता करम—सब कुछ करे ।
इस हेतुसे यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है ॥ ३३५ ॥
'पुंकर्म इच्छे नारिको स्त्रीकर्म इच्छे पुरुषको' ।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है ॥ ३३६ ॥
इस रीत 'कर्महि कर्मको इच्छै'–कहा है शास्त्रमें ।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेशमें ॥ ३३७ ॥

जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा
एएणच्छेण किर भणइ परघायणामित्ति ॥
तम्हा ण को वि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवएसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥ ३४० ॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥ ३४१ ॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि।
ण वि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोयमित्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणइ दव्वं ॥ ३४३ ॥

[कर्मभिः दुःखी क्रियते] कर्म दुःखी करते हैं, [कर्मभिः च मिथ्यात्वं नीयते] कर्म मिथ्यात्वको प्राप्त कराते हैं [च एव] और [असंयमं नीयते] कर्म असंयमको प्राप्त

अरु जो हने परको, हनन हो परसे, वोह प्रकृति है।
—इस अर्थमें परघात नामक कर्मका निर्देश है ॥ ३३८ ॥
इसी रीत 'कर्महि कर्मको हनता' कहा है शास्त्रमें।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेशमें ॥ ३३९ ॥
यों सांख्यका उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे।
उस मतसे सब प्रकृती करे जीव तो अकारक सर्व है। ॥ ३४० ॥
अथवा तु माने 'आतमा मेरा स्वआत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे ॥ ३४१ ॥
जीव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समयमें।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके ॥ ३४२ ॥
विस्तारसे जीवरूप जीवका, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्यको कैसे करे ॥ ३४३ ॥

अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थि इत्ति मयं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥ ३४४ ॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥ ३३२ ॥
कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित् ॥ ३३४ ॥
यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित्।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥ ३३५ ॥
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६ ॥

कराते हैं, [कर्मभिः] कर्म [ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोकमें [भ्राम्यते] भ्रमण कराते हैं, [यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है वह सब [कर्मभिः च एव क्रियते] कर्म ही करते हैं। [यस्मात्] इसलिये [कर्म करोति] कर्म करता है, [कर्म ददाति] कर्म देता है, [हरति] कर्म हर लेता है—[इति यत्किंचित्] इसप्रकार जो कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है, [तस्मात् तु] इसलिये [सर्वजीवाः] सभी जीव [अकारकाः आपन्नाः भवंति] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं।

और, [पुरुषः] पुरुषवेदकर्म [स्त्र्यभिलाषी] स्त्रीका अभिलाषी है [च] और [स्त्रीकर्म] स्त्रीवेदकर्म [पुरुषम् अभिलषति] पुरुषकी अभिलाषा करता है— [एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशी तु श्रुतिः] ऐसी यह आचार्यकी परम्परासे आई हुई श्रुति है; [तस्मात्] इसलिये [अस्माकम् उपदेशे तु] हमारे उपदेशमें तो

माने तुँ 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमाको नहिं करे ॥ ३४४ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ॥ ३३७ ॥
यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥ ३३८ ॥
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम् ॥ ३३९ ॥
एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३४० ॥

[कः अपि जीवः] कोई भी जीव [अब्रह्मचारी न] अब्रह्मचारी नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म अभिलषति] कर्मकी अभिलाषा करता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है।

और, [यस्मात् परं हंति] जो परको मारता है [च] और [परेण हन्यते] जो परके द्वारा मारा जाता है [सा प्रकृतिः] वह प्रकृति है—[एतेन अर्थेन किल] इस अर्थमें [परघातनाम इति भण्यते] परघातनामकर्म कहा जाता है, [तस्मात्] इसलिये [अस्माकम् उपदेशे] हमारे उपदेशमें [कः अपि जीवः] कोई भी जीव [उपघातकः न अस्ति] उपघातक (मारनेवाला) नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म हंति] कर्मको मारता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है।"

(आचार्यदेव कहते हैं कि:—) [एवं तु] इसप्रकार [ईदृशं सांख्योपदेशं] ऐसा सांख्यमतका उपदेश [ये श्रमणाः] जो श्रमण (जैन मुनि) [प्ररूपयंति] प्ररूपित करते हैं [तेषां] उनके मतमें [प्रकृतिः करोति] प्रकृति ही करती है [आत्मानः च सर्वे] और आत्मा तो सब [अकारकाः] अकारक है ऐसा सिद्ध होता है !

[अथवा] अथवा (कर्तृत्वका पक्ष सिद्ध करनेके लिये) [मन्यसे] यदि तुम यह मानते हो कि '[मम आत्मा] मेरा आत्मा [आत्मनः] अपने [आत्मानम्] (द्रव्यरूप) आत्माको [करोति] करता है,' [एतत् जानतः तव] तो ऐसा जानने

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्जानतः ॥ ३४१ ॥
आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥ ३४२ ॥
जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम् ॥ ३४३ ॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥ ३४४ ॥

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव

बालेका–तुम्हारा [एषः मिथ्यास्वभावः] यह मिथ्यात्वभाव है; [यद्] क्योंकि— [समये] सिद्धान्तमें [आत्मा] आत्माको [नित्यः] नित्य, [असंख्येयप्रदेशः] असंख्यात–प्रदेशी [दर्शितः तु] बताया गया है, [ततः] उससे [सः] वह [हीनः अधिकः च] हीन या अधिक [कर्तुं न अपि शक्यते] नहीं किया जा सकता; [विस्तरतः] और विस्तारसे भी [जीवस्य जीवरूपं] जीवका जीवरूप [खलु] निश्चयसे [लोकमात्रं जानीहि] लोकमात्र जानो; [ततः] उससे [किं सः हीनः अधिकः वा] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है ? [द्रव्यम् कथं करोति] तब फिर (आत्मा) द्रव्यको (अर्थात् द्रव्यरूप आत्माको) कैसे करता है ?

[अथ] अथवा यदि '[ज्ञायकः भावः तु] ज्ञायक भाव तो [ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति] ज्ञानस्वभावसे स्थित रहता है' [इति मतम्] ऐसा माना जाये, [तस्मात् अपि] तो इससे भी [आत्मा स्वयं] आत्मा स्वयं [आत्मनः आत्मानं तु] अपने आत्माको [न करोति] नहीं करता यह कहलायेगा !

(इसप्रकार कर्तृत्वको सिद्ध करनेके लिये विवक्षाको बदलकर जो पक्ष कहा है वह घटित नहीं होता ।)

(इसप्रकार, यदि कर्मका कर्ता कर्म ही माना जाये तो स्याद्वादके साथ विरोध आता है; इसलिये आत्माको अज्ञान अवस्थामें कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्मका कर्ता मानना चाहिये, जिससे स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता ।)

टीका:—(यहाँ पूर्वपक्ष इसप्रकार है:—) "कर्म ही आत्माको अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके उदयके बिना उसकी (अज्ञानकी) अनुपपत्ति है; कर्म ही

स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः।
क्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव सुखयति,
कर्मैव दुःखयति, असद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः।
मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति,
मंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति,
तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि
प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं
करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः
निश्चिनुमः। किंच-श्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुंवेदाख्यं कर्म

(आत्माको) ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्मके क्षयोपशमके बिना [illegible] अनुपपत्ति है; कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्मके उदयके बिना उसकी [illegible] है, कर्म ही जगाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमके बिना उसकी [illegible] कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्मके उदयके बिना उसकी [illegible] कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्मके उदयके बिना उसकी [illegible] है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्मके उदयके बिना उसकी [illegible] कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्मके उदयके बिना उसकी [illegible] है, कर्म ही ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिर्यग्लोकमें भ्रमण कराता है, क्योंकि [illegible] नामक कर्मके उदयके बिना उसकी अनुपपत्ति है, दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ [illegible] वह सब कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्मके उदयके बिना [illegible] अनुपपत्ति है। इसप्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिये हम यह निश्चय करते हैं कि—सभी जीव सदा एकांतसे अकर्ता ही हैं। और श्रुति (भगवानकी वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थको कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुषकी अभिलाषा करता है' इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मकी अभिलाषाके कर्तृत्वके समर्थन द्वारा जीवके [illegible] कर्तृत्वका निषेध करती है, तथा जो परको हनता है और परके द्वारा हना जाता है वह [illegible] कर्म है' इस वाक्यसे कर्मको ही कर्मके घातका कर्तृत्व होनेके समर्थन द्वारा जीवके [illegible] कर्तृत्वका निषेध करती है, और इसप्रकार (अब्रह्मचर्य तथा घातके कर्तृत्वके निषेध द्वारा) जीवका सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।"

(आचार्यदेव कहते हैं कि—) इसप्रकार ऐसे सांख्यमतको, अपनी [illegible] (बुद्धि)

पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलापकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हंति येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात् । एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति; तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम् । यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव । जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च । तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं, कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात् । न चावस्थितासंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात् । न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचनविकाशनयोरपि

के अपराधसे सूत्रके अर्थको न जाननेवाले कुछ *श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी, एकान्तसे प्रकृतिके कर्तृत्वकी मान्यतासे, समस्त जीवोंके एकान्तसे अकर्तृत्व आ जाता है इसलिये 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवानकी वाणीकी विराधना होती है)। और, 'कर्म आत्माके अज्ञानादि सर्व भावोंको—जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें—करता है, और आत्मा तो आत्माको ही एकको द्रव्यरूपको करता है इसलिये जीव कर्ता है; इसप्रकार श्रुतिका कोप नहीं होता'—ऐसा जो अभिप्राय है सो मिथ्या है।

(इसीको समझाते हैं:—) जीव तो द्रव्यरूपसे नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें प्रथम, नित्यका कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्वके और नित्यत्वके एकत्वका विरोध है। (आत्मा नित्य है इसलिये वह कृतक अर्थात् किसीके द्वारा किया गया नहीं हो सकता।) और अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा)को पुद्गल-स्कन्धकी भाँति, प्रदेशोंके प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशोंका प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्वका व्याघात हो जायेगा। (स्कन्ध अनेक परमाणुओंका बना हुआ है, इसलिये उसमेंसे परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यात-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है इसलिये वह अपने प्रदेशोंको निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशोंको ले नहीं सकता।) और सकल लोकरूपी घरके विस्तारसे

* श्रमणाभास = मुनिके गुण नहीं होने पर भी अपनेको मुनि कहलानेवाले।

स्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन
तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता
च मिथ्यात्वादिभावाः, ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः
रामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव। ततो ज्ञायकस्य भावस्य
ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां

परिमित जिसका निश्चित् निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना
है) उसके (-आत्माके) प्रदेशोंके संकोच-विकास द्वारा भी कर्तृत्व नहीं बन सकता;
प्रदेशोंके संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़ेकी भाँति,
कारण उसे (आत्माको) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इसप्रकार आत्माके
आत्माका कर्तृत्व नहीं बन सकता।) और, "वस्तुस्वभावका सर्वथा मिटना
ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभावसे ही सदा स्थित रहता है और इसप्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व
और कर्तृत्वके अत्यन्त विरुद्धता होनेसे, मिथ्यात्वादि भावोंका कर्ता नहीं होता; और मिथ्या-
त्वादि भाव तो होते हैं; इसलिये उनका कर्ता कर्म ही है इसप्रकार प्ररूपित किया जाता है"—
ऐसी जो वासना (अभिप्राय झुकाव) प्रगट की जाती है वह भी 'आत्मा आत्माको करता है'
इस (पूर्वोक्त) मान्यताका अतिशयता पूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक माननेसे
आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।

इसलिये, ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षासे ज्ञानस्वभावसे अवस्थित होने पर भी, कर्मसे
उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावोंके ज्ञानके समय, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानसे
शून्य होनेसे, परको आत्माके रूपमें जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षासे अज्ञान-
रूप ज्ञानपरिणामको करता है (—अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञानका परिणमन उसको करता है),
इसलिए, उसके कर्तृत्वको स्वीकार करना चाहिए, वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञानके
प्रारम्भसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानसे पूर्ण (भेद विज्ञान सहित) होनेके कारण आत्माको
ही आत्माके रूपमें जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप ही ज्ञान-
परिणामसे परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञातृत्वके कारण साक्षात् अकर्ता हो।

भावार्थ—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणीको भलीभाँति न समझ कर
सर्वथा एकान्तका अभिप्राय करते हैं और विवक्षाको बदलकर यह कहते हैं कि—"आत्मा तो
भावकर्मका अकर्ता ही है, कर्मप्रकृतिका उदय ही भावकर्मको करता है, अज्ञान, ज्ञान, सोना,
जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियोंमें भ्रमण—इन सबको, तथा जो कुछ भी

भेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं; तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्।

(शार्दूलविक्रीडित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः।

शुभ-अशुभ भाव है उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।" और वे मुनि शास्त्रका भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि—"वेदके उदयसे स्त्री-पुरुषका विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृतिके उदयसे परस्पर घात होता है।" इसप्रकार, जैसे सांख्यमतावलम्बी सब कुछ प्रकृतिका ही कार्य मानते हैं और पुरुषको अकर्ता मानते हैं उसीप्रकार, अपनी बुद्धिके दोषसे इन मुनियोंकी भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वाद-रूप है, अतः सर्वथा एकान्तको माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणीका कोप अवश्य होता है। जिनवाणीके कोपके भयसे यदि वे विवक्षाको बदलकर यह कहें कि—"भावकर्मका कर्ता कर्म है और अपने आत्माका (अर्थात् अपनेको) कर्ता आत्मा है, इसप्रकार हम आत्माको कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणीका कोप नहीं होता;" तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्यसे नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्मको ही कहते हैं; इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा! तब फिर वाणीका कोप कैसे मिट गया? इसलिये आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वकी विवक्षाको यथार्थ मानना ही स्याद्वादको यथार्थ मानना है। आत्माके कर्तृत्व-अकर्तृत्वके संबंधमें सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है:—

आत्मा सामान्य अपेक्षासे तो ज्ञानस्वभावमें ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावोंको जानते समय, अनादि कालसे ज्ञेय और ज्ञानके भेदविज्ञानके अभावके कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावोंको आत्माके रूपमें जानता है, इसलिए इसप्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणामको करनेसे कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होनेसे आत्माको ही आत्माके रूपमें जानता है तब विशेष अपेक्षासे भी ज्ञानरूप परिणाममें ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहनेसे साक्षात् अकर्ता है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—यह आर्हत् मतके अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्माको, सांख्यमतियोंकी भाँति, (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान होनेसे पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो, और भेदविज्ञान

ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।

होनेके बाद उद्धत *ज्ञानधाम (ज्ञानमंदिर, ज्ञानप्रकाश)में निश्चित इस
कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही देखो ।

भावार्थ:—सांख्यमतावलम्बी पुरुषको सर्वथा एकान्तसे अकर्ता,
चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा माननेसे पुरुषको संसारके अभावका प्रसंग
प्रकृतिको संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है,
दुःखादिका संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा ? ऐसे अनेक दोष
सर्वथा एकान्त वस्तुका स्वरूप ही नहीं है। इसलिये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और
भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं
भाँति जैन आत्माको सर्वथा अकर्ता न मानें; जबतक स्व-परका भेदविज्ञान न हो
उसे रागादिका—अपने चेतनरूप भावकर्मोंका—कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होनेके
विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्वके भावसे रहित, एक ज्ञाता ही मानो। इसप्रकार एक ही
कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व—ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत [illegible]
है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) [illegible]
पुरुषको संसार-मोक्ष आदिकी सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त माननेसे सर्व [illegible]
का लोप होता है। २०५।

आगेकी गाथाओंमें, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा माननेवाले क्षणिकवादी
बौद्धमतियोंकी सर्वथा एकान्त मान्यतामें दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार [illegible]
स्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है उसप्रकार कहेंगे। उन गाथाओंका सूचक [illegible]
कहते हैं—

अर्थ:—इस जगतमें कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) इस [illegible]
क्षणिक कल्पित करके अपने मनमें कर्ता और भोक्ताका भेद करते हैं (—कर्ता अन्य है और
भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); उनके मोहको (अज्ञानको) यह चैतन्यचमत्कार ही [illegible]
नित्यतारूप अमृतके ओघ (—समूह)के द्वारा अभिसिंचन करता हुआ, दूर करता है।

भावार्थ:—क्षणिकवादी कर्ता-भोक्तामें भेद मानते हैं, अर्थात् वे यह मानते हैं कि
प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वह दूसरे क्षणमें नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं

अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥ २०६ ॥

(अनुष्टुभ्)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥ २०७ ॥

क्या समझायें ? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा—जो कि अनुभवगोचर, नित्य है। प्रथम क्षणमें जो आत्मा था वही द्वितीय क्षणमें कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इस-प्रकारका स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्माकी नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि—'जो प्रथम क्षणमें था वही मैं दूसरे क्षणमें हूँ' ऐसा मानना सो तो अनादिकालीन अविद्यासे भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो, और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—"हे बौद्ध ! तू यह जो तर्क करता है उस सम्पूर्ण तर्कको करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्कको एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मान कर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होनेतक अनेक आत्मा बदल जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्कको तो कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करनेका क्या प्रयोजन है* ? यों अनेक प्रकारसे विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्माको क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञानको भ्रम कह देना यथार्थ नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि—आत्माको एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं वही सत्यार्थ है।" २०६।

पुनः क्षणिकवादका युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ, और आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वृत्त्यंशोंके अर्थात् पर्यायके भेदके कारण 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पनाके द्वारा ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो कि—'अन्य करता है और अन्य भोगता है'।

भावार्थः—द्रव्यकी पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं इसलिये बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य

---

*यदि यह कहा जाये कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ताजाता है' तो यह भी यथार्थ नहीं है; यदि आत्मा नष्ट हो जाये तो आधारके बिना संस्कार कैसे रह सकता है ? और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाये, तो भी उस आत्माके संस्कार दूसरे आत्मामें प्रविष्ट हो जायें ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।

केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिचि दु
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥
केहिचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिचि दु
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६
जो चेव कुणइ सो चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो॥ ३४७ ॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ॥
यस्माद्यस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४५ ॥
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्माद्यस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४६ ॥

ही सर्वथा नष्ट होता है'। ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थका ही [illegible] हो जाये तो पर्याय किसके आश्रयसे होगी ? इसप्रकार दोनोंके नाशका प्रसंग आनेसे [illegible] प्रसंग आता है। २०७।

अब निम्नलिखित गाथाओंमें अनेकान्तको प्रगट करके क्षणिकवादका स्पष्टतया निषेध करते हैं:—

पर्याय कुछसे नष्ट जीव, कुछसे न जीव विनष्ट है।
इससे करै है वो हि या को अन्य—नहिं एकान्त है ॥ ३४५ ॥
पर्याय कुछसे नष्ट जीव, कुछसे न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदै वो हि या को अन्य—नहिं एकान्त है ॥ ३४६ ॥
जीव जो करै वह भोगता नहिं—जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४७॥
जीव अन्य करता, अन्य वेदे—जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंतके मतका नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४८ ॥

यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४७ ॥
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति कैश्चित्तु न विनश्यतीति

गाथा ३४५–३४८

अन्वयार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायोंसे [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायोंसे [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [सः वा करोति] '(जो भोगता है) वही करता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही करता है' [न एकान्तः] ऐसा एकान्त नहीं है (–स्याद्वाद है)।

[यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायोंसे [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायोंसे [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिये [सः वा वेदयते] '(जो करता है) वही भोगता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [न एकान्तः] ऐसा एकान्त नहीं है (–स्याद्वाद है)।

'[यः च एव करोति] जो करता है [सः च एव न वेदयते] वही नहीं भोगता' [एषः यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि, [अनार्हतः] अनार्हत (अर्हंतके मतको न माननेवाला) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

'[अन्यः करोति] दूसरा करता है [अन्यः परिभुंक्ते] और दूसरा भोगता है' [एषः यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि, [अनार्हतः] अनार्हत (–अजैन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये।

टीकाः—जीव, प्रतिसमय संभवते (–होनेवाले) अगुरुलघुगुणके परिणाम द्वारा क्षणिक होनेसे और अचलित चैतन्यके अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होनेसे, कितनी ही पर्यायोंसे

द्विस्वभावो जीवस्वभावः । ततो य एव करोति स एवान्यो वा स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांतः । एवमनेकांतेऽपि परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्यः करोति अन्यो स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात् ।

विनाशको प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायोंसे नहीं विनाशको प्राप्त होता दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है; इसलिये 'जो करता है वही भोगता है' अथवा भोगता है' 'जो भोगता है वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है'—ऐसा है। इसप्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, सत्त्व है, इसलिये वही वस्तु है' इसप्रकार वस्तुके अंशमें वस्तुत्वका अध्यास करके लोभसे ऋजुसूत्रनयके एकान्तमें रहकर जो यह देखता-मानता है कि "जो करता है भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है," उस जीवको मिथ्यादृष्टि ही चाहिये; क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंगमें प्रतिभासित होता है।

भावार्थ:—वस्तुका स्वभाव जिनवाणीमें द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वादसे ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्यायकी अपेक्षासे तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है। जीव भी वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायस्वरूप है, इसलिये, पर्यायदृष्टिसे देखा जाये तो कार्यको करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे—मनुष्यपर्यायमें शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवपर्यायमें भोगा। यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो, जो करता है वही भोगता है, जैसे कि—मनुष्यपर्यायमें जिस जीवद्रव्यने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्यने देवादि पर्यायमें स्वयं किये गये कर्मके फलको भोगा।

इसप्रकार वस्तुस्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनयको समझे बिना शुद्धनयके लोभसे वस्तुके एक अंशको (—वर्तमान कालमें वर्तती पर्यायको) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनयके विषयका एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता—अन्य भोगता है, और जो भोगता है वही नहीं करता—अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्तके मतका नहीं है, क्योंकि, पर्यायोंका क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है, प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ।। २०८ ।।

अवस्थामें था वही मैं तरुण अवस्थामें था और वही मैं वृद्ध अवस्थामें हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूपसे अनुभवगोचर है—स्वसंवेदनमें आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धबौद्धोंने कालकी उपाधिके कारण भी आत्मामें अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्तिको प्राप्त होकर, शुद्ध ऋजुसूत्र-नयमें रत होते हुए चैतन्यको क्षणिक कल्पित करके, इस आत्माको छोड़ दिया; जैसे हारके सूत्र (डोरे)को न देखकर मात्र मोतियोंको ही देखनेवाले हारको छोड़ देते हैं।

भावार्थः—आत्माको सम्पूर्णतया शुद्ध माननेके इच्छुक बौद्धोंने विचार किया कि "यदि आत्माको नित्य माना जाये तो नित्यमें कालकी अपेक्षा होती है इसलिये उपाधि लग जायेगी; इसप्रकार कालकी उपाधि लगनेसे आत्माको बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।" इस दोषके भयसे उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (-क्षणिक ही) आत्माको माना और उसे (आत्माको) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना। इसप्रकार आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेसे उन्हें नित्यानित्यस्वरूप—द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्माकी प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्यायमें आत्माकी कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

मोतियोंके हारमें, डोरेमें अनेक मोती पिराये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तुको मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता—मात्र मोतियोंको ही देखता है, वह पृथक् पृथक् मोतियोंको ही ग्रहण करता है, हारको छोड़ देता है; अर्थात् उसे हारकी प्राप्ति नहीं होती। इसीप्रकार जो जीव आत्माके एक चैतन्यभावको ग्रहण नहीं करते और समय समय पर वर्तना-परिणामरूप उपयोगकी प्रवृत्तिको देखकर आत्माको अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनयका विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र ही आत्माको मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्माको द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते—मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्माको छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। २०८।

अब इस काव्यमें आत्मानुभव करनेको कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वे

(रथोद्धता)

व्यवहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते
कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ २१० ॥

अर्थ:—कर्ताका और भोक्ताका युक्तिके वशसे भेद हो या
भोक्ता दोनों न हों; वस्तुका ही अनुभव करो। जैसे चतुर पुरुषोंके द्वारा डोरेमें
मणियोंकी माला भेदी नहीं जा सकती, उसीप्रकार आत्मामें पिरोई गई
मणिकी माला भी कभी किसीसे भेदी नहीं जा सकती; ऐसी यह आत्मारूपी माला [illegible]
हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदिके विकल्प [illegible]
आत्माका निर्विकल्प अनुभव हो)।

भावार्थ:—वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक अनन्त-धर्मवाली है। उसमें विवक्षावश कर्तृत्व-
भोक्तृत्वका भेद है और नहीं भी है। अथवा कर्ता-भोक्ताका भेदाभेद किसलिये कहना
चाहिये? केवल शुद्ध वस्तुमात्रका उसके असाधारण धर्म द्वारा अनुभव करना चाहिए। इसी
प्रकार आत्मा भी वस्तु होनेसे द्रव्यपर्यायात्मक है, इसलिये उसमें चैतन्यके परिणमनस्वरूप
पर्यायके भेदोंकी अपेक्षासे तो कर्ता-भोक्ताका भेद है और चिन्मात्र द्रव्यकी अपेक्षासे भेद नहीं
है; इसप्रकार भेद-अभेद हो अथवा चिन्मात्र अनुभवनमें भेद-अभेद क्यों कहना चाहिये?
(आत्माको) कर्ता-भोक्ता हो न कहना चाहिए, वस्तुमात्रका अनुभव करना चाहिए। जैसे
मणियोंकी मालामें मणियोंकी और डोरेकी विवक्षासे भेद-अभेद है परन्तु मालामात्रके ग्रहण
करने पर भेदाभेद-विकल्प नहीं है, इसीप्रकार आत्मामें पर्यायोंकी और द्रव्यकी विवक्षासे
भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्रका अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं
कि—ऐसा निर्विकल्प आत्माका अनुभव हमें प्रकाशमान हो। २०९।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; यदि
निश्चयसे वस्तुका विचार किया जाये, तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३४९ ॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५० ॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५१ ॥
जह सिप्पि उ कम्मफलं भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५२ ॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥

भावार्थः—मात्र व्यवहार-दृष्टिसे ही भिन्न द्रव्योंमें कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चय-दृष्टिसे तो एक ही द्रव्यमें कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है । २१० ।

अब इस कथनको दृष्टान्तद्वारा गाथामें कहते हैं:—

गाथा ३४९-३५५

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [कर्म] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [करोति] करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च

ज्यों शिल्पि कर्म करे परंतु वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों कर्मको आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३४९ ॥
ज्यों शिल्पि करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों जीव करणोंसे करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५० ॥
ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परंतु वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों जीव करणोंको ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५१ ॥
शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ॥३५२॥
—इस भाँति मत व्यवहारका संक्षेपसे वक्तव्य है ।
सुन लो वचन परमार्थका, परिणामविषयक जो हि है ॥३५३॥

जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो
जइ चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ
तत्तो सिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥
यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३५०
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥ ३५१
यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥ ३५२ ॥

भवति] तन्मय (कुण्डलादिमय) नही होता, [तथा] उसीप्रकार [[illegible] च] जीव भी [कर्म] पुण्य–पापादि पुद्‌गल कर्म [करोति] करता है [[illegible] तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्‌गलकर्ममय) नहीं होता । [यथा] [illegible] [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न [illegible]] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नही होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] [illegible] [करणैः] (मन-वचन-कायरूप) करणोके द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (मन-वचन-कायरूप करणमय) नहीं होता । [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणानि] करणोंको [गृह्णाति] ग्रहण करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [करणानि तु] करणोंको [गृह्णाति]

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है ।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है ॥ ३५४ ॥
चेष्टित हुआ शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है ।
अरु दुखसे शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने ॥ [illegible] ॥

एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३५३ ॥
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३५४ ॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३५५ ॥

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्य-

---

ग्रहण करता है [न च तन्मयः भवति] परंतु तन्मय (करणमय) नहीं होता । [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] कुण्डल आदि कर्मके फलको (खान-पानादिको) [भुंक्ते] भोगता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (खानपानादिमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [कर्मफलं] पुण्यपापादि पुद्‌गलकर्मके फलको (पुद्‌गलपरिणामरूप सुख-दुःखादिको) [भुंक्ते] भोगता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्‌गल-परिणामरूप सुखदुःखादिमय) नहीं होता ।

[एवं तु] इसप्रकार तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहारका मत [समासेन] संक्षेपसे [वक्तव्यं] कहनेयोग्य है । [निश्चयस्य वचनं] (अब) निश्चयका वचन [शृणु] सुनो [यत] जो कि [परिणामकृतं तु भवति] परिणाम विषयक है ।

[यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [चेष्टां करोति] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप कर्म)को करता है [तथा च] और [तस्याः अनन्यः भवति] उससे अनन्य है, [तथा] उसीप्रकार [जीवः अपि च] जीव भी [कर्म करोति] (अपने परिणामरूप) कर्मको करता है [च] और [तस्मात् अनन्यः भवति] उससे अनन्य है । [यथा] जैसे [चेष्टां कुर्वाणः] चेष्टारूप कर्म करता हुआ [शिल्पिकः तु] शिल्पी [नित्यदुःखितः भवति] नित्य दुःखी होता है [तस्मात् च] और उससे (दुःखसे) [अनन्यः स्यात्] अनन्य है, [तथा] उसी प्रकार [चेष्टमानः] चेष्टा करता हुआ (अपने परिणामरूप कर्मको करता हुआ) [जीवः] जीव [दुःखी] दुःखी होता है (और दुःखसे अनन्य है) ।

टीकाः—जैसे—शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्यपरिणामात्मक कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य

परिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति,
भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो
नैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः।
पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः
करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि
सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च,
ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो
कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी
आत्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं
भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः
णामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षु [illegible]

परिणामात्मक करणोंको ग्रहण करता है, और कुण्डल आदि कर्मका जो ग्रामादि परद्रव्यपरि-णामात्मक फल उसको भोगता है, किन्तु अनेकद्रव्यत्वके कारण उनसे (कर्म, करण आदिसे) अन्य होनेसे तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता, इसलिये निमित्तनैमित्तिकभावमात्रसे ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्वका और भोक्ता-भोग्यत्वका व्यवहार है; इसीप्रकार—आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक (–पुद्गलद्रव्यके परिणामस्वरूप) कर्मको करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणोंके द्वारा करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणोंको ग्रहण करता है और पुण्यपापादि कर्मके सुख-दुःखादि पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक फलको भोगता है, परन्तु अनेकद्रव्यत्वके कारण उनसे अन्य होनेसे तन्मय नहीं होता; इसलिये निमित्त-नैमित्तिकभावमात्रसे ही वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्तृत्व-भोग्यत्वका व्यवहार है।

और जैसे,—वही शिल्पी, करनेका इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करनेके अपने परिणामरूप और हस्तादिके व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्मको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके स्वपरिणामात्मक फलको भोगता है, और एक-द्रव्यत्वके कारण उनसे (कर्म और कर्मफलसे) अनन्य होनेसे तन्मय (–कर्ममय और कर्म-फलमय) है; इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे वहीं कर्ता–कर्मपनका और भोक्ता-भोग्यपनका निश्चय है; उसीप्रकार—आत्मा भी, करनेका इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (–रागादिपरिणाम-रूप और प्रदेशोंके व्यापाररूप) ऐसा जो आत्मपरिणामात्मक कर्मको करता है तथा दुःख-

मात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ।

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ।। २११ ।।

(पृथ्वी)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ।। २१२ ।।

स्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्मके आत्मपरिणामात्मक फलको भोगता है, और एकद्रव्यत्वके कारण उनसे अनन्य होनेसे तन्मय है; इसलिये परिणाम-परिणामीभावसे वहीं कर्ता-कर्मपनका और भोक्ता-भोग्यपनका निश्चय है।

अब, इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—वास्तवमें परिणाम ही निश्चयसे कर्म है, और परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीका ही होता है, अन्यका नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय नहीं होता); और कर्म कर्ताके बिना नहीं होता, तथा वस्तुकी एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होनेसे सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मकी कर्ता है (-यह निश्चित सिद्धान्त है) । २११ ।

अब आगे की गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है ऐसी वस्तु अन्य वस्तुके बाहर यद्यपि लोटती है तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तुके भीतर प्रवेश नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएं अपने अपने स्वभावमें निश्चित हैं ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि—) ऐसा होने पर भी, मोहित जीव, अपने स्वभावसे चलित होकर आकुल होता हुआ, क्यों क्लेश पाता है ?

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्
निश्चयोऽयमपरो परस्य कः
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥

(रथोद्धता)

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किंचनापि परिणामिनः स्वयम् ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१४ ॥

भावार्थः—वस्तुस्वभाव तो नियमसे ऐसा है कि किसी वस्तुमें कोई वस्तु ऐसा होने पर भी, यह मोही प्राणी, 'परज्ञेयोंके साथ अपनेको पारमार्थिक मान कर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है। २१२।

पुनः आगेकी गाथाओंका सूचक दूसरा काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस लोकमें एक वस्तु अन्य वस्तुकी नहीं है, इसलिये वास्तवमें वस्तु है—यह निश्चय है। ऐसा होनेसे कोई अन्य वस्तु अन्य वस्तुके बाहर लोटती हुई भी क्या कर सकती है ?

भावार्थः—वस्तुका स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तुको नहीं बदल सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तुका वस्तुत्व ही न रहे। इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्यको परिणमित नहीं कर सकती वहाँ एक वस्तुने अन्यका क्या किया ? कुछ नहीं। चेतन-वस्तुके साथ पुद्गल एक-क्षेत्रावगाहरूपसे रह रहे हैं तथापि वे चेतनको जड़ बनाकर अपनेरूपमें परिणमित नहीं कर सके; तब फिर पुद्गलने चेतनका क्या किया ? कुछ भी नहीं।

इससे यह समझना चाहिये कि—व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायकका कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्योंका कुछ भी नहीं कर सकता। २१३।

अब, इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला तीसरा काव्य कहते हैं:—

अर्थः—एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तुका कुछ भी कर सकती है—ऐसा जो माना जाता है वह व्यवहारदृष्टि से ही माना जाता है। निश्चयसे इस लोकमें अन्य वस्तुको अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (अर्थात् एक वस्तु को अन्य वस्तुके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है)।

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥

भावार्थः—एक द्रव्यके परिणमनमें अन्य द्रव्यको निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्यने यह किया', सो यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही है; निश्चयसे तो उस द्रव्यमें अन्य द्रव्यने कुछ भी नहीं किया है। वस्तुके पर्यायस्वभावके कारण वस्तुका अपनी ही एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

इससे यह समझना चाहिये कि—परद्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ उनके भावसे परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक दूसरेका परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह व्यवहारसे ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्योंको जानता है' निश्चयसे ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है। २१४।

('खड़िया मिट्टी अर्थात् पोतनेका चूना या कलई तो खड़िया मिट्टी ही है'—यह निश्चय है; 'खड़िया-स्वभावरूपसे परिणमित खड़िया दीवाल-स्वभावरूप परिणमित दीवालको सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है। इसीप्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है; 'ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणत परद्रव्योंको जानता है' यह कहना भी व्यवहारकथन है।) ऐसे निश्चय-व्यवहार कथनको अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट कहते हैं:—

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्यका, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥ ३५६॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्यका, दर्शक अहो दर्शक तथा॥ ३५७॥
ज्यों सेटिका नहीं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्यका, संयत अहो संयत तथा॥ ३५८॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सइ जीवो वि सयेण भावेण ॥ ३६२ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहइ णाया वि सयेण भावेण ॥ ३६३ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ ॥

गाथा ३५६ से ३६५

अन्वयार्थः—(यद्यपि व्यवहारसे परद्रव्योंका और आत्माका ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक इत्यादि संबंध है, तथापि निश्चयसे तो इसप्रकार है:—) [यथा]

ज्यों सेटिका नहिं अन्यकी, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्यका, दर्शन अहो दर्शन तथा ॥ ३५९ ॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरितविषयक कथन नय परमार्थका।
सुनलो वचन संक्षेपसे, इस विषयमें व्यवहारका ॥ ३६० ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्यको निज भावसे ॥ ३६१ ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे।
आत्मा भी त्यों ही देखता परद्रव्यको निजभावसे ॥ ३६२ ॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका परद्रव्य आप स्वभावसे।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्यको निज भावसे ॥ ३६३ ॥

एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥ ३६५ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३५६ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३५७ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥ ३५८ ॥

जैसे [सेटिका तु] खड़िया मिट्टी या पोतनेका चूना या कलई [परस्य न] परकी (-दीवाल-आदिकी) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [ज्ञायकः तु] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका (परद्रव्यका) नहीं है, [ज्ञायकः] ज्ञायक [सः तु ज्ञायकः] वह तो ज्ञायक ही है। [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [दर्शकः तु] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका नहीं है, [दर्शकः] दर्शक [सः तु दर्शकः] वह तो दर्शक ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी (दीवाल-आदिकी) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसीप्रकार [संयतः तु] संयत (त्याग करनेवाला, आत्मा) [परस्य न] परका (-परद्रव्यका) नहीं है, [संयतः] संयत [सः तु संयतः] यह तो संयत ही है। [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] परकी नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] यह तो कलई ही है, [तथा]

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभावसे ।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्यको निज भावसे ॥ ३६४ ॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरितमें निर्णय कहा व्यवहारका ।
अरु अन्य पर्यय विषयमें भी इस प्रकार हि जानना ॥३६५॥

एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥ ३६५ ॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम् । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वा-द्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति

अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [विजहाति] त्यागता है। [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसीप्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [स्वभावेन] अपने स्वभावसे [परद्रव्यं] परद्रव्यको [श्रद्धत्ते] श्रद्धान करता है। [एवं तु] इसप्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान-दर्शन-चारित्रमें [व्यवहारनयस्य विनिश्चयः] व्यवहारनयका निर्णय [भणितः] कहा है; [अन्येषु पर्यायेषु अपि] अन्य पर्यायोंमें भी [एवं एव ज्ञातव्यः] इसीप्रकार जानना चाहिये।

टीका:—इस जगतमें कलई है वह श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य है (अर्थात् कलईके द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो सो प्रथम विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है (-पृथक् द्रव्य नहीं);'—ऐसा तात्त्विक संबंध जीवित (विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होगी (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये, दीवार-आदिसे पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद (नाश) हो जायेगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदिकी नहीं है।

सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति? सेटिकाया
ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति? न
सेटिकायाः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं
न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति
दृष्टांतस्यथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं
तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः
ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो
चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति

(अब आगे और विचार करते हैं:—) यदि कलई दीवार-आदिकी
कलई किसकी है? कलईकी ही कलई है। (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी
है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है,
स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है? कुछ भी साध्य
नहीं है। तब फिर यह निश्चय है (इसप्रकार दृष्टान्त कहा)। जैसे यह दृष्टान्त है,
यहाँ यह दार्ष्टान्त है:—इस जगतमें चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा) वह
परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका (ज्ञानगुणसे) ज्ञेय
(-ज्ञात होने योग्य) है। अब, 'ज्ञायक (-जाननेवाला) चेतयिता, ज्ञेय जो पुद्गलादि परद्रव्य
उनका है या नहीं?' इसप्रकार यहां उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका विचार करते हैं:—यदि
चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो इसका प्रथम विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह
वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है,'—ऐसा तात्त्विक संबंध जीवित
(-विद्यमान) होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात्
चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिये, पुद्गलादिसे भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिये); ऐसा होने
पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि
एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिये (यह सिद्ध
हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है (अब आगे और विचार करते हैं:)। यदि चेतयिता
पुद्गलादिका नहीं है तो किसका है? चेतयिताका ही चेतयिता है। इस चेतयितासे
भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयितासे भिन्न
अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप
अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर ज्ञायक किसीका नहीं
है। ज्ञायक ज्ञायक ही है—यह निश्चय है।

भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक

(इसप्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्यको जानता है'—यह व्यवहार-कथन है; 'आत्मा अपनेको जानता है'—इस कथनमें भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है ।)

और (जिसप्रकार ज्ञायकके सम्बन्धमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसीप्रकार, दर्शकके सम्बन्धमें कहा जाता है:—इस जगतमें कलई श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य (कलईके द्वारा श्वेत किये जानेयोग्य पदार्थ) है । अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत कराने योग्य दीवार आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक सम्बन्धका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो यह प्रथम विचार करते हैं:—जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (-विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई उन दीवार-आदि ही होनी चाहिये (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा । किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदिकी नहीं है । (-आगे और विचार करते हैं :) यदि कलई दीवार-आदिकी नहीं है तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है । (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है ?' (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं । यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है, तब फिर कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है । जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यह दार्ष्टान्त है:—इस जगतमें चेतयिता दर्शन गुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है । पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका दृश्य है ।

एवेति निश्चयः। किं च सेटिकात्र
तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः
श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो
सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति
भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती
एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य
सिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।
सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति? सेटिकाया एव
ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति? न
सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं
व्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका

अब, 'दर्शक (—देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (
श्रद्धान करनेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्योंका है या नहीं'—इसप्रकार उन दोनोंके [illegible]
संबंधका यहाँ विचार करते हैं:—यदि चेतयिता पुद्गलादिका हो तो क्या हो वह पहले [illegible]
करते हैं: 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह [illegible]
है;'—ऐसा तात्त्विक संबंध जीवंत होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता [illegible]
ही होना चाहिये। (—अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिये) ऐसा होने पर,
चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायगा। किन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक
द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध कर दिया है। इससे (यह सिद्ध
हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि [illegible]
का नहीं है। तो चेतयिता किसका है? चेतयिताका ही चेतयिता है। (इस) [illegible]
भिन्न दूसरा ऐसा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) [illegible]
भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-[illegible]
अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसीका नहीं है,
दर्शक दर्शक ही है—यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि: 'आत्मा परद्रव्यको देखता है [illegible]
करता है'—यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा अपनेको देखता है अथवा श्रद्धा करता है'—[illegible]
कथनमें भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है, 'दर्शक दर्शक ही है'—यह निश्चय है।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक तथा दर्शकके संबंधमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्तसे [illegible]) उसी
प्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले)के संबंधमें कहा जाता है:—इस जगत में [illegible] है वह

निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम् । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं

श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहारसे उस कलईका श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ)। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार-आदि परद्रव्यकी है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंके तात्त्विक संबंधका यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्यकी हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं : 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक संबंध जीवंत (विद्यमान) होनेसे, कलई यदि दीवार-आदिकी हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होनी चाहिए, (-अर्थात् कलई भींत-आदि स्वरूप ही होनी चाहिये); ऐसा होने पर, कलईके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा परन्तु द्रव्यका उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्य द्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया गया है । इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदिकी नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार-आदिकी नहीं है तो कलई किसकी है ? कलईकी ही कलई है। (इस) कलईसे भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है जिसकी (यह) कलई है। (इस) कलईसे भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसीकी नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है:—

इस जगतमें जो चेतयिता है वह, ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण, परके अपोहनस्वरूप (-त्यागस्वरूप) स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहारसे उस चेतयिताका अपोहन (त्याज्य) है। अब, 'अपोहक (-त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (-त्याज्य) पुद्गलादि परद्रव्यका है या नहीं ?'—इसप्रकार उन दोनोंका तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है:-यदि चेतयिता

स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि [illegible]
एवेति निश्चयः । अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं
व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम् । अथात्र कुड्यादेः
श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो
सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति
भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती
भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतर[illegible]
प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः ।
भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव
भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या
सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंश-

---

पुद्गलादिका हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं: 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्माका ज्ञान होनेसे ज्ञान वह आत्मा ही है,'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होनेसे, चेतयिता यदि पुद्गलादिका हो तो चेतयिता उस पुद्गलादि ही होना चाहिये; (-अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप होना चाहिये) ऐसा होने पर, चेतयिताके स्वद्रव्यका उच्छेद हो जायेगा। परन्तु द्रव्यका उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्यका अन्यद्रव्यरूपमें संक्रमण होनेका तो पहले ही निषेध किया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है। (आगे और विचार करते हैं:) यदि चेतयिता पुद्गलादिका नहीं है तो चेतयिता किसका है? चेतयिताका ही चेतयिता है। (इस) चेतयितासे भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (वास्तवमें) चेतयितासे भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, भिन्न भिन्न दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (-त्याग करनेवाला) किसीका नहीं है, अपोहक अपोहक ही है—यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि: 'आत्मा परद्रव्यको त्यागता है'—यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निजको ग्रहण करता है'—ऐसा कहनेमें भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'अपोहक अपोहक ही है'—यह निश्चय है।)

अब व्यवहारका विवेचन किया जाता है:—जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई, दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार-आदिके) स्वभावके परिणाम

व्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम् । तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम् । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादेरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोह-

द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्यको, अपने (-कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है,—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको, अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे जानता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है ।

और (जिसप्रकार ज्ञानगुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार दर्शनगुणका व्यवहार कहा जाता है:—जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-दीवार-आदिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार-आदि परद्रव्यको अपने (कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा

कोऽपोहक एवेति निश्चयः। अथ व्यवहारव्याख्यानम्—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते। किं च—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादि-

---

उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे देखता है अथवा श्रद्धा करता है—ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन गुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार चारित्रगुणका व्यवहार कहा जाता है:—जैसे श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार-आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-दीवार आदिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्यको, अपने (-कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है—ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार जिसका ज्ञानदर्शनगुणसे परिपूर्ण और परके अपोहनस्वरूप स्वभाव है ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञान-दर्शनगुणसे परिपूर्ण पर-अपोहनात्मक (-परके त्यागस्वरूप) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (-पुद्गलादिके-) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्यको; अपने (-चेतयिताके-) स्वभावसे अपोहता है अर्थात् त्याग करता है—इसप्रकार व्यवहार किया जाता है।

इसप्रकार यह, आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायोंका निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसीप्रकार अन्य समस्त पर्यायोंका भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिये।

परद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते । अपि च—
यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते । एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः । एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः ।

भावार्थः—शुद्धनयसे आत्माका एक चेतनामात्र स्वभाव है । उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनयसे विचार किया जाये तो आत्माको परद्रव्यका ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्यके और आत्माके निश्चयसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है । जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावकका भेद कहना वह भी व्यवहार है । निश्चयसे भाव और भाव करनेवालेका भेद नहीं है।

अब व्यवहारनयके सम्बन्धमें । व्यवहारनयसे आत्माको परद्रव्यका ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्माके निमित्तनैमित्तिकभाव है। ज्ञानादि भावोंका परद्रव्य निमित्त होता है, इसलिये व्यवहारीजन कहते हैं कि—आत्मा परद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको देखता है, परद्रव्यका श्रद्धान करता है, परद्रव्यका त्याग करता है।

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥ २१५ ॥

(मंदाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २१६ ॥

इसप्रकार निश्चय-व्यवहारके प्रकारको जानकर यथावत् (जैसा कहा है उसीप्रकार) श्रद्धान करना।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसने शुद्ध द्रव्यके निरूपणमें बुद्धिको लगाया है, और जो तत्त्वका अनुभव करता है, उस पुरुषको एक द्रव्यके भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। ज्ञान ज्ञेयको जानता है सो तो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। जब कि ऐसा है तब फिर लोग ज्ञानको अन्य द्रव्यके साथ स्पर्श होनेकी मान्यतासे आकुल बुद्धिवाले होते हुए तत्त्वसे (शुद्ध स्वरूपसे) क्यों च्युत होते हैं ?

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे तत्त्वका स्वरूप विचार करनेपर अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्यमें प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञानमें अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञानकी स्वच्छताका स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञानको स्पर्श नहीं करते। ऐसा होनेपर भी, ज्ञानमें अन्य द्रव्योंका प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूपसे च्युत होते हैं कि 'ज्ञानको परज्ञेयोंके साथ परमार्थ संबंध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्वसे क्यों च्युत हो रहे हैं ? ।२१५।

पुनः इसी अर्थको दृढ़ करते हुए कहते हैं:—

अर्थः—शुद्ध द्रव्यका (आत्मा आदि द्रव्यका) निजरसरूप (-ज्ञानादि स्वभावमें) परिणमन होता है इसलिये, क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभावका हो सकता है ? (नहीं।) अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्यद्रव्यका हो सकता है ? (नहीं। परमार्थसे एक द्रव्यका अन्य द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है।) चाँदनीका रूप पृथ्वीको उज्ज्वल

(मंदाक्रांता)

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २१७ ॥

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे विसये ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ ॥

करता है तथापि पृथ्वी चाँदनीकी कदापि नहीं होती; इसप्रकार ज्ञान ज्ञेयको सदा जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञानका कदापि नहीं होता ।

भावार्थः—शुद्धनयकी दृष्टिसे देखा जाये तो किसी द्रव्यका स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । जैसे चाँदनी पृथ्वीको उज्ज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनीकी किंचित्‌मात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयको जानता है किन्तु ज्ञेय ज्ञानका किंचित्‌मात्र भी नहीं होता । आत्माका ज्ञानस्वभाव है इसलिये उसकी स्वच्छतामें ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता । २१६ ।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—रागद्वेषका द्वंद तबतक उदयको प्राप्त होता है कि जबतक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञेयत्वको प्राप्त न हो । इसलिये यह ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप हो—कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाये ।

भावार्थः—जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तबतक रागद्वेष उत्पन्न होता है; इसलिये इस ज्ञान, अज्ञानभावको दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञानमें भाव और अभावरूप दो अवस्थाएँ होती हैं वे मिट जायें और ज्ञान पूर्णस्वभावको प्राप्त हो जाये । यह प्रार्थना है । २१७ ।

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्माके दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्योंमें नहीं हैं' ऐसा जाननेके कारण सम्यग्दृष्टिको विषयोंके प्रति राग नहीं होता; और रागद्वेषादि जड़ विषयोंमें भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशामें प्रवर्तमान जीवके परिणाम हैं ।—इस अर्थकी गाथाएँ कहते हैं:—

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषयमें ।
इस हेतुसे यह आत्मा क्या हन सके उन विषयमें ? ॥ ३६६ ॥

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्मि ॥ ३६७ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥ ३६८ ॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥ ३६९ ॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥ ३७० ॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥ ३७१ ॥

गाथा ३६६ से ३७१

अन्वयार्थः—[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने विषये तु] अचेतन विषयमें [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु विषयेषु] उन विषयोंमें [किं हंति] क्या घात करेगा ?

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्ममें।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कर्ममें ? ॥ ३६७ ॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कायमें।
इस हेतुसे यह आतमा क्या हन सके उन कायमें ? ॥ ३६८ ॥
है ज्ञानका, सम्यक्त्वका, उपघात चारितका कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्गलद्रव्यका ॥ ३६९ ॥
जो जीवके गुण हैं नियत वे कोइ नहिं परद्रव्यमें।
इस हेतुसे सद्दृष्टि जीवको राग नहिं है विषयमें ॥ ३७० ॥
अरु राग, द्वेष, विमोह तो जीवके अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतुसे शब्दादि विषयोंमें नहीं रागादि हैं ॥ ३७१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥ ३६६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥ ३६७ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३६८ ॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य ।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥ ३६९ ॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥ ३७० ॥

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने कर्मणि तु] अचेतन कर्ममें [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तत्र कर्मणि] उन कर्ममें [किं हंति] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने काये तु] अचेतन कायमें [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु कायेषु] उन कायोंमें [किं हंति] क्या घात करेगा ? (कुछ भी घात नहीं कर सकता ।)

[ज्ञानस्य] ज्ञानका, [दर्शनस्य च] और दर्शनका [तथा चारित्रस्य] तथा चारित्रका [घातः भणितः] घात कहा है, [तत्र] वहाँ [पुद्गल द्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्यका [घातः तु] घात [कः अपि] किंचित् मात्र भी [न अपि निर्दिष्टः] नहीं कहा है । (अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रके घात होने पर पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता ।)

(इसप्रकार) [ये केचित्] जो कोई [जीवस्य गुणाः] जीवके गुण हैं, [ते खलु] वे वास्तवमें [परेषु द्रव्येषु] पर द्रव्यमें [न संति] नहीं हैं, [तस्मात्] इसलिये [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टिके [विषयेषु] विषयोंके प्रति [रागः तु] राग [न अस्ति] नहीं है ।

रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥ ३७१ ॥

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा
यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु
तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न
न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते । अथात्मनो धर्मा
पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं
एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते
घातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावंतः केचनापि
जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः, अन्यथा अत्रापि [illegible]

[च] और [रागः द्वेषः मोहः] राग, द्वेष और मोह [जीवस्य एव] जीवके ही [अनन्य परिणामाः] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [एतेन कारणेन तु] इस कारणसे [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादि विषयोंमें (भी) [न संति] नहीं हैं।

(रागद्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मामें हैं और न जड़ विषयोंमें, वे मात्र अज्ञानदशामें रहनेवाले जीवके परिणाम हैं।)

टीका:—वास्तवमें जो जिसमें होता है वह उसका घात होनेपर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधारका घात होने पर आधेयका घात हो ही जाता है), जैसे दीपकके घात होनेपर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है, तथा जिसमें जो होता है वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेयका घात होने पर आधारका घात हो जाता ही है), जैसे प्रकाशका घात होने पर दीपकका घात हो जाता है। और जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घड़ेका नाश होने पर *घट-प्रदीपका नाश नहीं होता, तथा जिसमें जो नहीं होता वह उसका घात होनेपर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीपका नाश होनेपर घटका नाश नहीं होता। (इसप्रकारसे न्याय कहा है।) अब, आत्माके धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्यका घात होनेपर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्रका नाश होनेपर भी पुद्गलद्रव्यका नाश नहीं होता (यह तो स्पष्ट है); इसलिये इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि—'दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं' क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो

---

* घट-प्रदीप = घड़ेमें रखा हुआ दीपक। (परमार्थतः दीपक घड़ेमें नहीं है, [illegible]
[illegible] है।

गुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात् । यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि । तर्हि रागस्य कतरा खानिः ? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति । एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्रका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात, और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका अवश्य ही घात होना चाहिए। ऐसा होनेसे जीवके जो जितने गुण हैं वे सब परद्रव्योंमें नहीं हैं यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीवके गुणोंका घात होनेपर पुद्गलद्रव्यका घात, और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर जीवके गुणका घात होना अनिवार्य हो जाय। (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीवके कोई गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं।)

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिको विषयोंमें राग किस कारणसे होता है ?

उत्तरः—किसी भी कारणसे नहीं होता। (प्रश्नः-)तब फिर रागकी खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है ? (उत्तरः—) राग-द्वेष-मोहादि, जीवके अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीवका अज्ञान ही रागादिको उत्पन्न करनेकी खान है); इसलिये वे रागद्वेषमोहादिक, विषयोंमें नहीं हैं क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टिमें भी नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञानका अभाव है; इसप्रकार रागद्वेषमोहादिक विषयोंमें न होनेसे और सम्यग्दृष्टिके (भी) न होनेसे, (वे) हैं ही नहीं।

भावार्थः—आत्माके अज्ञानमय परिणामरूप रागद्वेषमोहादि उत्पन्न होनेपर आत्माके दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणोंका घात होता है, किन्तु गुणोंके घात होनेपर भी अचेतन पुद्गल-द्रव्यका घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्यके घात होनेपर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिका घात नहीं होता; इसलिये जीवके कोई भी गुण पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टिको अचेतन विषयोंमें रागादिक नहीं होते। रागद्वेषमोहादिक पुद्गलद्रव्यमें नहीं हैं, वे जीवके ही अस्तित्वमें अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञानका अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते। इसप्रकार रागद्वेषमोहादिक न तो पुद्गलद्रव्यमें हैं और न सम्यग्दृष्टिमें भी होते हैं, इसलिये शुद्धद्रव्यदृष्टिसे देखनेपर वे हैं ही नहीं। और पर्यायदृष्टिसे देखनेपर वे जीवकी अज्ञान अवस्थामें हैं। ऐसा जानना चाहिये।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(मंदाक्रांता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २१८ ॥

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २१९ ॥

अर्थः—इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है, वस्तुत्वमें स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टिसे देखनेपर (अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर), वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं (-द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं)। (इसलिये आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे उन्हें (रागद्वेषको) प्रगटतया क्षय करो, कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थः—रागद्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (रागद्वेषरूप परिणाम) जीवके अज्ञानभावसे होते हैं, इसलिये सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो वे (रागद्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्मका नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। २१८।

अब आगेकी गाथामें यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यको गुण उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अंतरंगमें अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है।

भावार्थः—रागद्वेष चेतनके ही परिणाम हैं। अन्य द्रव्य आत्माको रागद्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने अपने स्वभावसे ही होती है, अन्य द्रव्यमें अन्य द्रव्यके गुणपर्यायोंकी उत्पत्ति नहीं होती। २१९।

अब इसी अर्थको गाथा द्वारा कहते हैं:—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥ ३७२ ॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्। तथा हि—मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुंभः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन

गाथा ३७२

अन्वयार्थः—[अन्यद्रव्येण] अन्य द्रव्यसे [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्यके [गुणोत्पादः] गुणकी उत्पत्ति [न क्रियते] नहीं को जा सकती; [तस्मात् तु] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [सर्वद्रव्याणि] सर्व द्रव्य [स्वभावेन] अपने अपने स्वभावसे [उत्पद्यंते] उत्पन्न होते हैं।

टीकाः—और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिये कि—परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्योंका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है:—

मिट्टी घटभावसे उत्पन्न होती हुई कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती है या मिट्टीके ? यदि कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न होती हो तो जिसमें घटको बनानेके अहंकारसे भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनानेका) व्यापार करता है ऐसे पुरुषके शरीराकार घट होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्यके स्वभावसे किसी द्रव्यके परि-

---

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुणका करे।
इस हेतुसे सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभावसे ॥ ३७२ ॥

द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते। एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते किं स्वस्वभावेन? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यंते किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति सर्वद्रव्याणां न निमित्तभूतद्रव्यांतराणि स्वपरिणामस्योत्पाद-

---

णामका उत्पाद देखनेमें नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होती, परन्तु मिट्टीके स्वभावसे ही उत्पन्न होती है क्योंकि (द्रव्यके) अपने स्वभावसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होनेसे, मिट्टी अपने स्वभावको उल्लंघन नहीं करती इसलिये, कुम्हार घड़ेका उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हारके स्वभावको स्पर्श न करती हुई अपने स्वभावसे कुम्भभावसे उत्पन्न होती है।

इसीप्रकार—सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्यायसे (अर्थात् अपने परिणाम-भावरूपसे) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभावसे? यदि निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके आकारके होने चाहिये। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्यके स्वभावसे किसी द्रव्यके परिणामका उत्पाद दिखाई नहीं देता। जब कि ऐसा है तो सर्व द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्योंके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्यके) अपने स्वभावसे द्रव्यके परिणामका उत्पाद देखनेमें आता है। ऐसा होनेसे, सर्व द्रव्योंके, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्योंके) परिणामोंके उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्यद्रव्यके स्वभावको स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभावसे अपने परिणामभावसे उत्पन्न होते हैं।

इसलिये (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीवके रागादिका उत्पादक परद्रव्यको नहीं देखते (मानते) कि जिस पर कोप करें।

भावार्थः—आत्माको रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनयसे विचार किया जाये तो अन्यद्रव्य रागादिका उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य-द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्यके अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता यह नियम है। जो यह मानते हैं-ऐसा एकांत ग्रहण करते हैं कि-'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न

कान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यंते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः।

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २२० ॥

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥ २२१ ॥

करते हैं, वे नयविभागको नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीवके सत्त्वमें उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानना सो सम्यग्ज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें अन्य द्रव्यपर क्यों कोप करें? राग-द्वेषका उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इस आत्मामें जो रागद्वेषरूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है उसमें परद्रव्यका कोई भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है;—इसप्रकार विदित हो और अज्ञान अस्त हो जाये; मैं तो ज्ञान हूँ।

भावार्थः—अज्ञानी जीव परद्रव्यसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्यपर कोप करता है कि—'यह परद्रव्य मुझे रागद्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूं'। ऐसे अज्ञानी जीवको समझानेके लिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि—रागद्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानसे आत्मामें ही होती है और वे आत्माके ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिये इस अज्ञानको नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो; परद्रव्यको रागद्वेषका उत्पन्न करनेवाला मानकर उसपर कोप न करो। २२०।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेके लिये और आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व (-कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते,) वे—जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अंध है ऐसे

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति
ताणि सुणिऊण रूसइ तूसइ य पुणो अहं
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो
तम्हा ण तुमं भणिओ किंचि वि किं रूससि

(अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनयके विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूपके ज्ञानसे रहित अंध मोहनदीको पार नहीं कर सकते।

भावार्थ:—शुद्धनयका विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराधसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता और उसमें आत्माका कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्माके ऐसे स्वरूपका ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्माको जिसप्रकार परिणमन कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदीको पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सेनाको नहीं हरा सकते), उनके रागद्वेष नहीं मिटते, क्योंकि रागद्वेष करनेमें यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटानेमें भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरेके कराये ही रागद्वेष होता हो तो पर तो रागद्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँसे मिटा सकेगा? इसलिये रागद्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं—इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है। २२१।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मासे कहीं यह नहीं कहते कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थानसे छूटकर उन्हें जाननेको नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने अपने स्वभावसे ही परिणमित होते हैं। इसप्रकार आत्मा परके प्रति उदासीन (-संबंध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादिको अच्छे-बुरे मानकर रागीद्वेषी होता है यह उसका अज्ञान है।

इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

पुद्गलदरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे ॥३७३॥
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तू क्यों करे ॥३७४॥

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥ ३७५ ॥
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥ ३७६ ॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥ ३७७ ॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥ ३७८॥
असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥ ३७९ ॥

गाथा ३७३ से ३८२

अन्वयार्थः—[बहुकानि] बहुत प्रकारके [निन्दितसंस्तुतवचनानि] निन्दाके और स्तुतिके वचनरूपमें [पुद्गलाः] पुद्गल [परिणमंति] परिणमित होते हैं;

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्दको ॥ ३७५ ॥
शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूपको ॥ ३७६ ॥
शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंधको ॥ ३७७ ॥
शुभ या अशुभ रस कोई भी 'तू चाख मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वादको ॥ ३७८ ॥
शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे ।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्शको ॥ ३७९ ॥

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥ ३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥ ३८२ ॥

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥ ३७३ ॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥ ३७४ ॥
अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम् ॥ ३७५ ॥

[तानि श्रुत्वा पुनः] उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव [अहं भणितः] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [रुष्यति तुष्यति च] रोष और संतोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है)।

[पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [शब्दत्वपरिणतं] शब्दरूपसे परिणमित हुआ है; [तस्य गुणः] उसका गुण [यदि अन्यः] यदि (तुझसे) अन्य है, [तस्मात्] तो हे अज्ञानी जीव ! [त्वं न किंचित् अपि भणितः] तुझसे कुछ भी नहीं कहा है; [अबुद्धः] तू अज्ञानी होता हुआ [किं रुष्यसि] क्यों रोष करता है ?

शुभ या अशुभ गुण कोइ भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे ॥ ३८० ॥
शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे ॥ ३८१ ॥
यह जानकर भी मूढ जीव पावे नहिं उपशम अरे !
शिव बुद्धिको पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चाहे ॥ ३८२ ॥

अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम् ॥ ३७६ ॥

अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधम् ॥ ३७७ ॥

अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसम् ॥ ३७८ ॥

अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं स्पर्शम् ॥ ३७९ ॥

अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम् ॥ ३८० ॥

अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम् ॥ ३८१ ॥

एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥ ३८२ ॥

[अशुभः वा शुभः शब्दः] अशुभ अथवा शुभ शब्द [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् शृणु इति] 'तू मुझे सुन'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम्] श्रोत्र-इन्द्रियके विषयमें आये हुए शब्दको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करनेको नहीं जाता।

[अशुभं वा शुभं रूपं] अशुभ अथवा शुभ रूप [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् पश्य इति] 'तू मुझे देख'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थानसे छूटकर), [चक्षुर्विषयम् आगतं] चक्षु-इन्द्रियके विषयमें आये हुए [रूपम्] रूपको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करनेको नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः गंधः] अशुभ अथवा शुभ गंध [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहती कि [माम् जिघ्र इति] 'तू मुझे सूंघ'; [सः एव च] और आत्मा भी [घ्राणविषयम् आगतं गंधम्] घ्राण-इन्द्रियके विषयमें आई हुई गंधको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] (अपने स्थानसे च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः रसः] अशुभ अथवा शुभ रस [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् रसय इति] 'तू मुझे चख'; [सः एव च] और

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव
इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति, न च
स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य

आत्मा भी [रसनविषयम् आगतं तु रसम्] रसना-इन्द्रियके विषयमें
(अपने स्थानसे च्युत होकर); [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने

[अशुभः वा शुभः स्पर्शः] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श [
तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् स्पृश इति] 'तू मुझे स्पर्श कर'; [
और आत्मा भी, [कायविषयम् आगतं स्पर्शम्] कायके (-स्पर्शेन्द्रियके)
हुए स्पर्शको (अपने स्थानसे च्युत होकर); विनिर्ग्रहीतुं न एति]
नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः गुणः] अशुभ अथवा शुभ गुण [त्वां न भणति] तुझसे
यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और
आत्मा भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्] बुद्धिके
विषयमें आये हुए गुणको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभं वा शुभं द्रव्यं] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य [त्वां न भणति] तुझसे
यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा
भी (अपने स्थानसे च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं द्रव्यम्] बुद्धिके विषयमें
आये हुए द्रव्यको [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[एतत् तु ज्ञात्वा] ऐसा जानकर भी [मूढः] मूढ जीव [उपशमं न एव
गच्छति] उपशमको प्राप्त नहीं होता; [च] और [शिवाम् बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं]
शिव बुद्धिको (कल्याणकारी बुद्धिको, सम्यग्ज्ञानको) न प्राप्त हुआ स्वयं [परस्य
विनिर्ग्रहमनाः] परको ग्रहण करनेका मन करता है।

टीकाः—प्रथम दृष्टान्त कहते हैं : इस जगतमें बाह्यपदार्थ—घटपटादि—, जैसे देवदत्त
नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुषको हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है इसीप्रकार, दीपकको
स्वप्रकाशनमें (अर्थात् बाह्यपदार्थको प्रकाशित करनेके कार्यमें) नहीं लगाता कि 'तू मुझे
प्रकाशित कर', और दीपक भी लोहचुम्बक-पाषाणसे खींची गई लोहेकी सुईकी भाँति अपने
स्थानसे च्युत होकर उसे (बाह्यपदार्थको) प्रकाशित करने नहीं आता; परन्तु, वस्तुस्वभाव

त्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्संनिधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते। तथा बहिरर्थाः शब्दो, रूपं, गंधो, रसः, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पर्श, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयंति, न चात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेणैव जानत-

---

दूसरेसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तुस्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, दीपक जैसे बाह्यपदार्थकी असमीपतामें अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है। उसीप्रकार बाह्यपदार्थकी समीपतामें भी अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है। (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही प्रकाशता है। ऐसे दीपकको, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसीप्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं: बाह्य पदार्थ—शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य—,जैसे देवदत्त यज्ञदत्तको हाथ पकड़कर किसी कार्यमें लगाता है उसीप्रकार, आत्माको स्वज्ञानमें (बाह्यपदार्थोंके जाननेके कार्यमें) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान', और आत्मा भी लोहचुम्बक-पाषाणसे खींची गई लोहेकी सुईकी-भाँति अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें (बाह्यपदार्थोंको) जाननेको नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव परके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिये तथा वस्तु-स्वभाव परको उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये, आत्मा जैसे बाह्य पदार्थोंकी असमीपतामें (अपने स्वरूपसे ही जानता है) उसीप्रकार बाह्यपदार्थोंकी समीपतामें भी अपने स्वरूपसे ही जानता है। (इसप्रकार) अपने स्वरूपसे ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तुस्वभावसे ही विचित्र परिणतिको प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्यपदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इसप्रकार आत्मा दीपककी भाँति परके प्रति सदा उदासीन (अर्थात् संबंधरहित; तटस्थ) है—ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो रागद्वेष होता है सो अज्ञान है।

भावार्थः—शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्यके गुण हैं। वे आत्मासे कहीं यह नहीं कहते, कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थानसे च्युत होकर उन्हें

मास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंतः
शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै
प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधवंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
रागद्वेषमयीभवंति सहजां मुंचंत्युदासीनताम् ॥

ग्रहण करनेके लिये उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों
स्वरूपसे ही जानता है, इसीप्रकार शब्दादिक समीप हों तब भी
जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूपसे ही जाननेवाले आत्माको अपने अपने
परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि
प्रकाशित होनेवाले दीपकको घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते। ऐसा
जीव शब्दको सुनकर, रूपको देखकर, गंधको सूंघकर, रसका स्वाद लेकर,
और गुण-द्रव्यको जानकर, उन्हें अच्छा बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, सो यह

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (-निर्विकार) ज्ञान जिसकी
ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थोंसे किंचित् मात्र भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता,
(-प्रकाशित होने योग्य घटपटादि) पदार्थोंसे विक्रियाको प्राप्त नहीं होता [illegible]
जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थितिके ज्ञानसे रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव अपनी [illegible]
सीनताको क्यों छोड़ते हैं तथा रागद्वेषमय क्यों होते हैं? (इसप्रकार आचार्यदेवने सोच
किया है।)

भावार्थः—जैसे दीपकका स्वभाव घटपटादिको प्रकाशित करनेका है उसीप्रकार
ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयको जाननेका ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेयको जाननेमात्रसे ज्ञानमें
विकार नहीं होता। ज्ञेयोंको जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागीद्वेषी—विकारी
होता है जो कि अज्ञान है। इसलिये आचार्यदेवने सोच किया है कि—'वस्तुका स्वभाव तो
ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? अपनी
स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?' इसप्रकार आचार्यदेवने जो सोच किया है
सो उचित ही है, क्योंकि जबतक शुभ राग है तबतक प्राणियोंको अज्ञानसे दुःखी देखकर
करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है। २२२।

(शार्दूलविक्रीडित)

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥ २२३ ॥

अब आगामी कथनका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जिनका तेज रागद्वेषरूपी विभावसे रहित है, जो सदा (अपने चैतन्य-चमत्कारमात्र) स्वभावको स्पर्श करनेवाले हैं, जो भूतकालके तथा भविष्यकालके समस्त कर्मोंसे रहित हैं और जो वर्तमानकालके कर्मोदयसे भिन्न हैं। वे (-ऐसे ज्ञानी-) अति प्रबल चारित्रके वैभवके बलसे ज्ञानकी संचेतनाका अनुभव करते हैं—जो ज्ञान-चेतना चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रससे समस्त लोकको सींचा है।

भावार्थ:—जिनका रागद्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभावको जिन्होंने अंगीकार किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्मका ममत्व दूर होगया है ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्योंसे अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्रके बलसे, कर्मचेतना और कर्मफल-चेतनासे भिन्न जो अपनी चैतन्यकी परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिये कि:—जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे भिन्न अपनी ज्ञानचेतनाका स्वरूप आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाणसे जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थामें भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है तब जीव अपने स्वरूपका ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतनाका प्रथम श्रद्धान किया था उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् *ज्ञानचेतनारूप हो जाता है। २२३।

जो अतीत कर्मके प्रति ममत्वको छोड़ दे वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागतकर्म न करनेकी प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावोंसे आगामी कर्म बँधे उन भावोंका ममत्व छोड़े) वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदयमें आये हुए वर्तमान कर्मका ममत्व छोड़े वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है। ऐसे चारित्रका विधान इन गाथाओं द्वारा करते हैं:—

---

* केवलज्ञानी जीवके साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होनेसे पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभवके समय जीवके उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतनाके उपयोगात्मकत्वको मुख्य न किया जाये तो, सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना निरंतर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञानके स्वामित्वभावसे परिणमन होता है, कर्मके और कर्मफलके स्वामित्वभावसे परिणमन नहीं होता।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिकमदि यो य ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥ ३८६ ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम् ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥ ३८३ ॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥ ३८४ ॥

गाथा ३८३–३८६

अन्वयार्थः—[पूर्वकृतं] पूर्वकृत [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्] अनेक प्रकारके विस्तारवाला [शुभाशुभम् कर्म] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म है, [तस्मात्] उससे [यः] जो आत्मा [आत्मानं तु] अपनेको [निवर्तयति] दूर रखता है [सः] वह आत्मा [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण करता है ।

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये ।
उनसे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण है ॥ ३८३ ॥
शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें ।
उनसे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है ॥ ३८४ ॥
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस कालमें ।
उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥ ३८५ ॥
पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे ।
नित्यहि करे आलोचना, वो आतमा चारित्र है ॥ ३८६ ॥

यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम् ।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३८५ ॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥ ३८६ ॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वकर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं

[भविष्यत्] भविष्यकालका [यत्] जो [शुभम् अशुभं कर्म] शुभ-अशुभ कर्म [यस्मिन् भावे च] जिस भावमें [बध्यते] बंधता है [तस्मात्] उस भावसे [यः] जो आत्मा [निवर्तते] निवृत्त होता है, [सः चेतयिता] वह आत्मा [प्रत्याख्यानं भवति] प्रत्याख्यान है ।

[संप्रति च] वर्तमान कालमें [उदीर्णं] उदयागत [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्] अनेक प्रकारके विस्तारवाला [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभ कर्म है [तं दोषं] उस दोषको [यः] जो आत्मा [चेतयते] चेतता है—अनुभव करता है—ज्ञाताभावसे जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व—कर्तृत्वको छोड़ देता है), [सः चेतयिता] वह आत्मा [खलु] वास्तवमें [आलोचनं] आलोचना है ।

[यः] जो [नित्यं] सदा [प्रत्याख्यानं करोति] प्रत्याख्यान करता है, [नित्यं प्रतिक्रामति च] सदा प्रतिक्रमण करता है और [नित्यम् आलोचयति] सदा आलोचना करता है, [सः चेतयिता] वह आत्मा [खलु] वास्तवमें [चरित्रं भवति] चारित्र है ।

टीका:—जो आत्मा पुद्गलकर्मके विपाक (उदय)से हुये भावोंसे अपनेको छुड़ाता है (-दूर रखता है), वह आत्मा उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मोंको (भूतकालके कर्मोंको)प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावोंके कार्यभूत उत्तरकर्मोंको (भविष्यकालके कर्मोंको) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाकको अपनेसे (-आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है । इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मोंके कार्यरूप और उत्तरकर्मोंके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमदि यो य।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥ ३८६ ॥

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥ ३८३ ॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥ ३८४ ॥

गाथा ३८३–३८६

अन्वयार्थः—[पूर्वकृतं] पूर्वकृत [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्] अनेक प्रकारके विस्तारवाला [शुभाशुभम् कर्म] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म है, [तस्मात्] उससे [यः] जो आत्मा [आत्मानं तु] अपनेको [निवर्तयति] दूर रखता है [सः] वह आत्मा [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण करता है।

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्मको, वो आतमा प्रतिक्रमण है ॥ ३८३ ॥
शुभ अरु अशुभ भावी करमका बंध हो जिन भावमें।
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पचखाण है ॥ ३८४ ॥
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस कालमें।
उन दोषको जो चेतता, आलोचना वह जीव है ॥ ३८५ ॥
पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
नित्यहि करे आलोचना, वो आतमा चारित्र है ॥ ३८६ ॥

यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम् ।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥ ३८५ ॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥ ३८६ ॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वकर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं

[**भविष्यत्**] भविष्यकालका [**यत्**] जो [**शुभम् अशुभं कर्म**] शुभ-अशुभ कर्म [**यस्मिन् भावे च**] जिस भावमें [**बध्यते**] बंधता है [**तस्मात्**] उस भावसे [**यः**] जो आत्मा [**निवर्तते**] निवृत्त होता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**प्रत्याख्यानं भवति**] प्रत्याख्यान है ।

[**संप्रति च**] वर्तमान कालमें [**उदीर्णं**] उदयागत [**यत्**] जो [**अनेकविस्तरविशेषम्**] अनेक प्रकारके विस्तारवाला [**शुभम् अशुभम्**] शुभ और अशुभ कर्म है [**तं दोषं**] उस दोषको [**यः**] जो आत्मा [**चेतयते**] चेतता है—अनुभव करता है—ज्ञाताभावसे जान लेता है (अर्थात् उसके स्वामित्व—कर्तृत्वको छोड़ देता है), [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तवमें [**आलोचनं**] आलोचना है ।

[**यः**] जो [**नित्यं**] सदा [**प्रत्याख्यानं करोति**] प्रत्याख्यान करता है, [**नित्यं प्रतिक्रामति च**] सदा प्रतिक्रमण करता है और [**नित्यम् आलोचयति**] सदा आलोचना करता है, [**सः चेतयिता**] वह आत्मा [**खलु**] वास्तवमें [**चरित्रं भवति**] चारित्र है ।

टीका:—जो आत्मा पुद्गलकर्मके विपाक (उदय)से हुये भावोंसे अपनेको छुड़ाता है (-दूर रखता है), वह आत्मा उन भावोंके कारणभूत पूर्वकर्मोंको (भूतकालके कर्मोंको)प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावोंके कार्यभूत उत्तरकर्मोंको (भविष्यकालके कर्मोंको) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाकको अपनेसे (-आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है । इसप्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्वकर्मोंके कार्यरूप और उत्तरकर्मोंके कारणरूप भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता

कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स

पलभमानः आलोचना भवति। एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्,
नित्यमालोचयंश्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो
वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव [illegible]
निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतन
ज्ञानचेतना भवतीति भावः।

(उपजाति)

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥ २२४ ॥

हुआ, वर्तमान कर्मविपाकको अपनेसे (आत्मासे) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, अपनेमें ही—ज्ञानस्वभावमें ही—निरंतर चरनेसे (-आचरण करनेसे) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है)। और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपनेको-ज्ञानमात्रको चेतता (अनुभव करता) है इसलिये (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है।

भावार्थः—चारित्रमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनाका विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषोंसे आत्माको निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्यमें दोष लगानेका त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माको पृथक् करना सो आलोचना है। यहाँ निश्चयचारित्रको प्रधान करके कथन है; इसलिये निश्चयसे विचार करने पर, जो आत्मा तीनों कालके कर्मोंसे अपनेको भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्माका निरंतर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (ज्ञानका अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतनासे (अर्थात् ज्ञानके अनुभवनसे) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।

अब आगेकी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल प्रगट करते हैं—

अर्थः—निरन्तर ज्ञानकी संचेतनासे ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; और अज्ञानकी संचेतनासे तो बंध दौड़ता हुआ ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है, अर्थात् ज्ञानकी शुद्धता नहीं होने देता।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८७ ॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८८ ॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणो वि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८९ ॥

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८७ ॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८८ ॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥ ३८९ ॥

भावार्थः—किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसीका अनुभवरूप स्वाद लिया करना सो वह उसका संचेतन कहलाता है। ज्ञानके प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना सो ज्ञानका संचेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर सम्पूर्ण ज्ञान-चेतना कहलाती है।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोगको करना, उसीकी ओर (-कर्म और कर्मफलकी ओर ही-) एकाग्र होकर उसीका अनुभव करना, सो अज्ञानचेतना है। उससे कर्मका बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञानकी शुद्धताको रोकता है। २२४।

अब इसीको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

जो कर्मफलको वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे ।
वो पुनः बाँधे अष्टविधके कर्मको–दुःखबीजको ॥ ३८७ ॥
जो कर्मफलको वेदता जाने 'करमफल मैं किया' ।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको–दुःखबीजको ॥ ३८८ ॥
जो कर्मफलको वेदता जीव सुखी दुःखी होय है ।
वो पुनः बांधे अष्टविधके कर्मको–दुःखबीजको ॥ ३८९ ॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा—कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा तु समस्तापि संसारबीजं; संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या। तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

गाथा ३८७-३८९

अन्वयार्थः—[कर्मफलम् वेदयमानः] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम्] कर्मफलको [आत्मानं करोति] निजरूप करता (-मानता) है, [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको-[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको-[बध्नाति] बाँधता है।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्मके फलका वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम् मया कृतं जानाति] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है', [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको-[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको-[बध्नाति] बाँधता है।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्मफलको वेदन करता हुआ [यः चेतयिता] जो आत्मा [सुखितः दुःखितः च] सुखी और दुःखी [भवति] होता है, [सः] वह [पुनः अपि] फिरसे भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकारके कर्मको-[दुःखस्य बीजं] दुःखके बीजको—[बध्नाति] बाँधता है।

टीकाः—ज्ञानसे अन्यमें (-ज्ञान के सिवा अन्य भावोंमें) ऐसा चेतना (-अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ', सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकारकी है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें, ज्ञानसे अन्यमें (-ज्ञानके सिवा अन्य भावोंमें) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ', सो कर्मचेतना है; और ज्ञानसे अन्यमें ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ', सो कर्मफलचेतना है। (इसप्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकारसे है।) वह समस्त अज्ञानचेतना संसारका बीज है; क्योंकि संसारके बीज जो आठ प्रकारके (-ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज यह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मोंका बन्ध होता है)। इसलिये मोक्षार्थी पुरुषको अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिये सकल कर्मोंके संन्यास (-त्याग)की भावनाको तथा सकल कर्मफलके संन्यासकी भावनाको नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतनाको ही एकको सदा नचाना चाहिए।

(आर्या)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥ २२५ ॥

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च । तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५ । यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६ ।

इसमें पहले, सकल कर्मोंके संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

(वहाँ प्रथम, काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—त्रिकालके (–अर्थात्, अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) समस्त कर्मको कृत-कारित-अनुमोदनासे और मन-वचन-कायसे त्याग करके मैं परम नैष्कर्म्यका (–उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका) अवलम्बन करता हूँ । (इसप्रकार, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है ।) । २२५ ।

(अब टीकामें प्रथम, प्रतिक्रमण-कल्प अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं:—)

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि:—)

जो मैंने (अतीतकालमें कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे, वचनसे, तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवालेका अनुमोदन करना वह संसारका बीज है यह जानकर उस दुष्कृतके प्रति हेयबुद्धि आई तब जीवने उसके प्रतिका ममत्व छोड़ा, सो यही उसका मिथ्या करना है) । १ ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । २ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४ ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ५ । जो मैंने (पूर्वमें) किया, कराया और अन्य करते

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन दुष्कृतमिति ७। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च दुष्कृतमिति ८। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९। यदहमचीकरं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च दुष्कृतमिति १२। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १३। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १४। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं [illegible] च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १५। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं [illegible] मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १६। यदहमकार्षं [illegible] वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १७। यदहमकार्षं [illegible] समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १८। [illegible]

हुएका अनुमोदन किया, वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ६। जो मैंने (पूर्वमें) [illegible] कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ७।

जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ८। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे और कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ९। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १०।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया और कराया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ११। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १२। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १३। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १४। जो मैंने (पूर्वमें) किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १५। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १६। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १७। जो मैंने (पूर्वमें) किया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १८। जो

यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १९। यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २०। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २१। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २२। यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २३। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २४। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २५। यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २६। यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २७। यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २८। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २९। यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३०। यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३१।

मैंने (पूर्वमें) कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। १९।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया और कराया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।२०। जो मैंने (पूर्वमें) किया और तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २१। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २२। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २३। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २४। जो मैंने (पूर्वमें) कराया तथा अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २५। जो मैंने (पूर्वमें) किया और कराया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २६। जो मैंने (पूर्वमें) किया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २७। जो मैंने (पूर्वमें) कराया और अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २८।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे, वचनसे, तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। २९। जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे, वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ३०। जो मैंने अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ३१।

यद्हमकार्षं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति
मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३३ ।
मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३४ । यदहमकार्षं
च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३५ । यदहमचीकरं मनसा च
मे दुष्कृतमिति ३६ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन
मे दुष्कृतमिति ३७ । यदहमकार्षं वाचा च कायेन च
मिति ३८ । यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति
यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति
यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४१ । यदहमचीकरं [illegible]
तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४२ । यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं [illegible]
तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४३ । यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृत-
मिति ४४ । यदहमचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५ । [illegible]
मप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४६ । [illegible]
कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७ । यदहमचीकरं कायेन च [illegible]

जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३२ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३३ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे तथा वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३४ । जो मैंने (पूर्वमें) किया मनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३५ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३६ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३७ । जो मैंने (पूर्वमें) किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३८ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ३९ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे तथा कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४० ।

जो मैंने (अतीत कालमें) किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४१ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४२ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४३ । जो मैंने (पूर्वमें) किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४४ । जो मैंने (पूर्वमें) कराया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४५ । जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया वचनसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४६ । जो मैंने (पूर्वमें) किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ४७ ।

मे दुष्कृतमिति ४८। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९।

जो मैंने (पूर्वमें) कराया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ४८। जो मैंने (पूर्वमें) अन्य करते हुएका अनुमोदन किया कायासे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ४९।

(इन ४९ भंगोंके भीतर, पहले भंगमें कृत, कारित, अनुमोदना—ये तीन लिये हैं और उनपर मन, वचन, काय—ये तीन लगाये हैं। इसप्रकार बने हुए इस एक भंगको* '३३' की समस्यासे—संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो दो लगाए हैं। इसप्रकार बने हुए इन तीनों भंगोंको ÷'३२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनाके तीनों लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है। इन तीनों भंगोंको '३१' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाए हैं। इन तीन भंगोंको '२३' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है। ११ से १९ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो दो लगाये हैं। इन नौ भंगोंको '२२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे दो-दो लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है। इन नौ भंगोंको '२१' की संज्ञावाले भंगोंके रूपमें पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक एक लेकर उनपर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीनों भंगोंको '१३' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक-एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे दो दो लगाये हैं। इन नौ भंगोंको '१२' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तकके भंगोंमें कृत, कारित, अनुमोदनामेंसे एक एक लेकर उनपर मन, वचन, कायमेंसे एक एक लगाया है। इन नौ भंगोंको '११' की संज्ञासे पहिचाना जा सकता है। इसप्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुये।)

---

* कृत, कारित, अनुमोदना—यह तीनों लिये गये हैं सो उन्हें बतानेके लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये; और फिर मन, वचन, काय—यह तीन लिये हैं सो इन्हें बतानेके लिये उसीके पास दूसरा '३' का अंक रखना चाहिये। इसप्रकार यह '३३' की समस्या हुई।

÷ कृत, कारित, अनुमोदना तीनों लिये हैं यह बतानेके लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये; और फिर मन, वचन, कायमेंसे दो लिये हैं यह बतानेके लिये '३' के पास '२' का अंक रखना चाहिये। इसप्रकार '३२' की संज्ञा हुई।

(आर्या)

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं
कायेन चेति १ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं
च वाचा चेति २ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं
मनसा च कायेन चेति ३ । न करोमि न कारयामि न
वाचा च कायेन चेति ४ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं
मनसा चेति ५ । न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—मैंने जो मोहसे अथवा अज्ञानसे (भूत कालमें) कर्म किये हैं, उन कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही (-निजसे ही-) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इसप्रकार ज्ञानी अनुभव करता है)।

भावार्थः—भूत कालमें किये गये कर्मको ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्माका अनुभव करे, इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहनेका प्रयोजन इसप्रकार है:—जैसे, किसीने पहले धन कमाकर घरमें रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया तब उसे भोगनेका अभिप्राय नहीं रहा; उस समय, भूत कालमें जो धन कमाया था वह नहीं कमानेके समान ही है। इसी प्रकार, जीवने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फलमें लीन न हुआ, तब भूतकालमें जो कर्म बाँधा था वह नहीं बाँधेके समान मिथ्या ही है। २२६।

इसप्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (अर्थात् प्रतिक्रमणकी विधि) समाप्त हुआ।

(अब टीकामें आलोचनाकल्प कहते हैं:—)

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायसे। १।

मैं (वर्तमानमें कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे। २। मैं (वर्तमानमें) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, तथा कायसे। ३। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायसे। ४।

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे। ५।

चेति ६। न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ७। न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ८। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ९। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १०। न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति ११। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १२। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १३। न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति १४। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १५। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १६। न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति १७। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १८। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १९। न करोमि न कारयामि मनसा चेति २०। न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २१। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २२। न करोमि

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे। ६। मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे। ७।

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे। ८। न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे। ९। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे, वचनसे तथा कायासे। १०।

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा वचनसे। ११। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे। १२। न तो मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा वचनसे। १३। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे तथा कायासे। १४। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायासे। १५। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे तथा कायासे। १६। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचनसे तथा कायासे। १७। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायासे। १८। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे तथा कायासे। १९।

न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मनसे। २०। न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे। २१। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, मनसे। २२। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचनसे। २३। न मैं करता हूँ, न अन्य करते

न कारयामि वाचा चेति २३। न करोमि न
चेति २४। न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं
न करोमि न कारयामि कायेन चेति २६। न करोमि न
जानामि कायेन चेति २७। न कारयामि न
चेति २८। न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति
मनसा च वाचा च कायेन चेति ३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं
वाचा च कायेन चेति ३१। न करोमि मनसा च वाचा चेति
मनसा च वाचा चेति ३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं
चेति ३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५। न
कायेन चेति ३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च
न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८। न कारयामि वाचा च
न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४०। न
चेति ४१। न कारयामि मनसा चेति ४२। न कुर्वन्तमप्यन्यं
मनसा चेति ४३। न करोमि वाचा चेति ४४। न कारयामि वाचा चेति [illegible]

हुएका अनुमोदन करता हूँ, वचनसे। २४। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका [illegible]
करता हूँ, वचनसे। २५। न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, कायासे। २६। न मैं कराता हूँ न
अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ, कायासे। २७। न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुएका
अनुमोदन करता हूँ, कायासे। २८।

न मैं करता हूँ मनसे, वचनसे तथा कायासे। २९। न मैं कराता हूँ मनसे, वचनसे
तथा कायासे। ३०। मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन नहीं करता मनसे, वचनसे तथा कायासे
। ३१।

न तो मैं करता हूँ मनसे तथा वचनसे। ३२। न मैं कराता हूँ मनसे तथा वचनसे
। ३३। न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा वचनसे। ३४। न मैं करता
हूँ मनसे तथा कायासे। ३५। न मैं कराता हूँ मनसे तथा कायासे। ३६। न मैं अन्य करते
हुएका अनुमोदन करता हूँ मनसे तथा कायासे। ३७। न मैं करता हूँ वचनसे तथा कायासे
। ३८। न मैं कराता हूँ वचनसे तथा कायासे। ३९। न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता
हूँ वचनसे तथा कायासे। ४०।

न मैं करता हूँ मनसे। ४१। न मैं कराता हूँ मनसे। ४२। न मैं अन्य करते हुएका
अनुमोदन करता हूँ मनसे। ४३। न मैं करता हूँ वचनसे। ४४। न मैं कराता हूँ वचनसे [illegible]

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६ । न करोमि कायेन चेति ४७ । न कारयामि कायेन चेति ४८ । न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ४९ ।

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति २ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३ । न करिष्यामि न कारयिस्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४ ।

न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ वचनसे । ४६ । न मैं करता हूँ कायासे । ४७ । न मैं कराता हूँ कायासे । ४८ । न मैं अन्य करते हुएका अनुमोदन करता हूँ कायासे । ४९ । (इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान आलोचनामें भी ४९ भंग कहे ।)

अब इस कथनका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(निश्चयचारित्रको अंगीकार करनेवाला कहता है कि—) मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयमान (उदयमें आता हुआ) कर्म उस सबकी आलोचना करके (–उन सर्व कर्मोंकी आलोचना करके–) मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थः—वर्तमान कालमें कर्मका उदय आता है उसके विषयमें ज्ञानी यह विचार करता है कि—पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं । मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ । उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है । उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्तिके द्वारा मैं इस उदयागत कर्मको देखने–जाननेवाला हूँ । मैं अपने स्वरूपमें ही प्रवर्तमान हूँ । ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है । २२७ ।

इसप्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ ।

(अब टीकामें प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं:—)

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि:—)

मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे । १ । मैं (भविष्यमें कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे । २ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे । ३ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे । ४ ।

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं
न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं
न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि
न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च
न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च
न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च
चेति १० । न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च
न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा
न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा
न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति १४ ।
न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १५ । न
न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १६ । न करिष्यामि
न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति १७ । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं
समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १८ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं
समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १९ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे । ५ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे । ६ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे । ७ ।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे । ८ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे । ९ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे, वचनसे तथा कायसे । १० ।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे तथा वचनसे । ११ । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे । १२ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा वचनसे । १३ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे तथा कायसे । १४ । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे । १५ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे तथा कायसे । १६ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचनसे तथा कायसे । १७ । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे । १८ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे तथा कायसे । १९ ।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मनसे । २० । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका

चेति २० । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २१ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २२ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति २३ । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २४ । न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २५ । न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति २६ । न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २७ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २८ । न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ । न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ । न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३२ । न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३३ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ३४ । न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३५ । न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३६ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३७ । न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३८ । न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३९ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४० । न करिष्यामि मनसा चेति ४१ । न कारयिष्यामि मनसा चेति ४२ ।

अनुमोदन करूँगा, मनसे । २१ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, मनसे । २२ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचनसे । २३ । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे । २४ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, वचनसे । २५ । मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, कायसे । २६ । मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे । २७ । मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा, कायसे । २८ ।

मैं न तो करूँगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । २९ । मैं न तो कराऊँगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । ३० । मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे, वचनसे तथा कायसे । ३१ ।

मैं न तो करूँगा मनसे तथा वचनसे । ३२ । मैं न तो कराऊँगा मनसे तथा वचनसे । ३३ । मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे तथा वचनसे । ३४ । मैं न तो करूँगा मनसे तथा कायसे । ३५ । मैं न तो कराऊँगा मनसे तथा कायसे । ३६ । मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे तथा कायसे । ३७ । मैं न तो करूँगा वचनसे तथा कायसे । ३८ । मैं न तो कराऊँगा वचनसे तथा कायसे । ३९ । मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा वचनसे तथा कायसे । ४० ।

न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ४३ । न करिष्यामि वाचा
न कारयिष्यामि वाचा चेति ४५ । न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ४६ ।
न करिष्यामि कायेन चेति ४७ । न कारयिष्यामि कायेन चेति ४८ । न कुर्वंतमप्यन्यं
समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ४९ ।

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।

मैं न तो करूंगा मनसे । ४१ । मैं न तो कराऊंगा मनसे । ४२ । मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा मनसे । ४३ । मैं न तो करूंगा वचनसे । ४४ । मैं न तो कराऊंगा वचनसे । ४५ । मैं न तो अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा वचनसे । ४६ । मैं न तो करूंगा कायसे । ४७ । मैं न तो कराऊंगा कायसे । ४८ । मैं न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूंगा कायसे । ४९ । (इसप्रकार, प्रतिक्रमणके समान ही प्रत्याख्यानमें भी ४९ भङ्ग कहे ।)

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि:—) भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान (-त्याग) करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मोंसे रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मामें आत्मासे ही (-अपनेसे ही-) निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थः—निश्चयचारित्रमें प्रत्याख्यानका विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मोंसे रहित, चैतन्यकी प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोगमें रहना सो प्रत्याख्यान है । इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूपमें रहता है ।

यहाँ तात्पर्य इसप्रकार जानना चाहिये:-व्यवहारचारित्रमें तो प्रतिज्ञामें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है । यहाँ निश्चयचारित्रकी प्रधानतासे कथन है इसलिये शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्व कर्म आत्माके दोषस्वरूप हैं । उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामोंका—तीनों कालके कर्मोंका—प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्माके ज्ञानश्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होनेके विधान द्वारा निष्प्रमाद दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करनेके सन्मुख होता है । यह, ज्ञानीका कार्य है । २२८ ।

इसप्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ ।

अब समस्त कर्मोंके संन्यास (-त्याग) की भावनाको नचानेके सम्बन्धका कथन समाप्त करते हुए, कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

समस्तमित्येवमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥ २२९ ॥

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति—

(आर्या)

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥ २३० ॥

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १ । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २ । नाहम-

---

अर्थः—(शुद्धनयका आलम्बन करनेवाला कहता है कि-) पूर्वोक्त प्रकारसे तीनों कालके समस्त कर्मोंको दूर करके—छोड़कर, शुद्धनयावलम्बी (अर्थात् शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला) और विलीनमोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं अब (सर्व) विकारोंसे रहित चैतन्यमात्र आत्माका अवलम्बन करता हूँ । २२९ ।

अब समस्त कर्मफल संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

(उसमें प्रथम, उस कथनके समुच्चय-अर्थका काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—(समस्त कर्मफलकी संन्यासभावनाका करनेवाला कहता है कि—) कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जायें, मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्माका निश्चलतया संचेतन—अनुभव करता हूँ ।

भावार्थः—ज्ञानी कहता है कि—जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञाता-दृष्टारूपसे देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें, मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-दृष्टा ही होऊं ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि—अविरत, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशामें ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है, और जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है । २३० ।

(अब टीकामें समस्त कर्मफलके संन्यासकी भावनाको नचाते हैं:—

मैं (ज्ञानी होनेसे) मतिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ । (यहाँ-'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना । 'सं' उपसर्ग लगनेसे, 'संचेतना' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अर्थ यहाँ समस्त पाठोंमें समझना चाहिये ।) । १ । मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके

वधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४ । नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५ । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६ । नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७ । नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८ । नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९ । नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १० । नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११ । नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२ । नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३ । नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४ । नाहं सातवेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५ । नाहमसातवेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १६ । नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १७ । नाहं मिथ्यात्व-

---

फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन—अनुभव करता हूँ । २ । मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ३ । मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ४ । मैं केवलज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ५ ।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ६ । मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । ७ । मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । ८ । मैं केवलदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । ९ । मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य० । १० । मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । ११ । मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । १२ । मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । १३ । मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य० । १४ ।

मैं सातावेदनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १५ । मैं असातावेदनीयकर्मके०, चैतन्य० । १६ ।

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १७ । मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । १८ । मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय-

मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १८ । नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १९ । नाहमनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २० । नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २१ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २२ । नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २३ । नाहमनंतानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २४ । नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २५ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २६ । नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २७ । नाहमनंतानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २८ । नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २९ । नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३० । नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३१ । नाहमनंतानुबंधिलोभ-

---

कर्मके०, चैतन्य० । १९ । मैं अनन्तानुबन्धिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २० । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २१ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २२ । मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २३ । मैं अनन्तानुबन्धिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २४ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २५ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २६ । मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २७ । मैं अनन्तानुबन्धिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । २८ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके० चैतन्य० । २९ । मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । ३० । मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । ३१ । मैं अनन्तानुबन्धिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० । ३२ । मैं अप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०,

वधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३। नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५। नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६। नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८। नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११। नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२। नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३। नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४। नाहं सातवेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५। नाहमसातवेदनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १६। नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १७। नाहं मिथ्यात्व-

---

फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन—अनुभव करता हूँ। २। मैं अवधिज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। ३। मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। ४। मैं केवलज्ञानावरणीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। ५।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। ६। मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। ७। मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। ८। मैं केवलदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। ९। मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्मके०, चैतन्य०। १०। मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। ११। मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। १२। मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। १३। मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मके०, चैतन्य०। १४।

मैं सातावेदनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। १५। मैं असातावेदनीयकर्मके०, चैतन्य०। १६।

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। १७। मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके०, चैतन्य०। १८। मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीय-

मात्मानमेव संचेतये ४८। नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५०। नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५१। नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५२। नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५३। नाहं द्वींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५४। नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५५। नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६। नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७। नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८। नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९। नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६०। नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६१। नाहं कार्माणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२। नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३। नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४। नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५। नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे,

---

मैं नरकगतिनामकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। ४९। मैं तिर्यंचगतिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५०। मैं मनुष्यगतिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५१। मैं देवगतिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५२। मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५३। मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५४। मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५५। मैं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५६। मैं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य०। ५७। मैं औदारिकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। ५८। मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। ५९। मैं आहारकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। ६०। मैं तैजसशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। ६१। मैं कार्मणशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। ६२। मैं औदारिकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य०। ६३। मैं वैक्रियिकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य०। ६४। मैं आहारकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य०। ६५। मैं औदारिकशरीरबन्धननामकर्मके०, चैतन्य०। ६६। मैं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य०। ६७। मैं आहारकशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य०। ६८।

कषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव
नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे,
मात्मानमेव संचेतये ३३ । नाहं
कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३४ । नाहं
वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये
हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३६ ।
नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव
संचेतये ३७। नाहमरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-
मात्मानमेव संचेतये ३८ । नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३९ । नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं
भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४० । नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीय-
कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४१ । नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीय-
मोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४२ । नाहं पुंवेदनोकषाय-
वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४३ । नाहं नपुंसक-
वेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४४ ।
नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४५ । नाहं तिर्यगायुः-
कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४६ । नाहं मानुषायुःकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४७ । नाहं देवायुःकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मान-

---

चैतन्य० ।३३। मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।३४। मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।३५। मैं हास्यनोकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।३६। मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।३७। मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।३८। मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीय-कर्मके०, चैतन्य० ।३९। मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।४०। मैं जुगुप्सा-नोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।४१। मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।४२। मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।४३। मैं नपुंसकवेद-नोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मके०, चैतन्य० ।४४।

मैं नरक-आयुकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ ।४५। मैं तिर्यंचआयुकर्मके०, चैतन्य० ।४६। मैं मनुष्य-आयुकर्मके०, चैतन्य० ।४७। मैं देव-आयुकर्मके० चैतन्य० ।४८।

मात्मानमेव संचेतये ४८ । नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४९ । नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५० । नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५१ । नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५२ । नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५३ । नाहं द्वींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५४ । नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५५ । नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६ । नाहं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७ । नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८ । नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९ । नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६० । नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६१ । नाहं कार्माणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२ । नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३ । नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४ । नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५ । नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६ । नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे,

---

मैं नरकगतिनामकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । ४९ । मैं तिर्यंचगतिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५० । मैं मनुष्यगतिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५१ । मैं देवगतिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५२ । मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५३ । मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५४ । मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५५ । मैं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५६ । मैं पंचेन्द्रियजातिनामकर्मके०, चैतन्य० । ५७ । मैं औदारिकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य० । ५८ । मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य० । ५९ । मैं आहारकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य० । ६० । मैं तैजसशरीरनामकर्मके०, चैतन्य० । ६१ । मैं कार्मणशरीरनामकर्मके०, चैतन्य० । ६२ । मैं औदारिकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य० । ६३ । मैं वैक्रियिकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य० । ६४ । मैं आहारकशरीर-अंगोपांगनामकर्मके०, चैतन्य० । ६५ । मैं औदारिकशरीरबन्धननामकर्मके०, चैतन्य० । ६६ । मैं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य० ।६७। मैं आहारकशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य० ।६८।

चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६७ ।
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६८ । नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६९ । नाहं
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७० ।
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७१ । नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७२ । नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७३ । नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७४ । नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७५ । नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७६ । नाहं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७७ । नाहं सातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७८ । नाहं कुब्जसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७९ । नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८० । नाहं हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८१ । नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८२ । नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८३ । नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८४ । नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे,
चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८५ । नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे,

---

मैं तैजसशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य० । ६९ । मैं कार्मणशरीरबंधननामकर्मके०, चैतन्य० । ७० । मैं औदारिकशरीरसंघातनामकर्मके०, चैतन्य० । ७१ । मैं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मके०, चैतन्य० । ७२ । मैं आहारकशरीरसंघातनामकर्मके०, चैतन्य० । ७३ । मैं तैजसशरीरसंघातनामकर्मके०, चैतन्य० । ७४ । मैं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मके०, चैतन्य० । ७५ । मैं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ७६ । मैं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ७७ । मैं सातिकसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ७८ । मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ७९ । मैं वामनसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ८० । मैं हुंडकसंस्थाननामकर्मके०, चैतन्य० । ८१ । मैं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मके०, चैतन्य० । ८२ । मैं वज्रनाराचसंहनन-नामकर्मके०, चैतन्य० । ८३ । मैं नाराचसंहनननामकर्मके०, चैतन्य० । ८४ । मैं अर्धनाराच-संहनननामकर्मके०, चैतन्य० । ८५ । मैं कीलिकासंहनननामकर्मके०, चैतन्य० । ८६ । मैं

चैतन्यात्मानमात्मानमेव ८६ । नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहननननामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८७ । नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८८ । नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८६ । नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९० । नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६१ । नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२ । नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३ । नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४ । नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५ । नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६ । नाहमाम्लरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९७ । नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९८ । नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९६ । नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०० । नाहं सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०१ । नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०२ । नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०३ । नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०४ । नाहं पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०५ । नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०६ । नाहं कृष्णवर्ण-

---

असंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मके०, चैतन्य० ।८७। मैं स्निग्धस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० ।८८। मैं रूक्षस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ८६ । मैं शीतस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६० । मैं उष्णस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६१ । मैं गुरुस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६२ । मैं लघुस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६३ । मैं मृदुस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६४ । मैं कर्कशस्पर्शनामकर्मके०, चैतन्य० । ६५ । मैं मधुररसनामकर्मके०, चैतन्य० । ६६ । मैं आम्लरसनामकर्मके०, चैतन्य० । ६७ । मैं तिक्तरसनामकर्मके०, चैतन्य० । ६८ । मैं कटुकरसनामकर्मके०, चैतन्य० । ६६ । मैं कषायरसनामकर्मके०, चैतन्य० । १०० । मैं सुरभिगंधनामकर्मके०, चैतन्य० । १०१ । मैं असुरभिगंधनामकर्मके०, चैतन्य० । १०२ । मैं शुक्लवर्णनामकर्मके०, चैतन्य० । १०३ । मैं रक्तवर्णनामकर्मके०, चैतन्य० । १०४ । मैं पीतवर्णनामकर्मके०, चैतन्य । १०५ । मैं हरितवर्णनामकर्मके०, चैतन्य० । १०६ । मैं कृष्णवर्णनामकर्मके०, चैतन्य० । १०७ । मैं नरकगत्यानुपूर्वी-

नामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०७। नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०८। नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १११। नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११२। नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११३। नाहमुपघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११८। नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११९। नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२०। नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२१। नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२७। नाहं

नामकर्मके०, चैतन्य०। १०८। मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वीनामकर्मके०, चैतन्य०। १०९। मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मके०, चैतन्य०। ११०। मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मके०, चैतन्य०। १११। मैं निर्माणनामकर्मके०, चैतन्य०। ११२। मैं अगुरुलघुनामकर्मके०, चैतन्य०। ११३। मैं उपघातनामकर्मके०, चैतन्य०। ११४। मैं परघातनामकर्मके०, चैतन्य०। ११५। मैं आतपनामकर्मके०, चैतन्य०। ११६। मैं उद्योतनामकर्मके०, चैतन्य०। ११७। मैं उच्छ्वासनामकर्मके०, चैतन्य०। ११८। मैं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मके०, चैतन्य०। ११९। मैं अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मके०, चैतन्य०। १२०। मैं साधारणशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। १२१। मैं प्रत्येकशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। १२२। मैं स्थावरनामकर्मके०, चैतन्य०। १२३। मैं त्रसनामकर्मके०, चैतन्य०। १२४। मैं सुभगनामकर्मके०, चैतन्य०। १२५। मैं दुर्भगनाम-

दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२८। नाहं शुभनाम-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२९। नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३०। नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३१। नाहं बादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३५। नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३८। नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३९। नाहमयशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४०। नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४१। नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४३। नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४४। नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये

कर्मके०, चैतन्य०। १२६। मैं सुस्वरनामकर्मके०, चैतन्य०। १२७। मैं दुःस्वरनामकर्मके०, चैतन्य०। १२८। मैं शुभनामकर्मके०, चैतन्य०। १२९। मैं अशुभनामकर्मके०, चैतन्य०। १३०। मैं सूक्ष्मशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। १३१। मैं बादरशरीरनामकर्मके०, चैतन्य०। १३२। मैं पर्याप्तनामकर्मके०, चैतन्य०। १३३। मैं अपर्याप्तनामकर्मके०, चैतन्य०। १३४। मैं स्थिरनामकर्मके०, चैतन्य०। १३५। मैं अस्थिरनामकर्मके०, चैतन्य०। १३६। मैं आदेयनामकर्मके०, चैतन्य०। १३७। मैं अनादेयनामकर्मके०, चैतन्य०। १३८। मैं यशःकीर्तिनामकर्मके०, चैतन्य०। १३९। मैं अयशःकीर्तिनामकर्मके०, चैतन्य०।१४०। मैं तीर्थंकरनामकर्मके०, चैतन्य०। १४१।

मैं उच्चगोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। १४२। मैं नीचगोत्रकर्मके०, चैतन्य०। १४३।

मैं दानांतरायकर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। १४४। मैं लाभांतरायकर्मके०, चैतन्य०। १४५। मैं भोगान्तरायकर्मके०, चैतन्य०। १४६। मैं उपभोगांतरायकर्मके०, चैतन्य०। १४७। मैं वीर्यांतरायकर्मके फलको नहीं भोगता,

१४५ । नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४६ । नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४७ । नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४८ ।

(वसंततिलका)

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं
सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥ २३१ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ । १४८ । (इसप्रकार ज्ञानी सकल कर्मोंके फलके संन्यासकी भावना करता है) ।

(यहाँ भावनाका अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोगका अभ्यास करना है । जब जीव सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ' । परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आने पर उनसे होनेवाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगोंके द्वारा कर्मचेतनाके त्यागकी भावना करके तथा समस्त कर्मोंका फल भोगनेके त्यागकी भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्माको ही भोगना शेष रह जाता है । अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थावाले जीवके ज्ञानश्रद्धानमें निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त करके एकाग्र चित्तसे ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र अवस्थामें उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभावसे श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है । उस समय इस भावनाका फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है सो होता है । पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न रहता है ।)

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः— (सकल कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञानचेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि—) पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मके फलका संन्यास करनेसे मैं चैतन्यलक्षण आत्मतत्त्वको अतिशयतया भोगता हूँ और उसके अतिरिक्त अन्य सर्व क्रियामें विहारसे मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्वके उपभोगके अतिरिक्त अन्य जो उपयोगकी क्रिया—विभावरूप क्रियामें मेरी परिणति विहार—प्रवृत्ति नहीं करती); इसप्रकार आत्मतत्त्वके उपभोगमें

(वसंततिलका)

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥ २३२ ॥

(स्रग्धरा)

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥ २३३ ॥

अचल ऐसे मुझे, यह कालकी आवली जो कि प्रवाहरूपसे अनन्त है वह, आत्मतत्त्वके उपभोगमें ही वहती रहे; (उपयोगकी प्रवृत्ति अन्यमें कभी भी न जाये)।

भावार्थः—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है। और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावनासे केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करनेका परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसीका साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहार-चारित्र शुभकर्मको बाँधता है, वह मोक्षका उपाय नहीं है। २३१।

अब पुनः काव्य कहते हैं:—

अर्थः—पहले अज्ञानभावसे उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षोंके फलको जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और वास्तवमें अपनेसे ही (—आत्मस्वरूपसे ही) तृप्त है, वह पुरुष, जो वर्तमानकालमें रमणीय है और भविष्यकालमें भी जिसका फल रमणीय है ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशांतरको प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार-अवस्थामें कभी नहीं हुई थी ऐसी भिन्न प्रकारकी कर्मरहित स्वाधीन सुखमय दशाको प्राप्त होता है)।

भावार्थः—ज्ञानचेतनाकी भावनाका फल यह है। उस भावनासे जीव अत्यन्त तृप्त रहता है—अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्यमें केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मोंसे रहित मोक्ष-अवस्थाको प्राप्त होता है। २३२।

'पूर्वोक्त रीतिसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्यागकी भावना कर[illegible]ज्ञानचेतनाके प्रलयको प्रगटतया नचाकर, अपने स्वभावको पूर्ण कर[illegible] चेतनाको नचा[illegible] ज्ञानीजन सदाकाल आनन्दरूप रहो'—इस उपदेशका दर्शक का[illegible] हैं:—

(वंशस्थ)

इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद्-
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्-
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥ २३४ ॥

अर्थ:—ज्ञानी जन, अविरतपनेसे कर्मसे और कर्मफलसे विरक्तिको अत्यन्त भा कर, (अर्थात् कर्म और कर्मफलके प्रति अत्यन्त विरक्त भावको निरन्तर भा कर), (इस भाँति) समस्त अज्ञानचेतनाके नाशको स्पष्टतया नचाकर, निजरससे प्राप्त अपने स्वभावको पूर्ण करके, अपनी ज्ञानचेतनाको आनन्दपूर्वक नचाते हुए अबसे सदाकाल प्रशमरस पियो (अर्थात् कर्मके अभावरूप आत्मिकरसको—अमृतरसको अभीसे लेकर अनन्त काल तक पिओ। इसप्रकार ज्ञानीजनोंको प्रेरणा की है)।

भावार्थ:—पहले तो त्रिकाल सम्बन्धी कर्मके कर्तृत्वरूप कर्मचेतनाके त्यागकी भावना (४९ भंगपूर्वक) कराई। और फिर १४८ कर्मप्रकृतियोंके उदयरूप कर्मफलके त्यागकी भावना कराई। इसप्रकार अज्ञानचेतनाका प्रलय कराकर ज्ञानचेतनामें प्रवृत्त होनेका उपदेश दिया है। यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप—अपने स्वभावकी अनुभवरूप—है। ज्ञानीजन सदा उसका उपभोग करो—ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है। २३३।

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है, इसलिये ज्ञानको कर्तृत्वभोक्तृत्वसे भिन्न बताया, अब आगेकी गाथाओंमें अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्योंके भावोंसे ज्ञानको भिन्न बतायेंगे। पहले उन गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—यहाँसे अब (इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें आगेकी गाथाओंमें यह कहते हैं कि—) समस्त वस्तुओंके भिन्नत्वके निश्चय द्वारा पृथक् किया गया ज्ञान, पदार्थोंके विस्तारके साथ गुंथित होनेसे (अनेक पदार्थोंके साथ, ज्ञेयज्ञानसम्बन्धके कारण, एक जैसा दिखाई देनेसे) उत्पन्न होनेवाली (अनेक प्रकारकी) क्रियासे रहित एक ज्ञानक्रियामात्र, अनाकुल (सर्व आकुलतासे रहित) और देदीप्यमान होता हुआ, निश्चल रहता है।

भावार्थ:—आगामी गाथाओंमें ज्ञानको स्पष्टतया सर्व वस्तुओंसे भिन्न बतलाते हैं। २३४।

अब इसी अर्थकी गाथायें कहते हैं:—

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३९० ॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥ ३९१ ॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥ ३९२ ॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ३९३ ॥
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ३९४ ॥

गाथा ३९०–४०४

अन्वयार्थः—[शास्त्रं] शास्त्र [ज्ञानं न भवति] ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शास्त्रं किंचित् न जानाति] शास्त्र कुछ जानता नहीं है (वह जड़ है), [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शास्त्रं अन्यत्] शास्त्र अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव जानते—कहते हैं। [शब्दः ज्ञानं न भवति] शब्द ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शब्दः किंचित् न जानाति] शब्द कुछ जानता

रे ! शास्त्र है नहिं ज्ञान क्योंकी शास्त्र कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु शास्त्र अन्य–प्रभू कहे ॥ ३९० ॥
रे ! शब्द है नहिं ज्ञान, क्योंकी शब्द कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु शब्द अन्य–प्रभू कहे ॥ ३९१ ॥
रे ! रूप है नहिं ज्ञान, क्योंकी रूप कुछ जाने नहीं ।
इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु रूप अन्य–प्रभू कहे ॥ ३९२ ॥
रे ! वर्ण है नहिं ज्ञान, क्योंकी वर्ण कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु वर्ण अन्य–प्रभू कहे ॥ ३९३ ॥
रे ! गंध है नहिं ज्ञान, क्योंकी गंध कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु गंध अन्य–प्रभू कहे ॥ ३९४ ॥

ण रसो दु हवइ णाणं जम्हा दु रसो ण याणए
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥
फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ १९६ ॥
कम्मं णाणं ण हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ १९७ ॥
धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ १९८ ॥
णाणमधम्मो ण हवइ जम्हाधम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥ १९९ ॥

नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [शब्दं अन्यं] शब्द अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव जानते हैं—कहते हैं। [रूपं ज्ञानं न भवति] रूप ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [रूपं किंचित् न जानाति] रूप कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [रूपं अन्यत्] रूप अन्य है—[जिनाः विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [वर्णः ज्ञानं न भवति] वर्ण ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [वर्णः किंचित् न जानाति] वर्ण कुछ जानता नहीं

रे ! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकी रस जु कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य रस-जिनवर कहे ॥ १९५ ॥
रे ! स्पर्श है नहिं ज्ञान, क्योंकी स्पर्श कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु स्पर्श अन्य-प्रभू कहे ॥ १९६ ॥
रे ! कर्म है नहिं ज्ञान, क्योंकी कर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु कर्म अन्य-जिनवर कहे ॥ १९७ ॥
रे ! धर्म नहिं है ज्ञान, क्योंकी धर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु धर्म अन्य-जिनवर कहे ॥ १९८ ॥
नहिं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य अधर्म अन्य-जिनवर कहे ॥ १९९ ॥

कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥ ४०० ॥
आयासं पि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥ ४०१ ॥
णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥ ४०२॥
जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ ४०३ ॥
णाणं सम्मादिट्ठं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥ ४०४ ॥

है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है [वर्णं अन्यं] वर्ण अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [गंधः ज्ञानं न भवति] गंध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गंधः किंचित् न जानाति] गंध कुछ जानती नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [गंधं अन्यं] गंध अन्य है— [जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [रसः तु ज्ञानं न भवति] रस ज्ञान नहीं है [यस्मात् तु] क्योंकि [रसः किंचित् न जानाति] रस कुछ जानता नहीं है,

---

रे ! काल है नहिं ज्ञान, क्योंकी काल कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु काल अन्य–प्रभू कहे ॥ ४०० ॥
आकाश है नहिं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं ।
इस हेतुसे आकाश अन्य रु ज्ञान अन्य–प्रभू कहे ॥ ४०१ ॥
रे ! ज्ञान अध्यवसान नहिं, क्योंकी अचेतन रूप है ।
इस हेतुसे है ज्ञान अन्य रु अन्य अध्यवसान है ॥ ४०२ ॥
रे ! सर्वदा जाने हि इससे जीव ज्ञायक ज्ञानि है ।
अरु ज्ञान है ज्ञायकसे अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है ॥ ४०३ ॥
सम्यक्त्व, अरु संयम, तथा पूर्वांगगत सब सूत्र जो ।
धर्माधरम, दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञानको ॥ ४०४ ॥

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विंदंति ॥ ३९० ॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विंदंति ॥ ३९१ ॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विंदंति ॥ ३९२ ॥
वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विंदंति ॥ ३९३ ॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विंदंति ॥ ३९४ ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विंदंति ॥ ३९५ ॥

[तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] और रस अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [स्पर्शः ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः किंचित् न जानाति] स्पर्श कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किंचित् न जानाति] कर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्म (अर्थात् धर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किंचित् न जानाति] धर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [धर्मं अन्यं] धर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [अधर्मः ज्ञानं न भवति] अधर्म (अर्थात् अधर्मास्तिकाय) ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अधर्मः किंचित् न जानाति] अधर्म कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [अधर्मं अन्यम्] अधर्म अन्य है–[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [कालः ज्ञानं न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कालः किंचित् न

स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विंदंति ॥ ३९६ ॥
कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विंदंति ॥ ३९७ ॥
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विंदंति ॥ ३९८ ॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विंदंति ॥ ३९९ ॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं कालं जिना विंदंति ॥ ४०० ॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् ।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विंदंति ॥ ४०१ ॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥ ४०२ ॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम् ॥ ४०३ ॥

जानाति] काल कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [कालं अन्यं] काल अन्य है—[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [आकाशम् अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किंचित् न जानाति] आकाश कुछ जानता नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है, [आकाशम् अन्यत्] आकाश अन्य है—[जिनाः विंदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं। [अध्यवसानं ज्ञानम् न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसानम् अचेतनं] अध्यवसान अचेतन है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानम् अन्यत्] ज्ञान अन्य है [तथा अध्यवसानं अन्यत्] तथा अध्यवसान अन्य है (—ऐसा जिनदेव कहते हैं)।

[यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] (जीव) निरन्तर जानता है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञायकः जीवः तु] ज्ञायक ऐसा जीव [ज्ञानी] ज्ञानी

ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम् ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः ॥

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न
त्वात्, ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो
रेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न
चेतनत्वात्, ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो
व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः
ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो
ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो
न कालो ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः । नाकाशं

(–ज्ञानवाला, ज्ञानस्वरूप) है, [ज्ञानं च] और ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं] अव्यतिरिक्त है ('अभिन्न' है, जुदा नहीं) [ज्ञातव्यम्] ऐसा जानना चाहिये ।

[बुधाः] बुध पुरुष (अर्थात् ज्ञानी जन) [ज्ञानं] ज्ञानको ही [सम्यग्दृष्टिं तु] सम्यग्दृष्टि, [संयमं] (ज्ञानको ही) संयम, [अंगपूर्वगतम् सूत्रम्] अंगपूर्वगत सूत्र, [धर्माधर्मं च] और धर्म–अधर्म (पुण्य–पाप) [तथा प्रव्रज्याम्] तथा दीक्षा [अभ्युपयांति] मानते हैं ।

टीकाः—श्रुत (अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत) ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और श्रुतके व्यतिरेक (अर्थात् भिन्नता) है । शब्द ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द (पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है,) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और शब्दके व्यतिरेक (अर्थात् भेद) है । रूप ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और रूपके व्यतिरेक है (अर्थात् दोनों भिन्न हैं) । वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और वर्णके व्यतिरेक है (अर्थात् ज्ञान अन्य है, वर्ण अन्य है) । गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और गंधके व्यतिरेक (–भेद, भिन्नता) है । रस ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और रसके व्यतिरेक है । स्पर्श ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श (पुद्गलद्रव्यका गुण है,) अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और स्पर्शके व्यतिरेक है । कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कर्मके व्यतिरेक है । धर्म (-धर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और धर्मके व्यतिरेक है । अधर्म (-अधर्मद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म अचेतन है, इसलिये ज्ञानके और अधर्मके व्यतिरेक है । काल

ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः । नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः । इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात्, ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः । न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वाचतो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः ।

(-कालद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और कालके व्यतिरेक है। आकाश (-आकाशद्रव्य) ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और आकाशके व्यतिरेक है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिये ज्ञानके और (कर्मोदयकी प्रवृत्तिरूप) अध्यवसानके व्यतिरेक है। इसप्रकार यों ज्ञानका समस्त परद्रव्योंके साथ व्यतिरेक निश्चयसाधित देखना चाहिए (अर्थात् निश्चयसे सिद्ध हुआ समझना—अनुभव करना चाहिये)।

अब, जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञानके और जीवके अव्यतिरेक (-अभेद) है। और ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक किंचित्मात्र भी शंका करने योग्य नहीं है (अर्थात् ज्ञानकी जीवसे भिन्नता होगी ऐसी जरा भी शंका करने योग्य नहीं है), क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है। ऐसा (ज्ञान जीवसे अभिन्न) होनेसे, ज्ञान ही सम्यक्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (अर्थात् पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (-दीक्षा, निश्चयचारित्र) है—इसप्रकार ज्ञानका जीवपर्यायोंके साथ भी अव्यतिरेक निश्चयसाधित देखना (अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना—अनुभव करना) चाहिए।

अब, इसप्रकार सर्व परद्रव्योंके साथ व्यतिरेक (भेद)के द्वारा और सर्व दर्शनादि जीवस्वभावोंके साथ अव्यतिरेक (अभेद)के द्वारा अतिव्याप्तिको और अव्याप्तिको दूर करता हुआ, अनादि विभ्रम जिसका मूल है ऐसे धर्म-अधर्मरूप (पुण्य-पापरूप, शुभ-अशुभरूप) परसमयको दूर करके, स्वयं ही प्रव्रज्यारूपको प्राप्त करके (अर्थात् स्वयं ही निश्चयचारित्ररूप दीक्षाभावको प्राप्त करके), दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थितिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, मोक्षमार्गको अपनेमें ही परिणत करके, जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभावको प्राप्त किया है ऐसा, त्याग-ग्रहणसे रहित, साक्षात् समयसारभूत, परमार्थरूप शुद्धज्ञान एक अवस्थित (-निश्चल) देखना (अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदनसे अनुभव करना) चाहिए।

भावार्थः—यहाँ ज्ञानको समस्त परद्रव्योंसे भिन्न और अपनी पर्यायोंसे अभिन्न बताया है, इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण दोष दूर हो गये। आत्माका लक्षण उपयोग है, और उपयोगमें ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है इसलिये

एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः,
धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि
द्रष्टव्यः । अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण
अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं
स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिरूपं स्वसमयमवाप्य

वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओंमें है इसलिये अव्याप्तिवाला नहीं है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहनेसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसे ही आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमेंसे कितने ही तो छद्मस्थके अनुभवगोचर ही नहीं हैं; उन धर्मोंके कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमेंसे कितने ही तो —अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो—अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं इसलिये उनके कहनेसे पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्यके निमित्तसे हुये हैं उन्हें कहनेसे परमार्थभूत आत्माका शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिये ज्ञानके कहनेसे ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको ही पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञानको आत्माका लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानको ही आत्मा कहा है, क्योंकि अभेदविवक्षामें गुणगुणीका अभेद होनेसे, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षामें चाहे ज्ञान कहो या आत्मा—कोई विरोध नहीं है; इसलिये यहाँ ज्ञान कहनेसे आत्मा ही समझना चाहिये।

टीकामें अन्तमें यह कहा गया है कि—अपने अनादि अज्ञानसे होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, उस स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गमें अपनेको परिणमित करके, जो सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावको प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिये। यहाँ 'देखना' तीन प्रकारसे समझना चाहिये। शुद्धनयका ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानका श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकारका देखना है। वह अविरत आदि अवस्थामें भी होता है। ज्ञान-श्रद्धान होनेके बाद बाह्य सर्व परिग्रहका त्याग करके उसका (पूर्ण ज्ञानका) अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यान में लेकर चित्तको एकाग्र-स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकारका देखना है। इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है।

मात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनस्वभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमवस्थितं द्रष्टव्यम् ।

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ २३५ ॥

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।

जहाँ तक उस प्रकारके अभ्याससे केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है। और जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है सो वह तीसरे प्रकारका देखना है। उस स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसलिये यह तीसरे प्रकारका देखना पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अन्य द्रव्योंसे भिन्न, अपनेमें ही नियत, पृथक् वस्तुत्वको धारण करता हुआ (-वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होनेसे स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकताको धारण करता हुआ), ग्रहण-त्यागसे रहित, यह अमल (-रागादिक मलसे रहित) ज्ञान इसप्रकार अवस्थित (-निश्चल) अनुभवमें आता है कि जैसे आदि-मध्य-अन्तरूप विभागोंसे रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभाके द्वारा देदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनरूप महिमा नित्य-उदित रहे (शुद्ध ज्ञानकी पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भावार्थः—ज्ञानका पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणोंसे सहित प्रगट होता है; इसलिये उसकी महिमाको कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है। २३५।

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका आत्मामें धारण करना सो यही ग्रहण करनेयोग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागनेयोग्य सब कुछ त्याग किया है'—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जिसने सर्व शक्तियोंको समेट लिया है (-अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे

यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह

(अनुष्टुभ्)

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥ २३७ ॥

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ उ ॥ ४०५ ॥
ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं ।
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६॥

पूर्ण आत्माका आत्मामें धारण करना सो ही छोड़नेयोग्य सब कुछ छोड़ा है और ग्रहण करने योग्य ग्रहण किया है।

भावार्थः—पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियोंका समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मामें धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागनेयोग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है। २३६।

'ऐसे ज्ञानको देह ही नहीं है'—इस अर्थका, आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार (पूर्वोक्त रीतिसे) ज्ञान परद्रव्यसे पृथक् अवस्थित (—निश्चल रहा हुआ) है; वह (ज्ञान) आहारक (अर्थात् कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला) कैसे हो सकता है कि जिससे उसके देहकी शंका की जा सके ? (ज्ञानके देह हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसके कर्म-नोकर्मरूप आहार ही नहीं है)। २३७।

अब इस अर्थको गाथाओंमें कहते हैं:—

यों आतमा जिसका अमूर्तिक वो न आहारक बने।
पुद्गलमयी आहार यों आहार तो मूर्तिक अरे ॥ ४०५ ॥
जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्रसिक है ॥ ४०६ ॥

तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिह्णए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचि वि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम् ।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥ ४०५ ॥
नापि शक्यते ग्रहीतुं यत् न विमोक्तुं यच्च यत्परद्रव्यम् ।
स कोऽपि च तस्य गुणः प्रायोगिको वैस्रसो वाऽपि ॥ ४०६ ॥
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥ ४०७ ॥

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुंचति च, प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात्

गाथा ४०५–४०७

अन्वयार्थः—[**एवम्**] इसप्रकार [**यस्य आत्मा**] जिसका आत्मा [**अमूर्तः**] अमूर्तिक है [**सः खलु**] वह वास्तवमें [**आहारकः न भवति**] आहारक नहीं है; [**आहारः खलु**] आहार तो [**मूर्तः**] मूर्तिक है [**यस्मात्**] क्योंकि [**सः तु पुद्गलमयः**] वह पुद्गलमय है।

[**यत् परद्रव्यम्**] जो परद्रव्य है [**न अपि शक्यते ग्रहितुं यत्**] वह ग्रहण नहीं किया जा सकता [**न विमोक्तुं यत् च**] और छोड़ा नहीं जा सकता; [**सः कः अपि च**] ऐसा ही कोई [**तस्य**] उसका (–आत्माका) [**प्रायोगिकः वा अपि वैस्रसः गुणः**] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक गुण है।

[**तस्मात् तु**] इसलिये [**यः विशुद्धः चेतयिता**] जो विशुद्ध आत्मा है [**सः**] वह [**जीवाजीवयोः द्रव्ययोः**] जीव और अजीव द्रव्योंमें (–परद्रव्योंमें) [**किंचित् न एव गृह्णाति**] कुछ भी ग्रहण नहीं करता [**किंचित् अपि न एव विमुंचति**] तथा कुछ भी त्याग नहीं करता।

टीका:—ज्ञान परद्रव्यको किंचित्मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न छोड़ता है, क्योंकि प्रायोगिक (अर्थात् पर निमित्तसे उत्पन्न) गुणकी सामर्थ्यसे तथा वैस्रसिक (अर्थात्

इस हेतुसे जो शुद्ध आत्मा वो नहीं कुछ भी ग्रहे।
छोड़े नहीं कुछ भी अहो ! परद्रव्य जीव अजीवमें ॥ ४०७ ॥

वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः । ततो ज्ञानं अतो ज्ञानस्य देहो न शंकनीयः ।

(अनुष्टुभ्)

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणम् ॥ २३८ ॥

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ॥ ४०८ ॥

स्वाभाविक) गुणकी सामर्थ्यसे ज्ञानके द्वारा परद्रव्यका ग्रहण तथा त्याग करना अशक्य है। और, (कर्म-नोकर्मादिरूप) परद्रव्य ज्ञानका—अमूर्तिक आत्मद्रव्यका—आहार नहीं है, क्योंकि वह मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है; (अमूर्तिकके मूर्तिक आहार नहीं होता)। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है। इसलिये ज्ञानके देहकी शंका न करनी चाहिये ।

(यहाँ 'ज्ञान'से 'आत्मा' समझना चाहिये; क्योंकि, अभेद विवक्षासे लक्षणमें ही लक्ष्यका व्यवहार किया जाता है। इस न्यायसे टीकाकार आचार्यदेव आत्माको ज्ञान ही कहते आये हैं।)

भावार्थः—ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक है, इसलिये परमार्थतः आत्माके पुद्गलमय आहार नहीं है। और आत्माका ऐसा ही स्वभाव है कि वह परद्रव्यको कदापि ग्रहण नहीं करता,—स्वभावरूप परिणमित हो या विभावरूप परिणमित हो,—अपने ही परिणामका ग्रहणत्याग होता है, परद्रव्यका ग्रहण-त्याग तो किंचित्मात्र भी नहीं होता ।

इसप्रकार आत्माके आहार न होनेसे उसके देह ही नहीं है।

जब कि आत्माके देह है ही नहीं, इसलिये पुद्गलमय देहस्वरूप लिंग (—वेष, बाह्य चिह्न) मोक्षका कारण नहीं है—इस अर्थका, आगामी गाथाओंका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इसप्रकार शुद्धज्ञानके देह ही नहीं है, इसलिये ज्ञाताको देहमय चिह्न मोक्षका कारण नहीं है। २३८।

अब इसी अर्थको गाथाओं द्वारा कहते हैं:—

मुनिलिंगको अथवा गृहस्थीलिंगको बहुभाँतिके ।
ग्रहकर कहत है मूढ़जन, 'यह लिंग मुक्तीमार्ग है' ॥ ४०८ ॥

ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुचित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥ ४०९ ॥

पाषंडिलिंगानि वा गृहिलिंगानि वा बहुप्रकाराणि।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥ ४०८ ॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनिर्ममा अर्हंतः।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥ ४०९ ॥

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते। तदनुपपन्नं; सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति

गाथा ४०८-४०९

अन्वयार्थः—[**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकारके [**पाषंडिलिंगानि वा**] मुनिलिंगोंको [**गृहिलिंगानि वा**] अथवा गृहीलिंगोंको [**गृहीत्वा**] ग्रहण करके [**मूढाः**] मूढ (अज्ञानी) जन [**वदंति**] यह कहते हैं कि '[**इदं लिंगम्**] यह (बाह्य) लिंग [**मोक्षमार्गः इति**] मोक्षमार्ग है।'

[**तु**] परन्तु [**लिंगं**] लिंग [**मोक्षमार्गः न भवति**] मोक्षमार्ग नहीं है; [**यत्**] क्योंकि [**अर्हंतः**] अर्हन्तदेव [**देहनिर्ममाः**] देहके प्रति निर्मम वर्तते हुये [**लिंगं मुक्त्वा**] लिंगको छोड़कर [**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते**] दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही सेवन करते हैं।

टीकाः—कितने ही लोग अज्ञानसे द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानते हुए मोहसे द्रव्यलिंगको ही ग्रहण करते हैं। यह (द्रव्यलिंगको मोक्षमार्ग मानकर ग्रहण करना सो) अनुपपन्न अर्थात् अयुक्त है; क्योंकि सभी भगवान अर्हंतदेवोंके, शुद्धज्ञानमयता होनेसे द्रव्यलिंगके आश्रयभूत शरीरके ममत्वका त्याग होता है इसलिये, शरीराश्रित द्रव्यलिंगके त्यागसे दर्शनज्ञानचारित्रकी मोक्षमार्गरूपसे उपासना देखी जाती है (अर्थात् वे शरीराश्रित द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रको मोक्षमार्गके रूपमें सेवन करते हुए देखे जाते हैं)।

यह लिंग मुक्तीमार्ग नहिं, अर्हंत निर्मम देहमें
बस लिंग तजकर ज्ञान अरु चारित्र, दर्शन सेवते ॥ ४०९ ॥

द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्
मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ।

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा बिंति ॥ ४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि ।
दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदंति ॥ ४१०॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः, शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् । दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ।

भावार्थः—यदि देहमय द्रव्यलिंग मोक्षका कारण होता तो अर्हन्तदेव [illegible] ममत्व छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन क्यों करते ? द्रव्यलिंगसे इससे यह निश्चय हुआ कि—देहमय लिंग मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थतः दर्शनज्ञान[illegible] आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ।

अब यही सिद्ध करते हैं (अर्थात् द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, दर्शन-ज्ञान-[illegible] मोक्षमार्ग है—यह सिद्ध करते हैं) :—

गाथा ४१०

अन्वयार्थः—[पाषंडिगृहिमयानि लिंगानि] मुनियों और गृहस्थके [illegible] (-चिह्न) [एषः] यह [मोक्षमार्गः न अपि] मोक्षमार्ग नहीं है; [[illegible] चारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्रको [जिनाः] जिनदेव [मोक्षमार्गं विदंति] [illegible] कहते हैं ।

टीकाः—द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह (द्रव्यलिंग) [illegible] होनेसे परद्रव्य है । दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे [illegible] स्वद्रव्य हैं ।

भावार्थः—जो मोक्ष है सो सर्व कर्मोंके अभावरूप आत्मपरिणाम (-[illegible] णाम) है, इसलिये उसका कारण भी आत्मपरिणाम ही होना चाहिये । दर्शन-[illegible] आत्माके परिणाम हैं; इसलिये निश्चयसे वही मोक्षका मार्ग है ।

मुनिलिंग अरु गृहीलिंग—ये नहिं लिंग [illegible] है ।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानको बस मोक्षमार्ग प्रभु कहे ॥ ४१०॥

यत एवम्—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

तस्मात् जहित्वा लिंगानि सागारैरनगारकैर्वा गृहीतानि ।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥ ४११ ॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ।

जो लिंग है सो देहमय है; और जो देह है वह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये आत्माके लिये देह मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थसे अन्य द्रव्यको अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता ऐसा नियम है।

जब कि ऐसा है (अर्थात् यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है और दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्षमार्ग है) तो इसप्रकार (निम्नप्रकार) से करना चाहिये—यह उपदेश देते हैं:—

गाथा ४११

अन्वयार्थः—[**तस्मात्**] इसलिये [**सागारैः**] सागारों द्वारा (-गृहस्थों द्वारा) [**अनगारकैः वा**] अथवा अणगारोंके द्वारा (मुनियोंके द्वारा) [**गृहीतानि**] ग्रहण किये गये [**लिंगानि**] लिंगोंको [**जहित्वा**] छोड़कर, [**दर्शनज्ञानचारित्रे**] दर्शनज्ञानचारित्रमें–[**मोक्षपथे**] जो कि मोक्षमार्ग है उसमें–[**आत्मानं युंक्ष्व**] तू आत्माको लगा।

टीका:—क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है; इसलिये समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शनज्ञानचारित्रमें ही, वह (दर्शनज्ञानचारित्र) मोक्षमार्ग होनेसे, उसमें ही आत्माको लगाना योग्य है—ऐसी सूत्रकी अनुमति है।

भावार्थ:—यहाँ द्रव्यलिंगको छोड़कर आत्माको दर्शनज्ञानचारित्रमें लगानेका वचन है वह सामान्य परमार्थ वचन है। कोई यह समझेगा कि यह मुनि–श्रावकके व्रतोंके छुड़ानेका उपदेश है, परन्तु ऐसा नहीं है। जो मात्र द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग जानकर वेश धारण करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगका पक्ष छुड़ानेका उपदेश दिया है कि–वेशमात्रसे (वेशमात्रसे, बाह्यव्रतमात्रसे) मोक्ष नहीं होता। परमार्थ मोक्षमार्ग तो आत्माके परिणाम जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं वही है। व्यवहार आचारसूत्रके कथनानुसार जो मुनि–श्रावकके बाह्य व्रत हैं, वे व्यवहारसे निश्चयमोक्ष-

---

यों छोड़कर सागार या अनगार-धारित लिंगको।
चारित्र-दर्शन-ज्ञानमें तू जोड़ रे! निज आत्मको ॥ ४११ ॥

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ २३९ ॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव भाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैवं ध्यायस्व तं चेतयस्व ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥ ४१२ ॥

आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि [illegible] गुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापयातिनिश्चलमात्मानं; [illegible]

मार्गके साधक हैं, उन व्रतोंको यहाँ नहीं छुड़ाया है, किन्तु यह कहा है कि उन [illegible] ममत्व छोड़कर परमार्थ मोक्षमार्गमें लगनेसे मोक्ष होता है, केवल वेशमात्रसे [illegible] नहीं होता।

अब इसी अर्थको दृढ़ करनेवाली आगामी गाथाका सूचक श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—आत्माका तत्त्व दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मक है। (अर्थात् आत्माका [illegible] दर्शन, ज्ञान और चारित्रके त्रिकस्वरूप है); इसलिये मोक्षके इच्छुक पुरुषको (यह [illegible] चारित्रस्वरूप) मोक्षमार्ग एक ही सदा सेवन करने योग्य है। २३९।

अब इसी उपदेशको गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ४१२

अन्वयार्थः—(हे भव्य!) [मोक्षपथे] तू मोक्षमार्गमें [आत्मानं स्थापय] अपने आत्माको स्थापित कर, [तं च एव ध्यायस्व] उसीका ध्यान कर, [तं चेतयस्व] उसीको चेत–अनुभव कर [तत्र एव नित्यं विहर] और उसीमें निरन्तर विहार कर; [अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः] अन्य द्रव्योंमें विहार मत कर।

टीका:—(हे भव्य!) स्वयं अर्थात् अपना आत्मा अनादि संसारसे लेकर अपनी प्रज्ञाके (-बुद्धिके) दोषसे परद्रव्यमें—रागद्वेषादिमें निरन्तर स्थित रहता हुआ भी, अपनी प्रज्ञाके गुण द्वारा ही उसमेंसे पीछे हटाकर उसे अति निश्चलता पूर्वक दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें

तूं स्थाप निजको मोक्षपथमें, ध्या, अनुभव तू उसे।
उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्यमें ॥ ४१२ ॥

समस्तचिंतांतरनिरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्यायस्व; तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व; तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृंभमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर; तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः।

(शार्दूलविक्रीडित)

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्-
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥ २४० ॥

निरन्तर स्थापित कर; तथा समस्त अन्य चिन्ताके निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका ही ध्यान कर; तथा समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके त्याग द्वारा शुद्धज्ञान-चेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रको ही चेत—अनुभव कर; तथा द्रव्यके स्वभावके वशसे (अपनेको) प्रतिक्षण जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा (अर्थात् परिणामीपनेके द्वारा तन्मय परिणामवाला (-दर्शनज्ञानचारित्रमय परिणामवाला) होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें ही विहार कर; तथा ज्ञानरूपको एकको ही अचलतया अवलम्बन करता हुआ, जो ज्ञेयरूप होनेसे उपाधिस्वरूप हैं ऐसे सर्व ओरसे फैलते हुए समस्त परद्रव्योंमें किंचित् मात्र भी विहार मत कर।

भावार्थः—परमार्थरूप आत्माके परिणाम दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं; वही मोक्षमार्ग है। उसीमें (-दर्शनज्ञानचारित्रमें ही) आत्माको स्थापित करना चाहिये, उसीका ध्यान करना चाहिये, उसीका अनुभव करना चाहिये और उसीमें विहार (प्रवर्तन) करना चाहिये, अन्य द्रव्योंमें प्रवर्तन नहीं करना चाहिये। यहाँ परमार्थसे यही उपदेश है कि—निश्चय मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिए, मात्र व्यवहारमें ही मूढ़ नहीं रहना चाहिए।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् स्थित रहता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसीका अनुभव करता है, और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष, जिसका उदय नित्य रहता है ऐसे समयके सारको (अर्थात् परमात्माके रूपको) अल्प कालमें ही अवश्य प्राप्त करता है अर्थात् उसका अनुभव करता है।

भावार्थः—निश्चयमोक्षमार्गके सेवनसे अल्प कालमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह नियम है। २४०।

(शार्दूलविक्रीडित)

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥ ४१३ ॥

पाषंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु ।
कुर्वंति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥ ४१३ ॥

'जो द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं, उन्होंने अर्थात् शुद्ध आत्माको नहीं जाना'—इसप्रकार गाथा द्वारा कहते हैं।

यहाँ प्रथम उसका सूचक काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थस्वरूप मोक्षमार्गको छोड़कर व्यवहारमार्गमें स्थापित अपने आत्माके द्वारा द्रव्यमय लिंगमें ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा), वे पुरुष तत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे रहित होते हुए अभीतक समयके सारको (अर्थात् शुद्ध आत्माको) नहीं देखते—अनुभव नहीं करते। वह समयसार शुद्ध आत्मा कैसा है ? नित्य प्रकाशमान है (अर्थात् कोई प्रतिपक्षी होकर उसके उदयका नाश नहीं कर सकता), अखण्ड है (अर्थात् जिसमें अन्य ज्ञेय आदिके निमित्त खण्ड नहीं होते), एक है (अर्थात् पर्यायोंसे अनेक अवस्थारूप होने पर भी जो एकरूपत्वको नहीं छोड़ता), अतुल (–उपमारहित) प्रकाशवाला है (क्योंकि ज्ञानप्रकाशको सूर्यादिके प्रकाशकी उपमा नहीं दी जा सकती), स्वभावप्रभाका पुंज है (अर्थात् चैतन्यप्रकाशका समूहरूप है), अमल है (अर्थात् रागादि-विकाररूपी मलसे रहित है)।

(इसप्रकार, जो द्रव्यलिंगमें ममत्व करते हैं उन्हें निश्चय-कारणसमयसारका अनुभव नहीं है; तब फिर उनको कार्यसमयसारकी प्राप्ति कहाँसे होगी ?) । २४१ ।

अब इस अर्थकी गाथा कहते हैं:—

गाथा ४१३

अन्वयार्थः—[ये] जो [बहुप्रकारेषु] बहुत प्रकारके [पाषंडिलिंगेषु वा]

बहुभाँतिके मुनिलिंग जो अथवा गृहस्थीलिंग जो ।
ममता करे, उनमें नहीं जाना 'समयके सार' को ॥ ४१३ ॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढव्यवहारमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यंति ।

(वियोगिनी)

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ॥ २४२ ॥

मुनिलिंगोंमें [गृहिलिंगेषु वा] अथवा गृहस्थलिंगोंमें [ममत्वं कुर्वंति] ममता करते हैं (अर्थात् यह मानते हैं कि यह द्रव्यलिंग ही मोक्षका दाता है); [तैः समयसारः न ज्ञातः] उन्होंने समयसारको नहीं जाना ।

टीका:—जो वास्तवमें 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (-श्रावक) हूँ' इसप्रकार द्रव्यलिंगमें ममत्वभावके द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादिरूढ़ (अनादि कालसे समागत) व्यवहारमें मूढ़ (मोही) होते हुये, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (-निश्चयनय) पर आरूढ़ न होते हुए, परमार्थसत्य (-जो परमार्थसे सत्यार्थ है ऐसे) भगवान समयसारको नहीं देखते—अनुभव नहीं करते ।

भावार्थ:—अनादिकालीन परद्रव्यके संयोगसे होनेवाले व्यवहार ही में जो पुरुष मूढ़ अर्थात् मोहित हैं, वे यह मानते हैं कि 'यह बाह्य महाव्रतादिरूप वेष ही हमें मोक्ष प्राप्त करा देगा', परन्तु जिससे भेदज्ञान होता है ऐसे निश्चयको वे नहीं जानते । ऐसे पुरुष सत्यार्थ परमात्मरूप, शुद्धज्ञानमय समयसारको नहीं देखते ।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थ:—जिनकी दृष्टि (बुद्धि) व्यवहारमें ही मोहित है ऐसे पुरुष परमार्थको नहीं जानते, जैसे जगतमें जिनकी बुद्धि तुषके ज्ञानमें ही मोहित है (मोहको प्राप्त हुई है) ऐसे पुरुष तुषको ही जानते हैं, तंदुल (-चावल) को नहीं जानते ।

भावार्थ:—जो धानके छिलकों पर ही मोहित हो रहे हैं, उन्हींको कूटते रहते हैं, उन्होंने चावलोंको जाना ही नहीं है; इसीप्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहारमें मुग्ध हो रहे हैं (अर्थात् जो शरीरादिकी क्रियामें ममत्व किया करते हैं), उन्होंने शुद्धात्मानुभवनरूप परमार्थको जाना ही नहीं है; अर्थात् ऐसे जीव शरीरादि परद्रव्यको ही आत्मा जानते हैं, वे परमार्थ आत्माके स्वरूपको नहीं जानते । २४२ ।

अब आगामी गाथाका सूचक काव्य कहते हैं:—

(स्वागता)

द्रव्यलिंगममकारमीलितै-
र्दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो
ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥ २४३ ॥

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४१४ ॥

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं भवति

अर्थः—जो द्रव्यलिंगमें ममकारके द्वारा अंध—विवेकरहित हैं, वे नहीं देखते; क्योंकि इस जगतमें द्रव्यलिंग तो वास्तवमें अन्यद्रव्यसे होता है, ही निजसे (आत्मद्रव्यसे) होता है।

भावार्थः—जो द्रव्यलिंगमें ममत्वके द्वारा अंध हैं उन्हें शुद्धात्मद्रव्यका नहीं है, क्योंकि वे व्यवहारको ही परमार्थ मानते हैं इसलिये परद्रव्यको ही हैं। २४३।

'व्यवहारनय ही मुनिलिंगको और श्रावकलिंगको—दोनोंको मोक्षमार्ग निश्चयनय किसी लिंगको मोक्षमार्ग नहीं कहता'—यह गाथा द्वारा कहते हैं:—

गाथा ४१४

अन्वयार्थः—[व्यावहारिकः नयः पुनः] व्यवहारनय [द्वे लिंगे अपि] लिंगोंको [मोक्षपथे भणति] मोक्षमार्गमें कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंगको मोक्षमार्ग कहता है); [निश्चयनयः] निश्चयनय [सर्वलिंगानि] (किसी भी) लिंगोंको [मोक्षपथे न इच्छति] मोक्षमार्गमें नहीं मानता।

टीकाः—श्रमण और श्रमणोपासकके भेदसे दो प्रकारके द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं— इसप्रकारका जो प्ररूपण-प्रकार (अर्थात् इस प्रकारकी जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है,

---

व्यवहारनय, इन लिंग द्वयको मोक्षके पथमें कहे।
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्तीपंथमें ॥ ४१४ ॥

प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थः, तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्; यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिप्रवृत्तवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्। ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते समयसारमेव न संचेतयंते; य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते एव समयसारं चेतयंते।

(मालिनी)

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥ २४४ ॥

परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्यकी अनुभवनस्वरूप है इसलिये उसको परमार्थताका अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासकके भेदोंसे अतिक्रान्त, दर्शनज्ञानमें प्रवृत्तपरिणति मात्र (-मात्र दर्शन-ज्ञानमें प्रवर्तित हुई हुयी परिणतिरूप) शुद्ध ज्ञान ही एक है—ऐसा जो निस्तुष (-निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है, क्योंकि वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्यका अनुभवनस्वरूप होनेसे उसीके परमार्थत्व है। इसलिये जो व्यवहारको ही परमार्थबुद्धि से (-परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं, वे समयसारका ही अनुभव नहीं करते; जो परमार्थको परमार्थबुद्धिसे अनुभव करते हैं, वे ही समयसारका अनुभव करते हैं।

भावार्थः—व्यवहारनयका विषय तो भेदरूप अशुद्धद्रव्य है, इसलिए वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनयका विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य है, इसलिये वही परमार्थ है। इसलिये, जो व्यवहारको ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं वे समयसारका अनुभव नहीं करते; जो परमार्थको परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं वे ही समयसारका अनुभव करते हैं (इसलिये वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं)।

'अधिक कथनसे क्या, एक परमार्थका ही अनुभव करो'—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—बहुत कथनसे और बहुत दुर्विकल्पोंसे बस होओ, बस होओ; यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थका ही निरन्तर अनुभव करो; क्योंकि निज रसके प्रसारसे पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होनेमात्र जो समयसार (-परमात्मा) से उच्च वास्तवमें दूसरा कुछ भी नहीं है (-समयसारके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है)।

भावार्थः—पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करना चाहिये; इसके अतिरिक्त वास्तवमें दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है। २४४।

(अनुष्टुभ्)

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां

[illegible] समयपाहुडमिणं पठिहूणं
[illegible] ठाही चेया सो होही उत्तमं

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं

अब अन्तिम गाथामें यह समयसार ग्रंथके अभ्यास इत्यादिका
भगवान इस ग्रन्थको पूर्ण करते हैं; उसका सूचक श्लोक पहले कहा जा रहा है—

अर्थ:—आनन्दमय विज्ञानघनको (-शुद्ध परमात्माको, समयसारको
हुआ यह एक (-अद्वितीय) अक्षय जगत्-चक्षु (-समयप्राभृत) पूर्णताको प्राप्त होता है।

भावार्थ:—यह समयप्राभृत ग्रन्थ वचनरूपसे तथा ज्ञानरूपसे—दोनों प्रकारसे जगतको अक्षय (अर्थात् जिसका विनाश न हो ऐसे) अद्वितीय नेत्र समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादिको प्रत्यक्ष दिखलाता है उसीप्रकार समयप्राभृत आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है। २४५।

अब, भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस ग्रन्थको पूर्ण करते हैं इसलिये उसकी महिमाके रूपमें उसके अभ्यास इत्यादिका फल इस गाथा में कहते हैं:—

गाथा ४१५

अन्वयार्थ:—[यः चेतयिता] जो आत्मा (-भव्य जीव) [इदं समयप्राभृतं पठित्वा] इस समयप्राभृतको पढ़कर, [अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा] अर्थ और तत्त्वसे जानकर, [अर्थे स्थास्यति] उसके अर्थमें स्थित होगा, [सः] वह [उत्तमं सौख्यं भविष्यति] उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

यह समयप्राभृत पठन करके जान अर्थ रु तत्त्वसे।
ठहरे अरथमें जीव जो हो, सौख्य उत्तम परिणमे॥ ४१५॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णविज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृंभमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्दशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ।

(अनुष्टुभ्)

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।। २४६ ।।

टीका:—समयसारभूत भगवान परमात्माका—जो कि विश्वका प्रकाशक होनेसे विश्वसमय है उसका—प्रतिपादन करता है इसलिये जो स्वयं शब्दब्रह्मके समान है ऐसे इस शास्त्रको जो आत्मा भलीभाँति पढ़कर, विश्वको प्रकाशित करनेमें समर्थ ऐसे परमार्थभूत, चैतन्य-प्रकाशरूप आत्माका निश्चय करता हुआ (इस शास्त्रको) अर्थसे और तत्त्वसे जानकर, उसीके अर्थभूत भगवान एक पूर्णविज्ञानघन परमब्रह्ममें सर्व उद्यमसे स्थित होगा, वह आत्मा, साक्षात् तत्क्षण प्रगट होनेवाले एक चैतन्यरससे परिपूर्ण स्वभावमें सुस्थित और निराकुल (-आकुलता विना का) होनेसे जो (सौख्य) 'परमानन्द' शब्दसे वाच्य है, उत्तम है और अनाकुलता-लक्षणयुक्त है ऐसा सौख्यस्वरूप स्वयं ही हो जायेगा ।

भावार्थ:—इस शास्त्रका नाम समयप्राभृत है। समयका अर्थ है पदार्थ अथवा समय अर्थात् आत्मा। उसका कहनेवाला यह शास्त्र है। और आत्मा तो समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है। ऐसे विश्वप्रकाशक आत्माको कहता हुआ होनेसे यह समयप्राभृत शब्दब्रह्मके समान है; क्योंकि जो समस्त पदार्थोंका कहनेवाला होता है उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। द्वादशांगशास्त्र शब्दब्रह्म है और इस समयप्राभृतशास्त्रको भी शब्दब्रह्मकी उपमा दी गई है। यह शब्दब्रह्म (अर्थात् समयप्राभृतशास्त्र) परब्रह्मको (अर्थात् शुद्ध परमात्माको) साक्षात् दिखाता है। जो इस शास्त्रको पढ़कर उसके यथार्थ अर्थमें स्थित होगा, वह परब्रह्मको प्राप्त करेगा; और उससे जिसे 'परमानन्द' कहा जाता है ऐसे उत्तम, स्वात्मिक, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी सुखको प्राप्त करेगा। इसलिये हे भव्य जीवों! तुम अपने कल्याणके लिये इसका अभ्यास करो, इसका श्रवण करो, निरन्तर इसीका स्मरण और ध्यान करो, कि जिससे अविनाशी सुखकी प्राप्ति हो। ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है।

अब इस सर्वविशुद्धज्ञानके अधिकारकी पूर्णताका कलशरूप श्लोक कहते हैं:—

अर्थ:—इसप्रकार यह आत्माका तत्त्व (अर्थात् परमार्थभूत स्वरूप) ज्ञानमात्र

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां
विशुद्धज्ञानप्ररूपकः नवमोंकः ॥

*　　　*　　　*

निश्चित हुआ—कि जो (आत्माका) ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है (अर्थात् अनेक और प्रतिपक्षी कर्मोंसे यद्यपि खंड खंड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्रमें खंड है (अर्थात् अखण्ड होनेसे एकरूप है), अचल है (अर्थात् ज्ञानरूपसे चलित नहीं ज्ञेयरूप नहीं होता), स्वसंवेद्य है (अर्थात् अपनेसे ही ज्ञात होने योग्य है), और है (अर्थात् किसी मिथ्या युक्तिसे बाधा नहीं पाता)।

भावार्थः—यहाँ आत्माका निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है इसका कारण यह आत्मामें अनन्त धर्म हैं, किन्तु उनमें कितने ही तो साधारण हैं, इसलिये वे उनसे आत्माको पहिचाना नहीं जा सकता; और कुछ (धर्म) पर्यायाश्रित होते हैं और किसी अवस्थामें नहीं होते, इसलिये वे अव्याप्तियुक्त हैं, उनसे भी आत्मा पहिचाना जा सकता। चेतनता यद्यपि आत्माका (अतिव्याप्ति और अव्याप्ति रहित) लक्षण है तथापि वह शक्तिमात्र है, अदृष्ट है; उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान है। उस दर्शन और ज्ञानमें भी ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभवगोचर है; इसलिये उसके द्वारा ही आत्मा पहिचाना जा सकता है। इसलिये यहाँ इस ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका तत्त्व कहा है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'आत्माको ज्ञानमात्र तत्त्ववाला कहा है इसलिये इतना ही परमार्थ है और अन्य धर्म मिथ्या हैं, वे आत्मामें नहीं हैं;' ऐसा सर्वथा एकान्त ग्रहण करनेसे तो मिथ्यादृष्टित्व आ जाता है, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंका और वेदान्तियोंका मत आ जाता है, इसलिये ऐसा एकान्त बाधासहित है। ऐसे एकान्त अभिप्रायसे कोई मुनिव्रत भी पाले और आत्माका—ज्ञानमात्रका—ध्यान भी करे, तो भी मिथ्यात्व नहीं कट सकता; मन्द कषायोंके कारण भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जाये किन्तु मोक्षका साधन तो नहीं होता। इसलिये स्याद्वादसे यथार्थ समझना चाहिये। २४६।

(सवैया)

सरवविशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द करता न भोगता न परद्रव्यभावको,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभावको;
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदीव ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगावको,
कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भावको।

इसप्रकार श्री समयसारकी (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीकामें सर्वविशुद्धज्ञानका प्ररूपक नवमाँ अधिकार समाप्त हुआ।

*　　　*　　　*　　　*

(अनुष्टुभ्)

अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते ॥ २४७ ॥

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु

(यहाँतक भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यकी ४१५ गाथाओंका विवेचन टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने किया है, और उस विवेचनमें कलशरूप तथा सूचनिकारूपसे २४६ काव्य कहे हैं। अब टीकाकार आचार्यदेव विचारते हैं कि—इस ग्रन्थमें ज्ञानको प्रधान करके आत्माको ज्ञानमात्र कहते आये हैं, इसलिये कोई यह तर्क करे कि-'जैनमत तो स्याद्वाद है; तब क्या आत्माको ज्ञानमात्र कहनेसे एकान्त नहीं हो जाता ? अर्थात् स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता ? और एक ही ज्ञानमें उपायतत्त्व तथा उपेयतत्त्व—दोनों कैसे घटित होते हैं' ऐसे तर्कका निराकरण करनेके लिये टीकाकार आचार्यदेव यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारके अन्तमें **परिशिष्टरूपसे** कुछ कहते हैं। उसमें प्रथम श्लोक इसप्रकार है:—

अर्थः—यहाँ स्याद्वादकी शुद्धिके लिये वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था और (एक ही ज्ञानमें उपाय—उपेयत्व कैसे घटित होता है, यह बतानेके लिये) उपाय-उपेयभावका जरा फिरसे विचार करते हैं।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेक-धर्मस्वरूप होनेसे वह स्याद्वादसे ही सिद्ध किया जा सकता है। इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धता (प्रमाणिकता, सत्यता, निर्दोषता, निर्मलता, अद्वितीयता) सिद्ध करनेके लिये इस परिशिष्टमें वस्तुस्वरूपका विचार किया जाता है। (इसमें यह भी बताया जायेगा कि इस शास्त्रमें आत्माको ज्ञानमात्र कहा है फिर भी स्याद्वादके साथ विरोध नहीं आता।) और दूसरे, एक ही ज्ञानमें साधकत्व तथा साध्यत्व कैसे बन सकता है यह समझानेके लिये ज्ञानका उपाय-उपेयभाव अर्थात् साधक-साध्यभाव भी इस परिशिष्टमें विचार किया जावेगा। २४७।

(अब प्रथम आचार्यदेव वस्तुस्वरूपके विचार द्वारा स्याद्वादको सिद्ध करते हैं:—)

स्याद्वाद समस्त वस्तुओंके स्वरूपको सिद्ध करनेवाला, अर्हत् सर्वज्ञका एक अस्खलित (-निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सब अनेकान्तात्मक है' इसप्रकार उपदेश करता है, क्योंकि समस्त वस्तु अनेकान्त-स्वभाववाली है। ('सर्व वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं' इसप्रकार जो स्याद्वाद कहता है सो वह असत्यार्थ कल्पनासे नहीं कहता, परन्तु जैसा वस्तुका अनेकान्त स्वभाव है वैसा ही कहता है।)

यहाँ आत्मा नामक वस्तुको ज्ञानमात्रतासे उपदेश करनेपर भी स्याद्वादका कोप नहीं है; क्योंकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है। वहाँ (अनेकान्तका ऐसा

सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि
वस्तुनो ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः,
स्वयमेवानेकांतत्वात् । तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं,
यदेव नित्यं
मनेकांतः । तत्स्वात्मवस्तुनो
बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्,
मुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्,
यैरनेकत्वात्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात्,
भावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्,

स्वरूप है कि), जो (वस्तु) तत् है वही अतत् है, जो (वस्तु) एक है
है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है—इसप्रकार एक वस्तुमें वस्तुत्वकी
परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना अनेकान्त है । इसलिये अपनी आत्मवस्तुको भी,
ज्ञानमात्रता होने पर भी, तत्त्व-अतत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व-असत्त्व, और नित्यत्व-
अनित्यत्त्वपना प्रकाशता ही है; क्योंकि—उसके (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) अंतरंगमें चकचकित
प्रकाशते ज्ञानस्वरूपके द्वारा तत्पना है, और बाहर प्रगट होते, अनन्त, ज्ञेयत्वको प्राप्त, स्वरूपसे
भिन्न ऐसे पररूपके द्वारा (-ज्ञानस्वरूपसे भिन्न ऐसे परद्रव्यके रूप द्वारा-) अतत्पना है
(अर्थात् ज्ञान उस-रूप नहीं है), सहभूत (-साथ ही) प्रवर्तमान और क्रमशः प्रवर्तमान
अनन्त चैतन्य-अंशोंके समुदायरूप अविभाग द्रव्यके द्वारा एकत्व है, और अविभाग एक द्रव्यमें
व्याप्त, सहभूत प्रवर्तमान तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य-अंशरूप (-चैतन्यके अनन्त
अंशोंरूप) पर्यायोंके द्वारा अनेकत्व है; अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपसे होनेकी शक्तिरूप जो
स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा (अर्थात् ऐसे स्वभाववाली होनेसे) सत्त्व है, और परके
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप न होनेकी शक्तिरूप जो स्वभाव है उस स्वभाववानपनेके द्वारा असत्त्व
है; अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूपसे परिणतपनेके द्वारा नित्यत्व है, और क्रमशः प्रवर्तमान,
एक समयकी मर्यादावाले अनेक वृत्ति-अंशोंरूपसे परिणतपनेके द्वारा अनित्यत्व है । (इसप्रकार
ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको भी, तत्-अतत्पना इत्यादि दो–दो विरुद्ध शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित
होती हैं, इसलिये अनेकान्त स्वयमेव प्रकाशित होता है ।)

(प्रश्न—) यदि आत्मवस्तुको, ज्ञानमात्रता होने पर भी, स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता
है, तब फिर अर्हन्त भगवान उसके साधनके रूपमें अनेकान्तका (-स्याद्वादका) उपदेश क्यों
देते हैं ?

स्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वाच्चदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव । ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः ? अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः । न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्र-मात्मवस्त्वेव प्रसिध्यति । तथा हि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरविश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूप-प्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव । तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनात् ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी भूत्वा नाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्न-नेकांत एव तमुद्गमयति १ । यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं स्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति, तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं

(उत्तर—) अज्ञानियोंके ज्ञानमात्र आत्मवस्तुकी प्रसिद्धि करनेके लिये उपदेश देते हैं ऐसा हम कहते हैं । वास्तवमें अनेकान्त (–स्याद्वाद) के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती । इसीको इसप्रकार समझाते हैं:—

स्वभावसे ही बहुतसे भावोंसे भरे हुए इस विश्वमें सर्व भावोंका स्वभावसे अद्वैत होने पर भी, द्वैतका निषेध करना अशक्य होनेसे समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवृत्ति और पररूपसे व्यावृत्तिके द्वारा दोनों भावोंसे अध्यासित है (अर्थात् समस्त वस्तु स्वरूपमें प्रवर्तमान होनेसे और पररूपसे भिन्न रहनेसे प्रत्येक वस्तुमें दोनों भाव रह रहे हैं) । वहाँ, जब यह ज्ञानमात्र भाव (-आत्मा), शेष (बाकीके) भावोंके साथ निज रसके भारसे प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेयके सम्बन्धके कारण और अनादि कालसे ज्ञेयोंके परिणमनके कारण ज्ञानतत्त्वको पर रूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूपसे अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाशको प्राप्त होता है, तब (उसे ज्ञानमात्र भावका) स्व-रूपसे (-ज्ञानरूपसे) तत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूपसे ही है ऐसा प्रगट करके), ज्ञातारूपसे परिणमनके कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही (-स्याद्वाद ही) उसका उद्धार करता है—नाश नहीं होने देता । १ ।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'वास्तवमें यह सब आत्मा है' इसप्रकार अज्ञानतत्त्वको स्व-रूपसे (ज्ञानरूपसे) मानकर—अंगीकार करके विश्वके ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (–सर्व जगतको निजरूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत्से भिन्न ऐसे अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) पररूपसे अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप

ज्ञानं दर्शयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति २। यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति, तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनात् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ७। यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्र-

---

नहीं है यह प्रगट करके) विश्वसे भिन्न ज्ञानको दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (-ज्ञानमात्र भावका) नाश नहीं करने देता। २।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनेक ज्ञेयाकारोंके द्वारा (-ज्ञेयोंके आकारों द्वारा) अपना सकल (-अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञान-आकार खण्डित (-खंड खंडरूप) हुआ मानकर नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) द्रव्यसे एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है—नष्ट नहीं होने देता। ३।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव एक ज्ञान-आकारका ग्रहण करनेके लिये अनेक ज्ञेयाकारोंके त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञानमें जो अनेक ज्ञेयोंके आकार आते हैं उनका त्याग करके अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) पर्यायोंसे अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। ४।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जाननेमें आनेवाले ऐसे परद्रव्योंके परिणमनके कारण ज्ञातृद्रव्यको परद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्वद्रव्यसे सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता। ५

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व द्रव्य मैं ही हूँ (अर्थात् सर्व द्रव्य आत्मा ही हैं)' इसप्रकार परद्रव्यको ज्ञातृद्रव्यरूपसे मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परद्रव्यसे असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (आत्मा परद्रव्यरूपसे नहीं है, इसप्रकार प्रगट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। ६।

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (-परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंके परिणमनके परक्षेत्रसे ज्ञानको सत् मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस

गतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति, तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति ८। यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ९। यदा त्वर्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १०। यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति, तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ११। यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति, तदा

ज्ञानमात्र भावका) स्वक्षेत्रसे अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता। ७।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्रमें होनेके लिए (-रहनेके लिए, परिणमनेके लिए), परक्षेत्रगत ज्ञेयोंके आकारोंके त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञानमें जो परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंका आकार आता है उनका त्याग करके) ज्ञानको तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्रमें रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयोंके आकाररूपसे परिणमन करनेका ज्ञानका स्वभाव होनेसे (उस ज्ञानमात्र भावका) परक्षेत्रसे नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। ८।

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालंबित पदार्थोंके विनाशकालमें (-पूर्वमें जिनका आलम्बन किया था ऐसे ज्ञेय पदार्थोंके विनाशके समय) ज्ञानको असत्व मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्वकालसे (-ज्ञानके कालसे) सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता। ९।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव पदार्थोंके आलम्बन कालमें ही (-मात्र ज्ञेय पदार्थोंको जानते समय ही) ज्ञानका सत्त्व मानकर— अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परकालसे (-ज्ञेयके कालसे) असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। १०।

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जाननेमें आते हुए परभावोंके परिणमनके कारण ज्ञायकभावको परभावरूपसे मानकर—अंगीकार करके नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) स्व-भावसे सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है— नष्ट नहीं होने देता। ११।

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्व भाव मैं ही हूँ' इसप्रकार परभावको ज्ञायकभाव-

परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १२। यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति, तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति १३। यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति, तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १४।

भवंति चात्र श्लोकाः—

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति।
यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥ २४८ ॥

रूपसे मानकर—अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) परभावसे असत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। १२।

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञानविशेषोंके द्वारा अपना नित्य ज्ञानसामान्य खण्डित हुआ मानकर नाशको प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका) ज्ञानसामान्यरूपसे नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता। १३।

और जब यह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञानसामान्यका ग्रहण करनेके लिये अनित्य ज्ञानविशेषोंके त्यागके द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञानके विशेषोंका त्याग करके अपनेको नष्ट करता है), तब (उस ज्ञानमात्र भावका) ज्ञानविशेषरूपसे अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता। १४।

(यहाँ तत्-अतत्‌के २ भंग, एक-अनेकके २ भंग, सत्-असत्‌के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे ८ भंग, और नित्य-अनित्यके २ भंग—इसप्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन चौदह भंगोंमें यह बताया है कि—एकान्तसे ज्ञानमात्र आत्माका अभाव होता है और अनेकान्तसे आत्मा जीवित रहता है, अर्थात्, एकान्तसे आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूपमें परिणमित नहीं होता, और अनेकान्तसे वह वास्तविक स्वरूपसे समझा जाता है, स्वरूपमें परिणमित होता है।)

यहाँ निम्न प्रकारसे (चौदह भंगोंके कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं—

(उनमेंसे पहले, प्रथम भंगका कलशरूप काव्य इसप्रकार है:—)

अर्थः—बाह्य पदार्थोंके द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी व्यक्ति (प्रगटता) को छोड़ देनेसे रिक्त (शून्य) हुआ, सम्पूर्णतया पररूपमें ही विश्रांत (अर्थात् पर रूपके ऊपर ही

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ २४९ ॥

आधार रखता हुआ) ऐसे पशुका ज्ञान (-पशुवत् एकान्तवादीका ज्ञान) नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादीका ज्ञान तो, 'जो तत् है वह स्वरूपसे तत् है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको—वस्तुको स्वरूपसे तत्पना है)' ऐसी मान्यताके कारण, अत्यन्त प्रगट हुए ज्ञानघनरूप स्वभावके भारसे, सम्पूर्ण उदित (-प्रगट) होता है।

भावार्थः—कोई सर्वथा एकान्तवादी तो यह मानता है कि—घटज्ञान घटके आधारसे ही होता है इसलिये ज्ञान सब प्रकारसे ज्ञेयों पर ही आधार रखता है। ऐसा माननेवाले एकान्तवादीके ज्ञानको तो ज्ञेय पी गये हैं, ज्ञान स्वयं कुछ नहीं रहा। स्याद्वादी ऐसा मानते हैं कि—ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्वको नहीं छोड़ता। ऐसी यथार्थ अनेकान्त समझके कारण स्याद्वादीको ज्ञान (अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा) प्रगट प्रकाशित होता है।

इसप्रकार स्वरूपसे तत्पनेका भंग कहा है। २४८।

(अब दूसरे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, 'विश्व ज्ञान है (अर्थात् सर्व ज्ञेयपदार्थ आत्मा हैं)' ऐसा विचार कर सबको (-समस्त विश्वको निजतत्त्वकी आशासे देखकर विश्वमय (-समस्त ज्ञेयपदार्थमय) होकर, पशुकी भाँति स्वच्छन्दतया चेष्टा करता है—प्रवृत्त होता है; और स्याद्वाददर्शी तो (-स्याद्वादका देखनेवाला तो), यह मानता है कि 'जो तत् है वह पररूपसे तत् नहीं है (अर्थात् प्रत्येक तत्त्वको स्वरूपसे तत्पना होने पर भी पररूपसे अतत्पना है)', इसलिये विश्वसे भिन्न ऐसे तथा विश्वसे (-विश्वके निमित्तसे) रचित होने पर भी विश्वरूप न होनेवाले ऐसे (अर्थात् समस्त ज्ञेय वस्तुओंके आकाररूप होने पर भी समस्त ज्ञेय वस्तुसे भिन्न ऐसा) अपने तत्त्वका स्पर्श—अनुभव करता है।

भावार्थः—एकान्तवादी यह मानता है कि—विश्व (-समस्त वस्तुएँ) ज्ञानरूप अर्थात् निजरूप है। इसप्रकार निजको और विश्वको अभिन्न मानकर, अपनेको विश्वमय मानकर, एकान्तवादी, पशुकी भाँति हेय-उपादेयके विवेकके बिना सर्वत्र स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है। स्याद्वादी तो यह मानता है कि—जो वस्तु अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है, वही वस्तु

(शार्दूलविक्रीडित)

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो

एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं

न्नेकं ज्ञानमबाधितानुभवनं ...

(शार्दूलविक्रीडित)

ज्ञेयाकारकलंकमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतःक्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥ २५१

परके स्वरूपसे अतत्स्वरूप है; इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे तत्स्वरूप है, स्वरूपसे अतत्स्वरूप है अर्थात् पर ज्ञेयोंके आकाररूप होने पर भी उनसे भिन्न है।

इसप्रकार पररूपसे अतत्पनेका भंग कहा है। २४६।

(अब तीसरे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, बाह्य पदार्थोंको (ज्ञानके) स्वभावकी अतिशयताके कारण, चारों ओर (सर्वत्र) प्रगट होनेवाले अनेक प्रकारके ज्ञेयाकारोंसे जिसकी शक्ति विशीर्ण (-छिन्न-भिन्न) हो गई है ऐसा होकर (अर्थात् अनेक ज्ञेयोंके आकारों ज्ञानमें ज्ञात होने पर ज्ञानकी शक्तिको छिन्नभिन्न-खंडखंडरूप—होगई मानकर) सम्पूर्णतया खण्ड-खण्डरूप होता हुआ (अर्थात् खंडखंडरूप—अनेकरूप—होता हुआ) नष्ट हो जाता है; और अनेकान्तका जानकार तो, सदा उदित (-प्रकाशमान) एकद्रव्यत्वके कारण भेदके भ्रमको नष्ट करता हुआ (अर्थात् ज्ञेयोंके भेदसे ज्ञानमें सर्वथा भेद पड़ जाता है ऐसे भ्रमको नाश करता हुआ), जो एक है (-सर्वथा अनेक नहीं है) और जिसका अनुभवन निर्बाध है ऐसे ज्ञानको देखता है—अनुभव करता है।

भावार्थः—ज्ञान है वह ज्ञेयोंके आकाररूप परिणमित होनेसे अनेक दिखाई देता है, इसलिये सर्वथा एकान्तवादी उस ज्ञानको सर्वथा अनेक—खण्डखण्डरूप—देखता हुआ ज्ञानमय ऐसा निजका नाश करता है; और स्याद्वादी तो ज्ञानको, ज्ञेयाकार होने पर भी, सदा उदयमान द्रव्यत्वके द्वारा एक देखता है।

इसप्रकार एकत्वका भंग कहा है। २५०।

(अब चौथे भंगका कलशरूप काव्य कहा जाता है:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, ज्ञेयाकाररूपी कलङ्कसे (अनेका-

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ।। २५२ ।।

कारूप) मलिन ऐसा चेतनमें प्रक्षालनकी कल्पना करता हुआ (अर्थात् चेतनकी अनेकाकाररूप मलिनताको धो डालनेकी कल्पना करता हुआ), एकाकार करनेकी इच्छासे ज्ञानको—यद्यपि वह ज्ञान अनेकाकाररूपसे प्रगट है तथापि—नहीं चाहता (अर्थात् ज्ञानको सर्वथा एकाकार मानकर ज्ञानका अभाव करता है); और अनेकान्तका जाननेवाला तो, पर्यायोंसे ज्ञानकी अनेकताको जानता (अनुभवता) हुआ, विचित्र होने पर भी अविचित्रताको प्राप्त (अर्थात् अनेकरूप होने पर भी एकरूप) ऐसे ज्ञानको स्वतःक्षालित (स्वयमेव धोया हुआ—शुद्ध) अनुभव करता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयाकाररूप (अनेकाकाररूप) ज्ञानको मलिन जानकर, उसे धोकर—उसमेंसे ज्ञेयाकारोंको दूर करके, ज्ञानको ज्ञेयाकारोंसे रहित एक-आकाररूप करनेको चाहता हुआ, ज्ञानका नाश करता है; और अनेकान्ती तो सत्यार्थ वस्तुस्वभावको जानता है, इसलिये ज्ञानका स्वरूपसे ही अनेकाकारपना मानता है ।

इसप्रकार अनेकत्वका भङ्ग कहा है । २५१ ।

(अब पाँचवें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, प्रत्यक्ष *आलिखित ऐसे प्रगट (-स्थूल) और स्थिर (-निश्चल) परद्रव्योंके अस्तित्वसे ठगाया हुआ, स्वद्रव्यको (-आत्मद्रव्यके अस्तित्वको) नहीं देखता होनेसे सम्पूर्णतया शून्य होता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो, आत्माको स्वद्रव्यरूपसे अस्तिपनेसे निपुणतया देखता है इसलिये तत्काल प्रगट होनेवाले विशुद्ध ज्ञानप्रकाशके द्वारा पूर्ण होता हुआ जीता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—एकान्ती बाह्य परद्रव्यको प्रत्यक्ष देखकर उसके अस्तित्वको मानता है, परन्तु अपने आत्मद्रव्यको इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं देखता इसलिये उसे शून्य मानकर आत्माका नाश करता है । स्याद्वादी तो ज्ञानरूपी तेजसे अपने आत्माका स्वद्रव्यसे अस्तित्व अवलोकन करता है इसलिये जीता है—अपना नाश नहीं करता ।

इसप्रकार स्वद्रव्य-अपेक्षासे अस्तित्वका (-सत्पनेका) भंग कहा है । २५२ ।

* आलिखित = आलेखन किया हुआ; चित्रित; स्पर्शित; ज्ञात ।

(शार्दूलविक्रीडित)

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥ २५३ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥ २५४ ॥

(अब छट्ठे भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, दुर्वासनासे (-कुनयकी वासनासे) वासित होता हुआ, आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, (परद्रव्योंमें) स्वद्रव्यके भ्रमसे परद्रव्योंमें विश्राम करता है; और स्याद्वादी तो, समस्त वस्तुओंमें परद्रव्यस्वरूपसे नास्तित्वको जानता हुआ, जिसकी शुद्धज्ञानमहिमा निर्मल है ऐसा वर्तता हुआ, स्वद्रव्यका ही आश्रय लेता है।

भावार्थः—एकान्तवादी आत्माको सर्वद्रव्यमय मानकर, आत्मामें जो परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्व है उसका लोप करता है; और स्याद्वादी तो समस्त पदार्थोंमें परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्व मानकर निज द्रव्यमें रमता है।

इसप्रकार परद्रव्यकी अपेक्षासे नास्तित्वका (-असत्पनेका) भंग कहा है। २५३।

(अब सातवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयपदार्थोंमें जो ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धरूप निश्चित व्यापार है उसमें प्रवर्तता हुआ, आत्माको सम्पूर्णतया बाहर (परक्षेत्रमें) पड़ता देखकर (-स्वक्षेत्रमे आत्माका अस्तित्व न मानकर) नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो, स्वक्षेत्रसे अस्तित्वके कारण जिसका वेग रुका हुआ है ऐसा होता हुआ (अर्थात् स्वक्षेत्रमें वर्तता हुआ), आत्मामें ही आकाररूप हुए ज्ञेयोंमें निश्चित व्यापारकी शक्तिवाला होकर, टिकता है—जीता है (-नाशको प्राप्त नहीं होता)।

भावार्थः—एकान्तवादी भिन्न क्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके कार्यमें प्रवृत्त होने पर आत्माको बाहर पड़ता ही मानकर, (स्वक्षेत्रसे अस्तित्व न मानकर), अपनेको नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, 'परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेयोंको जानता हुआ अपने क्षेत्रमें रहा

(शार्दूलविक्रीडित)

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ २५५ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।

हुआ आत्मा स्वक्षेत्रसे अस्तित्व धारण करता है' ऐसा मानता हुआ टिकता है—नाशको प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार स्वक्षेत्रसे अस्तित्वका भंग कहा है । २५४ ।

(अब आठवें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं :—)

अर्थः—पशु अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी अज्ञानी, स्वक्षेत्रमें रहनेके लिये भिन्न-भिन्न परक्षेत्रोंमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंको छोड़नेसे, ज्ञेय पदार्थोंके साथ चैतन्यके आकारोंका भी वमन करता हुआ (अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे चैतन्यमें जो आकार होता है उनको भी छोड़ता हुआ) तुच्छ होकर नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपना नास्तित्व जानता हुआ, (परक्षेत्रमें रहे हुए) ज्ञेय पदार्थोंको छोड़ता हुआ भी वह पर पदार्थोंमेंसे चैतन्यके आकारोंको खींचता है (अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके निमित्तसे होनेवाले चैतन्यके आकारोंको नहीं छोड़ता) इसलिये तुच्छताको प्राप्त नहीं होता ।

भावार्थः—'परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंके आकाररूप चैतन्यके आकार होते हैं उन्हें यदि मैं अपना बनाऊँगा तो स्वक्षेत्रमें ही रहनेके स्थान पर परक्षेत्रमें भी व्याप्त हो जाऊँगा, ऐसा मानकर अज्ञानी एकान्तवादी परक्षेत्रमें रहे हुए ज्ञेय पदार्थोंके साथ ही साथ चैतन्यके आकारोंको भी छोड़ देता है; इसप्रकार स्वयं चैतन्यके आकारोंसे रहित तुच्छ होता है, नाशको प्राप्त होता है । और स्याद्वादी तो स्वक्षेत्रमें रहता हुआ, परक्षेत्रमें अपने नास्तित्वको जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थोंको छोड़कर भी चैतन्यके आकारोंको नहीं छोड़ता; इसलिये वह तुच्छ नहीं होता, नष्ट नहीं होता ।

इसप्रकार परक्षेत्रकी अपेक्षासे नास्तित्वका भङ्ग कहा है । २५५ ।

(अब नवमें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, पूर्वालंबित ज्ञेय पदार्थोंके नाशके समय ज्ञानका भी नाश जानता हुआ, और इसप्रकार ज्ञानको कुछ भी (वस्तु) न जानता आ (अर्थात्

अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥ २५६ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ॥ २५७ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः ।

ज्ञानवस्तुका अस्तित्व ही न मानता हुआ), अत्यन्त तुच्छ होता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादका ज्ञाता तो आत्माका निज कालसे अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य वस्तुयें बारम्बार होकर नाशको प्राप्त होती हैं, फिर भी स्वयं पूर्ण रहता है ।

भावार्थः—पहले जिन ज्ञेय पदार्थोंको जाने थे वे उत्तर कालमें नष्ट हो गये; उन्हें देखकर एकान्तवादी अपने ज्ञानका भी नाश मानकर अज्ञानी होता हुआ आत्माका नाश करता है । और स्याद्वादी तो, ज्ञेय पदार्थोंके नष्ट होने पर भी, अपना अस्तित्व अपने कालसे ही मानता हुआ नष्ट नहीं होता ।

इसप्रकार स्वकालकी अपेक्षासे अस्तित्वका भङ्ग कहा है । २५६ ।

(अब दसवें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञेय पदार्थोंके आलम्बन कालमें ही ज्ञानका अस्तित्व जानता हुआ, बाह्य ज्ञेयोंके आलम्बनकी लालसावाले चित्तसे (बाहर) भ्रमण करता हुआ नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादका ज्ञाता तो परकालसे आत्माका नास्तित्व जानता हुआ, आत्मामें दृढ़तया रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानके एक पुंजरूप वर्तता हुआ टिकता है—नष्ट नहीं होता ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आलम्बनकालमें ही ज्ञानके सत्वको जानता है, इसलिये ज्ञेयोंके आलम्बनमें मनको लगाकर बाहर भ्रमण करता हुआ नष्ट हो जाता है । स्याद्वादी तो पर ज्ञेयोंके कालसे अपने नास्तित्वको जानता है, अपने ही कालसे अपने अस्तित्वको जानता है, इसलिये ज्ञेयोंसे भिन्न ऐसा ज्ञानके पुंजरूप वर्तता हुआ नाशको प्राप्त नहीं होता ।

इसप्रकार परकालकी अपेक्षासे नास्तित्वका भङ्ग कहा है । २५७ ।

(अब ग्यारहवें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, परभावोंके भवन (अस्तित्व-परिणमन)

सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥ २५८ ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥ २५९ ॥

को ही जानता है (अर्थात् परभावोंसे ही अपना अस्तित्व मानता है,) इसलिये सदा बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ, (अपने) स्वभावकी महिमामें अत्यन्त निश्चेतन (जड़) वर्तता हुआ, नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो (अपने) नियत स्वभावके भवनस्वरूप (-परिणमनस्वरूप) ज्ञानके कारण सब (परभावों)से भिन्न वर्तता हुआ, जिसने सहज स्वभावका प्रतीतिरूप ज्ञातृत्व स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अनुभवरूप किया है ऐसा होता हुआ, नाशको प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः—एकान्तवादी परभावोंसे ही अपना सत्त्व मानता है, इसलिये बाह्य वस्तुओंमें विश्राम करता हुआ आत्माका नाश करता है; और स्याद्वादी तो, ज्ञानभाव ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानभावका स्वभावसे अस्तित्व जानता हुआ, आत्माका नाश नहीं करता।

इसप्रकार स्व-भावकी (अपने भावकी) अपेक्षासे अस्तित्वका भङ्ग कहा है। २५८।

(अब बारहवें भङ्गका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् अज्ञानी, एकान्तवादी सर्व भावरूप भवनका आत्मामें अध्यास करके (अर्थात् आत्मा सर्व ज्ञेयपदार्थोंके भावरूप है, ऐसा मानकर) शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ, किसी परभावको शेष रखे बिना सर्व परभावोंमें स्वच्छन्दतापूर्वक निर्भयतासे (निःशंकतया) क्रीड़ा करता है; और स्याद्वादी तो अपने स्वभावमें अत्यन्त आरूढ़ होता हुआ, परभावरूप भवनके अभावकी दृष्टिके कारण (अर्थात् आत्मा परद्रव्योंके भावोंरूपसे नहीं है— ऐसा जानता होनेसे) निष्कंप वर्तता हुआ, शुद्ध ही विराजित रहता है।

भावार्थः—एकान्तवादी सर्व परभावोंको निजरूप जानकर अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत होता हुआ सर्वत्र (सर्व परभावोंमें) स्वेच्छाचारितासे निःशंकतया प्रवृत्त होता है; और स्याद्वादी तो, परभावोंको जानता हुआ भी, अपने शुद्ध ज्ञानस्वभावको सर्व परभावोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ शोभित होता है।

इसप्रकार परभावकी अपेक्षासे नास्तित्वका भङ्ग कहा है। २५९।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिम ज्ञानं भवन् जीवति ॥ २६० ॥

(शार्दूलविक्रीडित)

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥ २६१ ॥

(अब तेरहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, उत्पाद-व्ययसे लक्षित ऐसे बहते (-परिणमित होते) हुए ज्ञानके अंशरूप अनेकात्मकत्वके द्वारा ही (आत्माका) निर्णय अर्थात् ज्ञान करता हुआ, *क्षणभंगके संगमें पड़ा हुआ, बहुलतासे नाशको प्राप्त होता है; और स्याद्वादी तो चैतन्यात्मकताके द्वारा चैतन्यवस्तुको नित्य-उदित अनुभव करता हुआ, टंकोत्कीर्णघनस्वभाव (-टंकोत्कीर्ण पिंडरूप स्वभाव) जिसकी महिमा है ऐसे ज्ञानरूप वर्तता हुआ, जीता है ।

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञेयोंके आकारानुसार ज्ञानको उत्पन्न और नष्ट होता हुआ देखकर, अनित्य पर्यायोंके द्वारा आत्माको सर्वथा अनित्य मानता हुआ, अपनेको नष्ट करता है; और स्याद्वादी तो, यद्यपि ज्ञान ज्ञेयानुसार उत्पन्न-विनष्ट होता है फिर भी, चैतन्यभावका नित्य उदय अनुभव करता हुआ जीता है—नाशको प्राप्त नहीं होता।

इसप्रकार नित्यत्वका भंग कहा है । २६० ।

(अब चौदहवें भंगका कलशरूप काव्य कहते हैं:—)

अर्थः—पशु अर्थात् एकान्तवादी अज्ञानी, टंकोत्कीर्ण विशुद्ध ज्ञानके विस्ताररूप एक-आकार (सर्वथा नित्य) आत्मतत्त्वकी आशासे, उछलती हुई निर्मल चैतन्य परिणतिसे भिन्न कुछ (आत्मतत्त्वको) चाहता है (किन्तु ऐसा कोई आत्मतत्त्व है नहीं); और स्याद्वादी तो, चैतन्यवस्तुकी वृत्तिके (-परिणतिके, पर्यायके) क्रम द्वारा उसकी अनित्यताका अनुभव करता हुआ, नित्य ऐसे ज्ञानको अनित्यतासे व्याप्त होने पर भी उज्ज्वल (-निर्मल) मानता है—अनुभव करता है ।

---

* क्षणभंग = क्षण-क्षणमें होता हुआ नाश; क्षणभंगुरता; अनित्यता ।

(अनुष्टुभ्)

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥ २६२ ॥

(अनुष्टुभ्)

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥ २६३ ॥

भावार्थः—एकान्तवादी ज्ञानको सर्वथा एकाकार—नित्य प्राप्त करनेकी वांछासे, उत्पन्न होनेवाली और नाश होनेवाली चैतन्यपरिणतिसे पृथक् कुछ ज्ञानको चाहता है; परन्तु परिणामके अतिरिक्त कोई पृथक् परिणामी तो नहीं होता। स्याद्वादी तो यह मानता है कि—यद्यपि द्रव्यापेक्षासे ज्ञान नित्य है तथापि क्रमशः उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली चैतन्य-परिणतिके क्रमके कारण ज्ञान अनित्य भी है; ऐसा ही वस्तुस्वभाव है।

इसप्रकार अनित्यत्वका भंग कहा गया। २६१।

'पूर्वोक्त प्रकारसे अनेकांत, अज्ञानसे मूढ़ हुए जीवोंको ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व प्रसिद्ध कर देता है—समझा देता है' इस अर्थका काव्य कहा जाता है:—

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद अज्ञानमूढ़ प्राणियोंको ज्ञानमात्र आत्म-तत्त्व प्रसिद्ध करता हुआ स्वयमेव अनुभवमें आता है।

भावार्थः—ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अनेकान्तमय है। परन्तु अनादि कालसे प्राणी अपने आप अथवा एकान्तवादका उपदेश सुनकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व संबंधी अनेक प्रकारसे पक्षपात करके ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका नाश करते हैं। उनको (अज्ञानी जीवोंको) स्याद्वाद ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका अनेकान्तस्वरूपपना प्रगट करता है—समझाता है। यदि अपने आत्माकी ओर दृष्टिपात करके—अनुभव करके देखा जाये तो (स्याद्वादके उपदेशानुसार) ज्ञानमात्र आत्मवस्तु अपने आप अनेक धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभवगोचर होती है। इसलिये हे प्रवीण पुरुषो! तुम ज्ञानको तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, एकस्वरूप, अनेकस्वरूप, अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे सत्स्वरूप, परके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप प्रत्यक्ष अनुभवगोचर करके प्रतीतिमें लाओ। यही सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा एकान्त मानना वह मिथ्याज्ञान है। २६२।

'पूर्वोक्त प्रकारसे वस्तुका स्वरूप अनेकान्तमय होनेसे अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद सिद्ध हुआ' इस अर्थका काव्य अब कहा जाता है:—

अर्थः—इसप्रकार अनेकान्त—कि जो जिनदेवका अलंघ्य (किसीसे तोड़ा न जाय ऐसा) शासन है वह—वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी व्यवस्थिति (व्यवस्था) द्वारा स्वयं अपने आपको स्थापित करता हुआ स्थित हुआ—निश्चित हुआ—सिद्ध हुआ।

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षण-प्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थम् । आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं, तदसाधारणगुणत्वात् । तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः । ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम् । नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः । ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञाना-त्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात् । तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः । प्रसिद्धं हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्; तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्य-मानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा । ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या

भावार्थः—अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, वस्तुस्वरूपको यथावत् स्थापित करता हुआ, स्वतः सिद्ध हो गया । यह अनेकान्त ही निर्बाध जिनमत है और यथार्थ वस्तुस्थितिको कहनेवाला है । कहीं किसीने असत् कल्पनासे वचनमात्र प्रलाप नहीं किया है । इसलिये हे निपुण पुरुषो ! भलीभाँति विचार करके प्रत्यक्ष अनुमान-प्रमाणसे अनुभव कर देखो । २६३ ।

(यहाँ आचार्यदेव अनेकान्तके सम्बन्धमें विशेष चर्चा करते हैं:—)

(प्रश्नः—) आत्मा अनेकान्तमय है फिर भी उसका ज्ञानमात्रतासे क्यों व्यपदेश (-कथन; नाम) किया जाता है ? (यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मयुक्त है तथापि उसे ज्ञानमात्ररूपसे क्यों कहा जाता है ? ज्ञानमात्र कहनेसे तो अन्यधर्मोंका निषेध समझा जाता है ।)

(उत्तरः—) लक्षणकी प्रसिद्धिके द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि करनेके लिये आत्माका ज्ञानमात्ररूपसे व्यपदेश किया जाता है । आत्माका ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है (-अन्य द्रव्योंमें ज्ञानगुण नहीं है) । इसलिये ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उसके लक्ष्यकी—आत्माकी—प्रसिद्धि होती है ।

(प्रश्नः—) इस लक्षणकी प्रसिद्धिसे क्या प्रयोजन है ? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य अर्थात् प्रसिद्ध करनेयोग्य है । (इसलिये लक्षणको प्रसिद्ध किये बिना मात्र लक्ष्यको ही—आत्माको ही—प्रसिद्ध क्यों नहीं करते ?)

(उत्तरः—) जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे (-अर्थात् जो लक्षणको नहीं जानता ऐसे अज्ञानी जनको) लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती । जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसीको लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है । (इसलिये अज्ञानीको पहले लक्षण बतलाते हैं उसके बाद वह लक्ष्यको ग्रहण कर सकता है ।)

(प्रश्नः—) ऐसा कौनसा लक्ष्य है कि जो ज्ञानकी प्रसिद्धिके द्वारा उससे (-ज्ञानसे) भिन्न प्रसिद्ध होता है ?

क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः। ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वम्? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तयः उत्प्लवंते। आत्म-

(उत्तरः-) ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मामें द्रव्यपनेसे अभेद है।

(प्रश्नः-) तब फिर लक्षण और लक्ष्यका विभाग किसलिये किया गया है ?

(उत्तरः-) प्रसिद्धत्व और *प्रसाध्यमानत्वके कारण लक्षण और लक्ष्यका विभाग किया गया है। ज्ञान प्रसिद्ध है, क्योंकि ज्ञानमात्रको स्वसंवेदनसे सिद्धपना है (अर्थात् ज्ञान सर्व प्राणियोंको स्वसंवेदनरूप अनुभवमें आता है); वह प्रसिद्ध ऐसे ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान, तद्-अविनाभूत (-ज्ञानके साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्त धर्मोंका समुदायरूप मूर्ति आत्मा है। (ज्ञान प्रसिद्ध है; और ज्ञानके साथ जिनका अविनाभावी सम्बन्ध है ऐसे अनन्त धर्मोंका समुदायस्वरूप आत्मा उस ज्ञानके द्वारा प्रसाध्यमान है।) इसलिये ज्ञानमात्रमें अच-लितपनेसे स्थापित दृष्टिके द्वारा, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तद्-अविनाभूत (-ज्ञानके साथ अविनाभावी सम्बन्धवाला) अनन्तधर्मसमूह जो कुछ जितना लक्षित होता है, वह सब वास्तवमें एक आत्मा है।

इसी कारणसे यहाँ आत्माका ज्ञानमात्रतासे व्यपदेश है।

(प्रश्नः-) जिसमें क्रम और अक्रमसे प्रवर्तमान अनन्त धर्म हैं ऐसे आत्माके ज्ञानमात्रता किसप्रकार है ?

(उत्तरः-) परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूपसे स्वयं ही है, इसलिये (अर्थात् परस्पर भिन्न ऐसे अनन्त धर्मोंके समुदायरूपसे परिणमित जो एक जाननक्रिया है उस जाननक्रियामात्र भावरूपसे स्वयं ही है इसलिये) आत्माके ज्ञानमात्रता है। इसीलिये उसके ज्ञानमात्र एकभावकी अन्तःपातिनी (-ज्ञानमात्र एक भावके भीतर आ जानेवाली) अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं। (आत्माके जितने धर्म हैं उन सबको, लक्षणभेदसे भेद होने पर भी, प्रदेशभेद नहीं है; आत्माके एक परिणाममें सभी धर्मोंका परिणमन रहता है। इसलिये आत्माके एक ज्ञानमात्र भावके भीतर अनन्त शक्तियाँ रहती हैं। इसलिये ज्ञानमात्र भावमें—ज्ञानमात्र भावस्वरूप आत्मामें—अनन्त शक्तियाँ उछलती हैं।) उनमेंसे कितनी ही शक्तियाँ निम्नप्रकार हैं:—

आत्मद्रव्यके कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भावका धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप

* प्रसाध्यमान = जो प्रसिद्ध किया जाता हो। (ज्ञान प्रसिद्ध है और आत्मा प्रसाध्यमान है।)

द्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः १। २ । अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः ३ । साकारोपयोगमयी अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः ५ । स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः ६ । प्रतापस्वातंत्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः ७ । सर्वभावव्यापकैकभावरूपा ८। विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः ९। विश्वविश्वविशेषभावपरिणतात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः १० । नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः ११ । स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः १२ । क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिका असंकुचितविकासत्वशक्तिः १३। अन्याक्रियमाणाऽन्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः १४ । परात्म

है ऐसी जीवत्वशक्ति। (आत्मद्रव्यके कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावरूपी भावप्राणका धारण करना जिसका लक्षण है ऐसी जीवत्व नामक शक्ति ज्ञानमात्र भावमें—आत्मामें—उछलती है।) ।१। अजड़त्वस्वरूप चितिशक्ति (अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व जिसका स्वरूप है ऐसी चितिशक्ति।) ।२। अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति। (जिसमें ज्ञेयरूप आकार अर्थात् विशेष नहीं है ऐसे दर्शनोपयोगमयी—सत्तामात्र पदार्थमें उपयुक्त होनेरूप—दृशिशक्ति अर्थात् दर्शनक्रियारूप शक्ति।)।३। साकार उपयोगमयी ज्ञानशक्ति। (जो ज्ञेय पदार्थोंके विशेषरूप आकारोंमें उपयुक्त होती है ऐसी ज्ञानोपयोगमयी ज्ञानशक्ति।)।४। अनाकुलता जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी सुख शक्ति।५। स्वरूपकी (–आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति ।६। जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् किसीसे खण्डित की नहीं जा सकती ऐसे स्वातंत्र्यसे (–स्वाधीनतासे) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्वशक्ति ।७। सर्व भावोंमें व्यापक ऐसे एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे, ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है।)।८। समस्त विश्वके सामान्य भावको देखनेरूपसे (अर्थात् सर्व पदार्थोंके समूहरूप लोकालोकको सत्तामात्र ग्रहण करनेरूपसे) परिणमित ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति ।९। समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूपसे परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति।१०। अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अर्थात् अनेक-आकाररूप) ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति। (जैसे दर्पणकी स्वच्छत्वशक्तिसे उसकी पर्यायमें घटपटादि प्रकाशित होते हैं, उसीप्रकार आत्माकी स्वच्छत्वशक्तिसे उसके उपयोगमें लोकालोकके आकार प्रकाशित होते हैं।)।११। स्वयं प्रकाशमान विशद (–स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी (–स्वानुभवमयी) प्रकाशशक्ति।१२। क्षेत्र और कालसे अमर्यादित ऐसी चिद्विलास स्वरूप (–चैतन्यके विलासस्वरूप) असंकुचितविकासत्वशक्ति।१३। जो अन्यसे नहीं किया जाता और अन्यको नहीं करता ऐसे एक द्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्व-

निमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः १५ । अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः १६ । षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्वशक्तिः १७ । क्रमाक्रमवृत्तवृत्तित्वलक्षणा उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः १८ । द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः १९ । कर्मबंधव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः २० । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः २१ । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः २२ । सकल-

---

शक्ति। (जो अन्यका कार्य नहीं है और अन्यका कारण नहीं है ऐसा जो एक द्रव्य उस-स्वरूप अकार्यकारणत्व शक्ति।)।१४। पर और स्व जिनके निमित्त हैं ऐसे ज्ञेयाकारों तथा ज्ञानाकारोंको ग्रहण करनेके और ग्रहण करानेके स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति। (पर जिनके कारण हैं ऐसे ज्ञेयाकारोंको ग्रहण करनेके और स्व जिनका कारण है ऐसे ज्ञानाकारोंको ग्रहण करानेके स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकत्व शक्ति।)। १५। जो कमबढ़ नहीं होता ऐसे स्वरूपमें नियतत्वरूप (-निश्चिततया यथावत् रहनेरूप-) त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति ।१६। षट्स्थानपतित वृद्धिहानिरूपसे परिणमित, स्वरूप-प्रतिष्ठत्वका कारणरूप (-वस्तुके स्वरूपमें रहनेके कारणरूप) ऐसा जो विशिष्ट (-खास) गुण है उस-स्वरूप अगुरुलघुत्व शक्ति। [इस षट्स्थानपतित हानिवृद्धिका स्वरूप 'गोम्मटसार' ग्रंथसे जानना चाहिये। अविभाग प्रतिच्छेदोंकी संख्यारूप षट्स्थानोंमें पतित समाविष्ट-वस्तुस्वभावकी हानि-वृद्धि जिससे (-जिस गुणसे) होती है और जो (गुण) वस्तुको स्वरूपमें स्थिर होनेका कारण है ऐसा कोई गुण आत्मामें है; उसे अगुरुलघुत्वगुण कहा जाता है। ऐसी अगुरुलघुत्वशक्ति भी आत्मामें है।]। १७। क्रमवृत्तिरूप और अक्रमवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति। (क्रमवृत्तिरूप पर्याय उत्पादव्ययरूप है और अक्रमवृत्तिरूप गुण ध्रुवत्वरूप है।)। १८। द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पादसे आलिंगित (-स्पर्शित), सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति। १९। कर्मबन्धके अभावसे व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादिशून्य (-स्पर्श, रस, गंध और वर्णसे रहित) ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्वशक्ति। २०। समस्त, कर्मोंके द्वारा किये गये, ज्ञातृत्वमात्रसे भिन्न जो परिणाम उन परिणामोंके करणके *उपरमस्वरूप (उन परिणामोंको करनेकी निवृत्तिस्वरूप) अकर्तृत्वशक्ति। (जिस शक्तिसे आत्मा ज्ञातृत्वके अतिरिक्त, कर्मोंसे किये गये परिणामोंका

---

* उपरम = निवृत्ति; अन्त; अभाव।

कर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः २३। आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः २४। सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः २५। स्वपरसमानासमानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः २६। विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणा अनंतधर्मत्वशक्तिः २७। तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः २८। तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः २९। अतद्रूपभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः ३०। अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः ३१। एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः ३२। भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः ३३। शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः ३४। भवत्पर्याय-

---

कर्ता नहीं होता, ऐसी अकर्तृत्व नामक एक शक्ति आत्मामें है)। २१। समस्त, कर्मोंसे किये गये, ज्ञातृत्वमात्रसे भिन्न परिणामोंके अनुभवकी (-भोक्तृत्वकी) उपरमस्वरूप अभोक्तृत्वशक्ति। २२। समस्त कर्मोंके उपरमसे प्रवृत्त आत्मप्रदेशोंकी निस्पन्दतास्वरूप (-अकम्पतास्वरूप) निष्क्रियत्वशक्ति। (जब समस्त कर्मोंका अभाव हो जाता है तब प्रदेशोंका कम्पन मिट जाता है इसलिये निष्क्रियत्व शक्ति भी आत्मामें है।)। २३। जो अनादि संसारसे लेकर संकोच-विस्तारसे लक्षित है और जो चरम शरीरके परिमाणसे कुछ न्यून परिमाणसे अवस्थित होता है ऐसा लोकाकाशके माप जितना मापवाला आत्म-अवयवत्व जिसका लक्षण है ऐसी नियत-प्रदेशत्वशक्ति। (आत्माके लोक परिमाण असंख्य प्रदेश नियत ही हैं। वे प्रदेश संसार अवस्थामें संकोचविस्तारको प्राप्त होते हैं और मोक्ष-अवस्थामें चरम शरीरसे कुछ कम परिमाणसे स्थित रहते हैं।)। २४। सर्व शरीरोंमें एकस्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति। (शरीरके धर्मरूप न होकर अपने अपने धर्मोंमें व्यापनेरूप शक्ति सो स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति है।) २५। स्व-परके समान, असमान और समानासमान ऐसे तीन प्रकारके भावोंकी धारण-स्वरूप साधारण-असाधारण-साधारणासाधारणधर्मत्वशक्ति। २६। विलक्षण (-परस्पर भिन्न लक्षण-युक्त) अनन्त स्वभावोंसे भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्तधर्मत्वशक्ति। २७। तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्धधर्मत्वशक्ति। २८। तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप होनेरूप अथवा तत्स्वरूप परिणमनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति आत्मामें है। इस शक्तिसे चेतन चेतनरूपसे रहता है-परिणमित होता है।)। २९। अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति। (तत्स्वरूप नहीं होनेरूप अथवा तत्स्वरूप नहीं परिण-मनेरूप अतत्त्वशक्ति आत्मामें है। इस शक्तिसे चेतन जड़रूप नहीं होता।)। ३०। अनेक पर्यायोंमें व्यापक ऐसी एकद्रव्यमयतारूप एकत्व शक्ति। ३१। एक द्रव्यसे व्याप्य (-व्यापनेयोग्य) अनेक पर्यायमयपनारूप अनेकत्वशक्ति। ३२। विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक

व्ययरूपा भावाभावशक्तिः ३५ । अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः ३६ । भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः ३७ । अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावाभावशक्तिः ३८ । कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः ३९ । कारकानुगतभवत्ता-रूपभावमयी क्रियाशक्तिः ४० । प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः ४१ । भवत्ता-रूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः ४२ । भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करण-शक्तिः ४३ । स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी संप्रदानशक्तिः ४४ । उत्पादव्ययालिंगि-तभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः ४५ । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः ४६ । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः ४७ ।

(वसंततिलका)

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि
यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।

अवस्था जिसमें विद्यमान हो उसरूप भावशक्ति) । ३३ । शून्य (-अविद्यमान) अवस्थायुक्तता-रूप अभावशक्ति । (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उसरूप अभावशक्ति ।) । ३४ । प्रवर्तमान पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्ति । ३५ । अप्रवर्तमान पर्यायके उदयरूप अभावभाव-शक्ति । ३६ । प्रवर्तमान पर्यायके भवनरूप भावभावशक्ति । ३७ । अप्रवर्तमान पर्यायके अभवनरूप अभावाभाव शक्ति । ३८ । (कर्ता, कर्म आदि) कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (-होनेमात्रमयी) भाव शक्ति । ३९ । कारकोंके अनुसार परिणमित होनेरूप भावमयी क्रियाशक्ति) । ४० । प्राप्त किया जाता जो सिद्धरूप भाव है, उसमयी कर्म-शक्ति । ४१ । होनेरूप जो सिद्धरूप भाव, उसके भावकत्वमयी कर्तृत्वशक्ति । ४२ । प्रवर्तमान भावके भवनको (-होनेकी) साधकतमपनेमयी (-उत्कृष्ट साधकत्वमयी, उग्र साधनत्वमयी) करणशक्ति । ४३ । अपने द्वारा दिया जाता जो भाव उसके उपेयत्वमय (-उसे प्राप्त करनेके योग्यपनामय, उसे लेनेके पात्रपनामय) सम्प्रदानशक्ति । ४४ । उत्पादव्ययसे आलिंगित भावका अपाय (-हानि, नाश) होनेसे हानिको प्राप्त न होनेवाली ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति । ४५ । भाव्यमान (अर्थात् भावनेमें आता) भावोंकी आधारत्वमयी अधिकरणशक्ति ।४६। स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति । (अपना भाव अपना स्व है और स्वयं उसका स्वामी है ऐसी सम्बन्धमयी सम्बन्धशक्ति । ४७ ।

'इत्यादि अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्मा तथापि वह ज्ञानमात्रताको नहीं छोड़ता'— इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—इत्यादि (-पूर्वकथित ४७ शक्तियाँ इत्यादि) अनेक निज शक्तियोंसे भली-भाँति परिपूर्ण होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रमयताको नहीं छोड़ता, ऐसा वह, पूर्वोक्त प्रकारसे

इत्येवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं
तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥ २६४ ॥

(वसंततिलका)

नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो
ज्ञानीभवंति जिननीतिमलंघयन्तः ॥ २६५ ॥

अथास्योपायोपेयभावश्चिंत्यते—

आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव; तस्यैकस्यापि स्वयं

क्रमरूप और अक्रमरूपसे वर्तमान विवर्तसे (–रूपान्तरसे, परिणमनसे) अनेक प्रकारका, द्रव्यपर्यायमय चैतन्य (अर्थात् ऐसा वह चैतन्यभाव–आत्मा) इस लोकमें वस्तु है।

भावार्थ:—कोई यह समझ सकता है कि आत्माको ज्ञानमात्र कहा है इसलिये वह एकस्वरूप ही होगा। किन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुका स्वरूप द्रव्यपर्यायमय है। चैतन्य भी वस्तु है, द्रव्यपर्यायमय है। वह चैतन्य अर्थात् आत्मा अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है और क्रमरूप तथा अक्रमरूप अनेक प्रकारके परिणामोंके विकारोंके समूहरूप अनेकाकार होता है फिर भी ज्ञानको—जो कि असाधारणभाव है उसे—नहीं छोड़ता; उसकी समस्त अवस्थाएँ–परिणाम–पर्यायें ज्ञानमय ही हैं। २६४।

'इस अनेकस्वरूप—अनेकान्तमय—वस्तुको जो जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं, वे ज्ञानस्वरूप होते हैं'—इस आशयका, स्याद्वादका फल बतलानेवाला काव्य कहते हैं—

अर्थ:—ऐसी (अनेकान्तात्मक) वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थितिको अनेकान्त-संगत (–अनेकान्तके साथ सुसंगत, अनेकान्तके साथ मेलवाली) दृष्टिके द्वारा स्वयमेव देखते हुए, स्याद्वादकी अत्यन्त शुद्धिको जानकर, जिननीतिका (जिनेश्वरदेवके मार्गका) उल्लंघन न करते हुए, सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।

भावार्थ:—जो सत्पुरुष अनेकान्तके साथ सुसंगत दृष्टिके द्वारा अनेकान्तमय वस्तुस्थितिको देखते हैं, वे इसप्रकार स्याद्वादकी शुद्धिको प्राप्त करके—जान करके—जिनदेवके मार्गको—स्याद्वादन्यायको—उल्लंघन न करते हुए, ज्ञानस्वरूप होते हैं। २६५।

(इसप्रकार स्याद्वादके सम्बन्धमें कहकर, अब आचार्यदेव उपाय-उपेयभावके सम्बन्धमें कुछ कहते हैं:—)

साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात् । तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः । अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्षमकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति । एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारा*ल्लब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः । ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते

अब इसके (–ज्ञानमात्र आत्मवस्तुके) ×उपाय–उपेयभाव विचारा जाता है (अर्थात् आत्मवस्तु ज्ञानमात्र है फिर भी उसमें उपायत्व और उपेयत्व दोनों कैसे घटित होते हैं सो इसका विचार किया जाता है:—)

आत्मवस्तुको ज्ञानमात्रता होने पर भी उसे उपाय–उपेयभाव (उपाय–उपेयपना) है ही; क्योंकि वह एक होने पर भी ÷स्वयं साधकरूपसे और सिद्धरूपसे—दोनों प्रकारसे परिणमित होता है। उसमें जो साधक रूप है वह उपाय है और जो सिद्ध रूप है वह उपेय है। इसलिये, अनादि कालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र द्वारा (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र द्वारा) स्वरूपसे च्युत होनेके कारण संसारमें भ्रमण करते हुए, सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रके पाकके प्रकर्षकी परम्परासे क्रमशः स्वरूपमें आरोहण कराये जाते इस आत्माको, अन्तर्मग्न जो निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद हैं तद्रूपताके द्वारा स्वयं साधक रूपसे परिणमित होता हुआ, तथा परम प्रकर्षकी पराकाष्ठाको प्राप्त रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवर्तित जो सकल कर्मके क्षय उससे प्रज्वलित (–दैदीप्यमान) हुवे जो अस्खलित विमल स्वभावभावत्व द्वारा स्वयं सिद्धरूपसे परिणमता ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय–उपेयभावको सिद्ध करता है।

भावार्थः—यह आत्मा अनादि कालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रके कारण संसारमें भ्रमण करता है। वह सुनिश्चलतया ग्रहण किये गये व्यवहारसम्यक्दर्शनज्ञानचारित्रकी वृद्धिकी परम्परासे क्रमशः जबसे स्वरूपानुभव करता है तबसे ज्ञान साधक रूपसे परिणमित होता है, क्योंकि ज्ञानमें निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप भेद अन्तर्भूत हैं। निश्चयसम्यक्-

* यहाँ ल्ल के बदले ल होना चाहिये ऐसा लगता है।

× उपेय अर्थात् प्राप्तकरनेयोग्य, और उपाय अर्थात् प्राप्तकरनेयोग्य जिसके द्वारा प्राप्त किया जावे। आत्माका शुद्ध (सर्व कर्म रहित) स्वरूप अथवा मोक्ष उपेय है, और मोक्षमार्ग उपाय है।

÷ आत्मा परिणामी है और साधकत्व तथा सिद्धत्व ये दोनों परिणाम हैं।

स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवंति । ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव ।

(वसंततिलका)

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां
भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।

दर्शनज्ञानचारित्रके प्रारम्भसे लेकर स्वरूपानुभवकी वृद्धि करते करते जबतक निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्रकी पूर्णता न हो, तबतक ज्ञानका साधक रूपसे परिणमन है। जब निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी पूर्णतासे समस्त कर्मोंका नाश होता है अर्थात् साक्षात् मोक्ष होता है तब ज्ञान सिद्ध रूपसे परिणमित होता है, क्योंकि उसका अस्खलित निर्मल स्वभावभाव प्रगट देदीप्यमान हुआ है। इसप्रकार साधक रूपसे और सिद्ध रूपसे—दोनों रूपसे परिणमित होता हुआ एक ही ज्ञान आत्मवस्तुकी उपाय-उपेयताको साधित करता है।)

इसप्रकार दोनोंमें (-उपाय तथा उपेयमें-) ज्ञानमात्रकी अनन्यता है अर्थात् अन्यपना नहीं है; इसलिये सदा अस्खलित एक वस्तुका (-ज्ञानमात्र आत्मवस्तुका-) निष्कम्प ग्रहण करनेसे, मुमुक्षुओंको, कि जिन्हें अनादि संसारसे भूमिकाकी प्राप्ति न हुई हो उन्हें भी, तत्क्षण ही भूमिकाकी प्राप्ति होती है; फिर उसीमें नित्य मस्ती करते हुए (-लीन रहते हुए) वे मुमुक्षु—जो कि स्वतः ही, क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक अन्तकी (अनेक धर्मकी) मूर्तियाँ हैं वे—साधकभावसे उत्पन्न होनेवाली परम प्रकर्षकी ÷कोटिरूप सिद्धभावके भाजन होते हैं। परन्तु जिसमें अनेक अन्त अर्थात् धर्म गर्भित हैं ऐसे एक ज्ञानमात्र भावरूप इस भूमिको जो प्राप्त नहीं करते, वे सदा अज्ञानी रहते हुए, ज्ञानमात्र भावका स्वरूपसे अभवन और पररूपसे भवन देखते (-श्रद्धा करते) हुए, जानते हुए तथा आचरण करते हुए, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री होते हुए, उपाय-उपेयभावसे अत्यन्त भ्रष्ट होते हुए संसारमें परिभ्रमण ही करते हैं।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष, किसी भी प्रकारसे जिनका मोह दूर हो गया है ऐसा होता हुआ, ज्ञानमात्र निजभावमय अकम्प भूमिकाका (अर्थात् ज्ञानमात्र जो अपना भाव उस-मय निश्चल भूमिकाका) आश्रय लेते हैं, वे साधकत्वको प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो मूढ

÷ कोटि=अन्तिमता; उत्कृष्टता; ऊँचेमें ऊँचे बिन्दु; हद।

ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ।। २६६ ।।

(वसंततिलका)

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ।। २६७ ।।

(-मोही, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि) हैं, वे इस भूमिकाको प्राप्त न करके संसारमें परिभ्रमण करते हैं।

भावार्थः—जो भव्य पुरुष, गुरुके उपदेशसे अथवा स्वयमेव काललब्धिको प्राप्त करके मिथ्यात्वसे रहित होकर, ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको प्राप्त करते हैं, उसका आश्रय लेते हैं, वे साधक होते हुए सिद्ध हो जाते हैं; परन्तु जो ज्ञानमात्र-निजको प्राप्त नहीं करते, वे संसारमें परिभ्रमण करते हैं । २६६ ।

इस भूमिकाका आश्रय करनेवाला जीव कैसा होता है सो अब कहते हैं:—

अर्थः—जो पुरुष स्याद्वादमें प्रवीणता तथा (रागादिक अशुद्ध परिणतिके त्यागरूप) सुनिश्चल संयम—इन दोनोंके द्वारा अपनेमें उपयुक्त रहता हुआ (अर्थात् अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें उपयोगको लगाता हुआ) प्रतिदिन अपनेको भाता है (-निरन्तर अपने आत्माकी भावना करता है), वही एक (पुरुष), ज्ञाननय और क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्रीका पात्ररूप होता हुआ, इस (ज्ञानमात्र निजभावमय) भूमिकाका आश्रय करता है ।

भावार्थः—जो ज्ञाननयको ही ग्रहण करके क्रियानयको छोड़ता है, उस प्रमादी और स्वच्छन्दी पुरुषको इस भूमिकाकी प्राप्ति नहीं हुई है । जो क्रियानयको ही ग्रहण करके ज्ञाननयको नहीं जानता, उस (व्रत-समिति-गुप्तिरूप) शुभ कर्मसे संतुष्ट पुरुषको भी इस निष्कर्म भूमिकाकी प्राप्ति नहीं हुई है । जो पुरुष अनेकान्तमय आत्माको जानता है (-अनुभव करता है) तथा सुनिश्चल संयममें प्रवृत्त है (-रागादिक अशुद्ध परिणतिका त्याग करता है), और इसप्रकार जिसने ज्ञाननय तथा क्रियानयकी परस्पर तीव्र मैत्री सिद्ध की है, वही पुरुष इस ज्ञानमात्र निजभावमय भूमिकाका आश्रय करनेवाला है ।

ज्ञाननय और क्रियानयके ग्रहण-त्यागका स्वरूप तथा फल 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थके अंतमें कहा है, वहाँ से जानना चाहिये । २६७ ।

इसप्रकार जो पुरुष इस भूमिकाका आश्रय लेता है, वही अनन्त चतुष्टयमय आत्माको प्राप्त करता है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

(वसंततिलका)

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः
शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥

(वसंततिलका)

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥

अर्थः—(पूर्वोक्त प्रकारसे जो पुरुष इस भूमिकाका आश्रय लेता है) उसीके, चैतन्यपिंडके निरर्गल विलसित विकासरूप जिसका खिलना है (अर्थात् चैतन्यपुंजका अत्यन्त विकास होना ही जिसका खिलना है), शुद्ध प्रकाशकी अतिशयताके कारण जो सुप्रभातके समान है, आनन्दमें सुस्थित ऐसा जिसका सदा अस्खलित एक रूप है और जिसकी ज्योति अचल है ऐसा यह आत्मा उदयको प्राप्त होता है।

भावार्थः—यहाँ 'चित्पिंड' इत्यादि विशेषणोंसे अनन्त दर्शनका प्रगट होना, 'शुद्धप्रकाश' इत्यादि विशेषणसे अनन्त ज्ञानका प्रगट होना, आनन्दसुस्थित इत्यादि विशेषणसे अनन्त सुखका प्रगट होना और 'अचलार्चि' विशेषणसे अनन्त वीर्यका प्रगट होना बताया है। पूर्वोक्त भूमिका आश्रय लेनेसे ही ऐसे आत्माका उदय होता है । २६८ ।

अब, यह कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमें प्रगट हो:—

अर्थः—स्याद्वादके द्वारा प्रदीप्त किया गया लहलहाट करता (-चकचकित) जिसका तेज है और जिसमें शुद्धस्वभावरूप महिमा है ऐसा यह प्रकाश (ज्ञानप्रकाश) जहाँ मुझमें उदयको प्राप्त हुआ है वहाँ बन्ध-मोक्षके मार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या प्रयोजन है ? मुझे तो यह नित्य उदित रहनेवाला केवल यह (अनन्त चतुष्टयरूप) स्वभाव ही स्फुरायमान हो।

भावार्थः—स्याद्वादसे यथार्थ आत्मज्ञान होनेके बाद उसका फल पूर्ण आत्माका प्रगट होना है। इसलिये मोक्षका इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि—मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा मेरे प्रगट हो, बन्धमोक्षमार्गमें पड़नेवाले अन्य भावोंसे मुझे क्या काम है ? । २६९ ।

'यद्यपि नयोंके द्वारा आत्मा साधित होता है तथापि यदि नयों पर ही दृष्टि रहे तो नयोंमें तो परस्पर विरोध भी है, इसलिये मैं नयोंका विरोध मिटाकर आत्माका अनुभव करता हूँ'—इस अर्थका काव्य कहते हैं।

(वसंततिलका)

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः ।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेक-
मेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ।। २७० ।।

न द्रव्येण खंडयामि, न क्षेत्रेण खंडयामि, न कालेन खंडयामि, न भावेन खंडयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि ।

अर्थः—अनेक प्रकारकी निज शक्तियोंका समुदायमय यह आत्मा नयोंकी दृष्टिसे खंड-खण्डरूप किये जाने पर तत्काल नाशको प्राप्त होता है; इसलिये मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि-जिसमेंसे खण्डोंको *निराकृत नहीं किया गया है तथापि जो अखण्ड है, एक है, एकान्त शान्त है (अर्थात् जिसमें कर्मोदयका लेशमात्र भी नहीं है, ऐसा अत्यन्त शान्त भावमय है) और अचल है (अर्थात्-कर्मोदयसे चलाया नहीं चलता) ऐसा चैतन्यमात्र तेज मैं हूँ ।

भावार्थः—आत्मामें अनेक शक्तियाँ हैं, और एक एक शक्तिका ग्राहक एक एक नय है; इसलिये यदि नयोंकी एकान्त दृष्टिसे देखा जाये तो आत्माका खण्ड खण्ड होकर उसका नाश हो जाये । ऐसा होनेसे स्याद्वादी, नयोंका विरोध दूर करके चैतन्यमात्र वस्तुको अनेकशक्तिसमूह-रूप, सामान्यविशेषरूप सर्वशक्तिमय एकज्ञानमात्र अनुभव करता है । ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है, इसमें कोई विरोध नहीं है । २७० ।

अब, ज्ञानी अखण्ड आत्माका ऐसा अनुभव करता है इसप्रकार आचार्यदेव गद्यमें कहते हैं:—

(ज्ञानी शुद्धनयका आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि-) मैं अपनेको अर्थात् मेरे शुद्धात्मस्वरूपको न तो द्रव्यसे खण्डित करता हूँ, न क्षेत्रसे खण्डित करता हूँ, न कालसे खण्डित करता हूँ और न भावसे खण्डित करता हूँ, सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ ।

भावार्थः—यदि शुद्धनयसे देखा जाये तो शुद्ध चैतन्यमात्र भावमें द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता । इसलिये ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभवमें भेद नहीं करता ।

ज्ञानमात्र भाव स्वयं ही ज्ञान है, स्वयं ही अपना ज्ञेय है और स्वयं ही अपना ज्ञाता है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—जो यह ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ वह ज्ञेयोंका ज्ञानमात्र ही नहीं जानना चाहिये;

---

* निराकृत = बहिष्कृत; दूर; रदबातल; नाकबूल ।

(शालिनी)

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ २७१ ॥

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ २७२ ॥

(परन्तु) ज्ञेयोंके आकारसे होनेवाले ज्ञानकी कल्लोलोंके रूपमें परिणमित होता हुआ वह, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातामय वस्तुमात्र जानना चाहिये । (अर्थात् स्वयं ही ज्ञान, स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता-इसप्रकार ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातारूप तीनों भावयुक्त वस्तुमात्र जानना चाहिये) ।

भावार्थः—ज्ञानमात्र भाव ज्ञातृक्रियारूप होनेसे ज्ञानस्वरूप है । और वह स्वयं ही निम्न प्रकारसे ज्ञेयरूप है । बाह्य ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है, वे ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं होते; ज्ञेयोंके आकारकी झलक ज्ञानमें पड़ने पर ज्ञान ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है परन्तु वे ज्ञानकी ही तरंगें हैं । वे ज्ञान तरंगें ही ज्ञानके द्वारा ज्ञात होती हैं । इसप्रकार स्वयं ही स्वतः जानने योग्य होनेसे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञेयरूप है, और स्वयं ही अपना जाननेवाला होनेसे ज्ञानमात्र भाव ही ज्ञाता है । इसप्रकार ज्ञानमात्र भाव ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता-इन तीनों भावोंसे युक्त सामान्य-विशेषस्वरूप वस्तु है । 'ऐसा ज्ञानमात्र भाव मैं हूँ' इसप्रकार अनुभव करनेवाला पुरुष अनुभव करता है । २७१ ।

आत्मा मेचक, अमेचक इत्यादि अनेक प्रकारसे दिखाई देता है तथापि यथार्थ ज्ञानी निर्मल ज्ञानको नहीं भूलता—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थ —(ज्ञानी कहता है:—) मेरे तत्त्वका ऐसा स्वभाव ही है कि कभी तो वह (आत्मतत्त्व) मेचक (–अनेकाकार, अशुद्ध) दिखाई देता है, कभी मेचक-अमेचक (दोनों-रूप) दिखाई देता है, और कभी अमेचक (–एकाकार, शुद्ध) दिखाई देता है, तथापि परस्पर सुसंहत (–सुमिलित, सुग्रथित) प्रगट शक्तियोंके समूहरूपसे स्फुरायमान वह आत्मतत्त्व निर्मल बुद्धिवालोंके मनको विमोहित (–भ्रमित) नहीं करता ।

भावार्थः—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियोंवाला होनेसे किसी अवस्थामें कर्मोदयके निमित्तसे अनेकाकार अनुभवमें आता है, किसी अवस्थामें [illegible] है

(पृथ्वी)

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ २७३ ॥

(पृथ्वी)

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।

और किसी अवस्थामें शुद्धाशुद्ध अनुभवमें आता है; तथापि यथार्थ ज्ञानी स्याद्वादके बलके कारण भ्रमित नहीं होता, जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्रसे च्युत नहीं होता। २७२।

आत्माका अनेकान्तस्वरूप (-अनेक धर्मस्वरूप) वैभव अद्भुत (आश्चर्यकारक) है—इस अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—अहो! आत्माका तो यह सहज अद्भुत वैभव है कि—एक ओरसे देखनेपर वह अनेकताको प्राप्त है और एक ओरसे देखने पर सदा एकताको धारण करता है, एक ओरसें देखने पर क्षणभंगुर है और एक ओरसे देखने पर सदा उसका उदय होनेसे ध्रुव है, एक ओरसे देखने पर परम विस्तृत है और एक ओरसे देखने पर अपने प्रदेशोंसे ही धारण कर रखा हुआ है।

भावार्थः—पर्यायदृष्टिसे देखने पर आत्मा अनेकरूप दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टिसे देखने पर एकरूप; क्रमभावी पर्यायदृष्टिसे देखने पर क्षणभंगुर दिखाई देता है और सहभावी गुणदृष्टिसे देखने पर ध्रुव; ज्ञानकी अपेक्षावाली सर्वगतदृष्टिसे देखने पर परम विस्तारको प्राप्त दिखाई देता है और प्रदेशोंकी अपेक्षावाली दृष्टिसे देखने पर अपने प्रदेशोंमें ही व्याप्त दिखाई देता है। ऐसा द्रव्यपर्यायात्मक अनन्तधर्मवाला वस्तुका स्वभाव है। वह (स्वभाव) अज्ञानियोंके ज्ञानमें आश्चर्य उत्पन्न करता है कि यह तो असम्भवसी बात है! यद्यपि ज्ञानियोंको वस्तु-स्वभावमें आश्चर्य नहीं होता, फिर भी उन्हें कभी नहीं हुआ ऐसा अभूतपूर्व-अद्भुत परमानंद होता है, और इसलिये आश्चर्य भी होता है। २७३।

पुनः इसी अर्थका काव्य कहते हैं:—

अर्थः—एक ओरसे देखने पर कषायोंका क्लेश दिखाई देता है और एक ओरसे देखने पर शान्ति (-कषायोंका अभावरूप शान्त भाव) है; एक ओरसे देखने पर भवकी (-सांसारिक) पीड़ा दिखाई देती है और एक ओरसे देखने पर (संसारकी अभावरूप) मुक्ति भी स्पर्श करती है; एक ओरसे देखने पर तीनों लोक स्फुरायमान होते हैं (-प्रकाशित होता है,

जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥ २७४ ॥

(मालिनी)

जयति सहजतेजःपुंजमज्जत्त्रिलोकी-
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ २७५ ॥

दिखाई देता है) और एक ओरसे देखने पर केवल एक चैतन्य ही शोभित होता है। (ऐसी) आत्माकी अद्भुतसे भी अद्भुत स्वभावमहिमा जयवन्त वर्तती है (अर्थात् किसीसे बाधित नहीं होती)।

भावार्थः—यहाँ भी २७३ वें श्लोकके भावार्थानुसार ही जानना चाहिये। आत्माका अनेकान्तमय स्वभाव सुनकर अन्यवादियोंको भारी आश्चर्य होता है। उन्हें इस बातमें विरोध भासित होता है। वे ऐसे अनेकान्तमय स्वभावकी बातको अपने चित्तमें न तो समाविष्ट कर सकते हैं और न सहन ही कर सकते हैं। यदि कदाचित् उन्हें श्रद्धा हो तो प्रथम अवस्थामें उन्हें भारी अद्भुतता मालूम होती है कि—'अहो! यह जिनवचन महा उपकारी हैं, वस्तुके यथार्थ स्वरूपको बतानेवाले हैं; मैंने अनादिकाल ऐसे यथार्थ स्वरूपके ज्ञान बिना ही व्यतीत कर दिया है।'—वे इसप्रकार आश्चर्यपूर्वक श्रद्धान करते हैं। २७४।

अब टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मङ्गलके अर्थ इस चित्चमत्कारको ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं।

अर्थः—सहज (-निज स्वभावरूप) तेजःपुंजमें त्रिलोकके पदार्थ मग्न हो जाते हैं इसलिये जिसमें अनेक भेद होते हुये दिखाई देते हैं तथापि जिसका एक ही स्वरूप है (अर्थात् केवलज्ञानमें सर्व पदार्थ झलकते हैं इसलिये जो अनेक ज्ञेयाकाररूप दिखाई देता है तथापि जो चैतन्यरूप ज्ञानाकारकी दृष्टिमें एकस्वरूप ही है), जिसमें निजरसके विस्तारसे पूर्ण अच्छिन्न तत्त्वोपलब्धि है, अर्थात् प्रतिपक्षी कर्मका अभाव हो जानेसे जिसमें स्वरूपानुभवका अभाव नहीं होता) और जिसकी ज्योति अत्यन्त नियमित है (अर्थात् जो अनन्तवीर्यसे निष्कम्प रहता है) ऐसा यह (प्रत्यक्ष अनुभवगोचर) चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है (अर्थात् किसीसे बाधित नहीं किया जा सकता ऐसा सर्वोत्कृष्टरूपसे विद्यमान है)।

(यहाँ 'चैतन्यचमत्कार जयवन्त वर्तता है' इस कथनमें जो चैतन्यचमत्कारका सर्वोत्कृष्टतया होना बताया है, वही मङ्गल है)। २७५।

अब इस श्लोकमें टीकाकार आचार्यदेव अन्तिम मङ्गलके लिये आत्माको आशीर्वाद देते हैं और साथ ही अपना नाम भी प्रगट करते हैं:—

(मालिनी)

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥ २७६ ॥

अर्थः—जो अचल-चेतनास्वरूप आत्मामें आत्माको अपने आप ही निरन्तर निमग्न रखती है (अर्थात् प्राप्त किये गये स्वभावको कभी नहीं छोड़ती), जिसने मोहका (–अज्ञानांधकारका) नाश किया है, जिसका स्वभाव निःसपत्न (–प्रतिपक्षी कर्मोंसे रहित) है, जो निर्मल है और जो पूर्ण है; ऐसी यह उदयको प्राप्त अमृतचन्द्रज्योति (–अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति, ज्ञान, आत्मा) सर्वतः जाज्वल्यमान रहो ।

भावार्थः—जिसका न तो मरण (नाश) होता है और न जिससे दूसरेका नाश होता है वह अमृत है; और जो अत्यन्त स्वादिष्ट होता है उसे लोग रूढ़िसे अमृत कहते हैं। यहाँ ज्ञानको—आत्माको—अमृतचन्द्रज्योति (–अमृतमय चन्द्रमाके समान ज्योति) कहा है, जो कि लुप्तोपमालंकार है; क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योतिः' का समास करने पर 'वत्' का लोप होकर 'अमृतचन्द्रज्योतिः' होता है ।

(यदि 'वत्' शब्द न रखकर 'अमृतचन्द्ररूप ज्योति' अर्थ किया जाय तो भेदरूपक अलङ्कार होता है। और 'अमृतचन्द्र ज्योति' ही आत्माका नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलंकार होता है।)

आत्माको अमृतमय चन्द्रमाके समान कहने पर भी, यहाँ कहे गये विशेषणोंके द्वारा आत्माका चन्द्रमाके साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि–'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकारका दूर होना बतलाता है,–'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्न-स्वभाव' विशेषण राहुबिम्बसे तथा बादल आदिसे आच्छादित न होना बतलाता है, और 'समंतात् ज्वलतु' सर्व क्षेत्र और सर्वकालमें प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है।

इस श्लोकमें टीकाकार आचार्यदेवने अपना 'अमृतचन्द्र' नाम भी बताया है। समास बदलकर अर्थ करनेसे 'अमृतचन्द्र' के और 'अमृतचन्द्रज्योति' के अनेक अर्थ होते हैं; जो कि यथासंभव जानने चाहिये । २७६ ।

अब श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव दो श्लोक कहकर इस समयसारग्रन्थकी आत्मख्याति नामक टीका समाप्त करते हैं।

(शार्दूलविक्रीडित)

यस्माद् द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित्किल ॥ २७७ ॥

'अज्ञानदशामें आत्मा स्वरूपको भूलकर रागद्वेषमें प्रवृत्त होता था, परद्रव्यकी क्रियाका कर्ता बनता था; क्रियाके फलका भोक्ता होता था,–इत्यादि भाव करता था; किन्तु अब ज्ञानदशामें वे भाव कुछ भी नहीं हैं ऐसा अनुभव किया जाता है।'—इसी अर्थका प्रथम श्लोक कहते हैं:—

अर्थः—जिससे (अर्थात् जिस परसंयोगरूप बन्धपर्यायजनित अज्ञानसे) प्रथम अपना और परका द्वैत हुआ (अर्थात् स्वपरके मिश्रिपनारूप भाव हुआ), द्वैतभाव होनेसे जिससे स्वरूपमें अन्तर पड़ गया (अर्थात् बंधपर्याय ही निजरूप ज्ञात हुई), स्वरूपमें अन्तर पड़नेसे रागद्वेषका ग्रहण हुआ, रागद्वेषका ग्रहण होनेसे, क्रियाके कारक उत्पन्न हुये (अर्थात् क्रिया और कर्ता-कर्मादि कारकोंका भेद पड़ गया), कारक उत्पन्न होनेसे, अनुभूति, क्रियाके समस्त फलको भोगती हुई खिन्न होगई, वह अज्ञान अब विज्ञानघनसमूहमें मग्न हुआ (अर्थात् ज्ञानरूपमें परिणमित हुआ) इसलिये अब वह सब वास्तवमें कुछ भी नहीं है।

भावार्थ.—परसंयोगसे ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, अज्ञान कहीं पृथक् वस्तु नहीं था, इसलिये अब वह जहाँ ज्ञानरूप परिणमित हुआ कि वहाँ वह (अज्ञान) कुछ भी नहीं रहा। अज्ञानके निमित्तसे राग, द्वेष, क्रियाके कर्तृत्व, क्रियाके फलका (–सुख-दुःखका) भोक्तृत्व आदि भाव हुये थे वे भी विलीन हो गये हैं; एकमात्र ज्ञान ही रह गया है। इसलिये अब आत्मा स्व-परके त्रिकालवर्ती भावोंको ज्ञाता-दृष्टा होकर देखते ही रहो। २७७।

'पूर्वोक्त प्रकारसे ज्ञानदशामें परकी क्रिया अपनी भासित न होनेसे, इस समयसारकी व्याख्या करनेकी क्रिया भी मेरी नहीं है, शब्दों की है'—इस अर्थका तथा समयसारकी व्याख्या करनेकी अभिमानरूप कषायके त्यागका सूचक श्लोक अब कहते हैं:—

अर्थः—जिनने अपनी शक्तिसे वस्तुतत्त्व (–यथार्थस्वरूप) को भली भाँति कहा है ऐसे शब्दोंने इस समयकी व्याख्या (–आत्मवस्तुका विवेचन अथवा समयप्राभृतशास्त्रकी टीका) की है; स्वरूपगुप्त (–अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूपमें मग्न) अमृतचन्द्रसूरिका (इसमें) कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है।

भावार्थः—शब्द तो पुद्गल हैं। वे पुद्गलके निमित्तसे वर्ण-पद-वाक्यरूपसे परिणमित होते हैं; इसलिये उनमें वस्तुस्वरूपको कहनेकी शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्दका और अर्थका

(उपजाति)

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्व-
व्यांख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥ २७८ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता ॥

वाच्यवाचक सम्बन्ध है । इसप्रकार द्रव्यश्रुतकी रचना शब्दोंने की है यही बात यथार्थ है । आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानस्वरूप है, इसलिये वह मूर्तिक पुद्गलकी रचना कैसे कर सकता है ? इसीलिये आचार्यदेवने कहा है कि 'इस समयप्राभृतकी टीका शब्दोंने की है, मैं तो स्वरूपमें लीन हूँ, उसमें (–टीका करनेमें) मेरा कोई कर्तव्य (कार्य) नहीं है ।' यह कथन आचार्यदेवकी निरभिमानताको भी सूचित करता है । अब यदि निमित्तनैमित्तिक व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है कि अमुक पुरुषने यह अमुक कार्य किया है । इस न्यायसे यह आत्मख्याति नामक टीका भी अमृतचन्द्राचार्यकृत है ही । इसलिये पढ़ने–सुननेवालोंको उनका उपकार मानना भी युक्त है । क्योंकि इसके पढ़ने–सुननेसे पारमार्थिक आत्माका स्वरूप ज्ञात होता है, उसका श्रद्धान तथा आचरण होता है, मिथ्या ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण दूर होता है और परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है मुमुक्षुओंको इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये । २७८ ।

इसप्रकार श्री समयसार शास्त्रकी (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्यातिनामक टीका समाप्त हुई ।

* * * *

(अब पण्डित जयचन्द्रजी भी भाषा टीका पूर्ण करते हुये कहते हैं :—)

(सवैया)

कुन्दकुन्दमुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृतसमय शुद्ध आतम दिखावनूं,
सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीका वर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं;
देशकी वचनिकामें लिखि जयचन्द्र पढ़ै संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञानरूप गहौ चिदानन्द दरसावनूं ॥१॥

* दोहा *

समयसार अविकारका, वर्णन कर्ण सुनन्त;
द्रव्य-भाव-नोकर्म तजि, आतमतत्त्व लखन्त ॥२॥

इसप्रकार इस समयप्राभृत (अथवा समयसार) नामक शास्त्रकी आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीकाकी देशभाषामय वचनिका लिखी है । इसमें संस्कृत टीकाका अर्थ लिखा है और

अति संक्षिप्त भावार्थ लिखा है, विस्तार नहीं किया है।

हैं। यदि उनका विस्तार किया जाय तो

उपनय और निगमन पूर्वक—स्पष्टतासे व्याख्या करनेसे ग्रन्थ बहुत बढ़ जाय।

बुद्धि, बल और स्थिरताकी अल्पताके कारण, जितना बन सका है उतना, संक्षेपसे

लिखा है। इसे पढ़कर भव्यजन पदार्थको समझना। किसी अर्थमें

उन मूल ग्रन्थानुसार यथार्थ समझ लेना। इस ग्रन्थके गुरु-सम्प्रदायका

उपदेशका) व्युच्छेद होगया है, इसलिये जितना हो सके उतना

सकता है। तथापि जो स्याद्वादमय जिनमतकी आज्ञा मानते हैं, उन्हें विपरीत

होता। यदि कहीं अर्थको अन्यथा समझना भी हो जाय तो विशेष

पर वह यथार्थ हो जाता है। जिनमतके श्रद्धालु हठग्राही नहीं होते।

अब अन्तिम मङ्गलके लिये पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करके ग्रन्थको

मङ्गल श्री अरहन्त घातिया कर्म निवारे,
मङ्गल सिद्ध महन्त कर्म आठों परजारे,
आचारज उवझाय मुनी मङ्गलमय सारे,
दीक्षा शिक्षा देय भव्यजीवनिकूं तारे,
अठवीस मूलगुण धार जे सर्वसाधु अनगार हैं,
मैं नमूं पंचगुरुचरणकूं मङ्गल हेतु करार हैं ॥१॥

जैपुर नगरमांहि तेरापंथ शैली बड़ी
बड़े बड़े गुनी जहां पढ़ैं ग्रन्थ सार है,
जयचन्द्र नाम मैं हूं तिनिमें अभ्यास किछू
कियो बुद्धिसारू धर्मरागतैं विचार है,
समयसार ग्रन्थ ताकी देशके वचनरूप
भाषा करी पढ़ो सुनौ करो निरधार है,
आपापर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय
गहो शुद्ध आतमकूं, यहै बात सार है ॥२॥

दोहा—संवत्सर विक्रम तणूं, अष्टादश शत और।
चौसठि कार्तिक वदि दशैं, पूरण ग्रन्थ सुठौर ॥३॥

• • •

इसप्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयप्राभृत नामक प्राकृतगाथाबद्ध परमागमकी श्रीमदमृतचन्द्राचार्यविरचित आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका अनुसार पंडित जयचन्द्रजी कृत संक्षेपभावार्थमात्र देशभाषामय वचनिकाके आधारसे श्रीहिम्मतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवादका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

• सम्पूर्ण •

—❀ श्रीसमयसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची ❀—

—※ कलशकाव्योंकी वर्णानुक्रम सूची ※—

★

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	ला०	अशुद्धि	शुद्धि
६	२०	व्यवच्छंद	व्यवच्छेद
१८	२२	पी जाता है	पी गया है
२६	६	दशितप्रति	दर्शितप्रति
२६	२४	मतका प्रवर्तीना करना	मतको प्रवर्तीना
२७	१६	प्राप्त	प्राप्ति
३३	२६	एकवार	एकाकार
४४	अन्तिम	अभेद ष्टि	गुण-गुणीकी अभेद दृष्टिमें
५८	१६	अज्ञनी	अज्ञानी
७६	१८	के कारण	के भेदके कारण
८३	१६	अशयय	आशय
८७	१३	अनारि	अनादि
६६	अन्तिम	सौख्यये	सौख्यसे
१०७	१६	पथंत	पर्यंत
१४८	२२	(होता)	(होते)
१५८	१६	जीव हैं	जीव ही हैं
१७२	२०	होता ;	होता है;
१८१	२२	तब	और
२२३	२२	स्तवमें	वास्तवमें
२५३	१५	पुरषार्थ	पुरुषार्थ
२६६	२३	ज्ञानीके	ज्ञानीको
२६८	११	द्वेषोमह	द्वेषमोह
३०१	२२	वैराग्य	वैराग्यका
३१८	१५	प्रात	प्राप्त
३३१	१४	"	"
३१८	१८	(वह अपने को	(वह सुख अपने को
३६२	६	(उस	(उन
३८८	१०	एवं	एष
४६६	१५	स्वरूप होना	स्वरूप ही होना
५१६	५	भ्चश्चेतयि	भ्यश्चेतयि
५६७	१३	हुवी	×
५६७	१७	करते वे	करते हैं वे
५८१	अन्तिम	आ	हुआ
५६३	१	परिणामि	परिणामि
६०२	६	मिश्रि	मिश्रित